ॐ

शुद्धचिद्रूपोऽहं

भट्टारकश्री ज्ञानभूषण-विरचिता

तत्त्वज्ञान-तरङ्गिणी

अनुवादक

स्व० पण्डित गजाधरलालजी, न्यायतीर्थ

अन्वयार्थ, पद्यानुवाद एवं सम्पादन

बाल ब्रह्मचारिणी कल्पना जैन, सागर

एम. ए., शास्त्री

प्रकाशन सहयोग

शांतिनाथ अजित जैन परिवार, बड़ौदा, पूना

द्वारा - कश्यप, लेखा जैन

प्रकाशक

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम आवृत्ति - 2000 प्रतियाँ

[तीर्थधाम मङ्गलायतन के दसवें स्थापना दिवस 'मङ्गलायतन अमृत महामहोत्सव' दिनांक 31.01.2013 से 06.02.2013 के पावन अवसर पर]

ISBN No.

न्यौछावार राशि - 50.00 रुपये

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
   तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   Email - info@mangalayatan.com

2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056
   फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com

3. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015 (राज.) फोन : (0141) 2707458
4. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,** कहाननगर, लाम रोड, देवलाली-422401,
   फोन : (0253) 2491044
5. **श्री परमागम प्रकाशन समिति,** श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
6. **रत्नत्रय तीर्थ ध्रुवधाम,** पोस्ट-कूपड़ा, जिला-बाँसवाडा (राज.)
7. **तीर्थधाम सिद्धायतन,** पोस्ट-द्रोणागिर, जिला-छतरपुर (म.प्र.)
8. **आत्मसाधना केन्द्र, आत्मार्थी ट्रस्ट,** रोहतक रोड, घेवरा मोड, दिल्ली-110041

मुद्रक :

प्रकाशकीय

भट्टारकश्री ज्ञानभूषणजी द्वारा रचित 'तत्त्वज्ञान-तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, और उसे प्राप्त करने के लिए विपरीताभिनिवेशरहित-तत्त्वज्ञानहेतुक निजात्मज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जो इस 'तत्त्वज्ञान-तरङ्गिणी' पुस्तक में दर्शाया गया है। इस युग में क्रियाकाण्ड विमूढ़ जैनजगत को सम्यग्दर्शन का महत्त्व व उसका उपाय समझ में आया हो तो उसका सब श्रेय परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को है; उनके ही पुनीत प्रताप से मुमुक्षु जगत में सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धचिद्रूप की चर्चा प्रवृत्त हुई है।

इस ग्रन्थ पर भी पूज्य गुरुदेवश्री ने माङ्गलिक प्रवचन किये हैं, जिनके कुछ अंश सद्गुरु प्रवचन प्रसाद (हस्तलिखित दैनिक) में उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत नवीन सम्पादित संस्करण में प्रत्येक गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ और उपोद्घात पहली बार दिया जा रहा है। ये तीनों कार्य बाल ब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन ने सम्पन्न किये हैं, साथ ही इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रूफ रीडिंग कार्य भी आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है। ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ की समग्र विषय-वस्तु का परिचय, प्रस्तावना में दिया गया होने से यहाँ उस सम्बन्ध में कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है, विज्ञ पाठक, प्रस्तावना पढ़कर अपनी जिज्ञासा शान्त करें - ऐसा विनम्र अनुरोध है। जिनवाणी प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावना के लिए हम आदरणीय बहिन का आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव 'तत्त्वज्ञान-तरङ्गिणी' में समाहित 'शुद्धचिद्रूप' का स्वरूप समझकर, अपना आत्मकल्याण करें - इसी भावना के साथ।

पवन जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

मनोगत

श्री आदिनाथ विद्या-निकेतन मंगलायतन अलीगढ़ में अध्यापनार्थ प्रवास-काल मई २०११ में धर्मानुरागी भाईश्री देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियां ने तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी का हिन्दी-पद्यानुवाद करने के लिए प्रेरित किया। तदनुसार वह कार्य सम्पन्न कर उन्हें दे दिया।

जनवरी २०१२ जयपुर-निवास-काल में धर्मानुरागी बाल-ब्रह्मचारी श्रीमान यशपालजी जैन/समादरणीय अन्नाजी ने इसके पद्यों की उत्थानिका और शब्दशः अर्थ लिखने के लिए तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी की एक प्रति मुझे दी। इसमें उन्होंने छन्द-नाम, मूल क्रमांक आदि देने का कार्य किया था। उसे देखकर इसे यथा-योग्य व्यवस्थित रूप देने का भाव जागृत हुआ।

तदनुसार इसमें छन्द-नाम; छन्द का मूल-क्रमांक, अध्याय-क्रमांक; उत्थानिका, पद्यानुवाद, संस्कृत-पद्य का खण्डान्वयी शैली में शब्दशः अर्थ के साथ ही विषयानुक्रमणिका, संस्कृत पद्य-वर्णानुक्रमणिका, ग्रन्थकार और ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय भी संलग्न हो गए हैं। पूर्व प्रकाशित अर्थ और भावार्थ को यथावत् रखा गया है।

ग्रन्थ-रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषणजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम ३९७ वें पद्य में इसका परिमाण ५३६ श्लोक/अनुष्टुप् छन्द प्रमाण बताया है। गणना करने से लगता है कि इसका कुछ अंश लुप्त हो गया है। पाण्डुलिपियों से इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी-हेतु प्रयास में निराश ही होना पड़ा। भाईश्री ब्रजेशकुमारजी जैन कठरया बीना के सद्प्रयासों से अनेकान्त ज्ञान मन्दिर बीना (म०प्र०) से इसकी एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसमें आदि-अन्त का पृष्ठ नहीं होने से लेखक, लिखानेवाले, लेखन-काल आदि सभी कुछ अज्ञात ही हैं। पद्य भी उसमें इतने ही हैं परन्तु कुछ पाठ-भेद उपलब्ध हुए हैं; जिसका उल्लेख प्रस्तुत कृति में यथा-स्थान किया गया है। उल्लिखित ग्रन्थ-परिमाण विशिष्ट शोध-हेतु प्रेरणास्पद है।

एक मात्र तत्त्व-ज्ञान ही सम्यक् रत्नत्रय-प्राप्ति का, अतीन्द्रिय आनन्द की प्रगटता का उपाय है। यथा नाम-तथा गुणमय इस ग्रन्थ के अध्ययनादि से सभी जीव तत्त्व-ज्ञानी हो/वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझकर आत्मानुभूति-सम्पन्न सम्यक् रत्नत्रयमय दशा प्रगट कर सुख-शान्ति-युक्त जीवन व्यतीत करें - इस मंगलमय भावना के साथ प्रस्तुत कृति आपके कर-कमलों में सादर समर्पित है।

२६१२ वीं महावीर जयन्ति — कल्पना जैन, सागर
गुरुवार, ५ अप्रेल, २०१२

ग्रन्थकार–ग्रन्थ–परिचय

ग्रन्थकार भट्टारक ज्ञानभूषण–व्यक्तित्व–कर्तृत्व : इतिहास में उल्लिखित ज्ञानभूषण नामक चार महानुभावों में से 'तत्त्व–ज्ञान–तरंगिणी' ग्रन्थ के निर्माता भट्टारक ज्ञानभूषण, मूल–संघ, सरस्वती–गच्छ, बलात्कार–गण के भट्टारक सकलकीर्ति के प्रशिष्य और भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे।

गोलालारीय, गुजरात–निवासी आप पहले, भट्टारक विमलेन्द्र कीर्ति के शिष्य थे। विक्रम संवत् १५२५ में एक साथ सम्पन्न हुए दो प्रतिष्ठा महोत्सवों में से आप सागवाड़ा और आपके गुरुभाई तथा सगेभाई ज्ञानकीर्ति नौगामा महोत्सव के संचालक थे। इस कारण आप बड़साजनों के और ज्ञानकीर्ति लोहड़साजनों के गुरुरूप में प्रसिद्ध हो गए। बाद में यह भेद समाप्त हो गया और आपने भट्टारक भुवनकीर्ति को अपना गुरु मानकर सागवाड़ा की गद्दी के रूप में उनका पट्ट स्वीकार कर लिया। आपका भट्टारकीय–काल अनुमानत: संवत् १५३१ से १५५७ पर्यन्त रहा। बाद में अपने शिष्य विजयकीर्ति को पट्ट पर आसीन कर वहाँ से निवृत्त हो आप मुमुक्षुरूप में प्रसिद्ध हो गए।

नन्दिसंघ पट्टावलि और शुभचन्द्र पट्टावलि से ज्ञात होता है कि आपने गुजरात में सागारधर्म, अहीर/आभीर में श्रावक की ११ प्रतिमाएं और वाग्वर/वाग्वट/बागड़ देश में महाव्रत धारण किए थे। आपने तौलव, तैलंग, द्रविड़, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, उत्तरप्रदेश आदि में विहार कर तीर्थ–यात्राएं करते हुए अनेकानेक जीवों को संबोधित कर, धर्म का यथार्थ मार्ग दिखाकर जिन–धर्म की सातिशय प्रभावना की थी। इससे आप राजा–महाराजाओं, साधु–सन्तों, विद्वद्–वृन्दों द्वारा सम्मानित हुए।

व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्य, न्याय, अध्यात्म आदि विषयों के विशेषज्ञ आप संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषा के अधिकृत विद्वान थे। अपने भट्टारकीय काल में आपने अनेकानेक प्रतिष्ठा महोत्सवों का सफल संचालन कर धर्म की महती प्रभावना की थी। आपका अनुमानित समय विक्रम संवत् १५०० से १५६२ है।

आपने संस्कृत और हिन्दी भाषा में रचना कर साहित्यिक–कोश को समृद्ध किया है। आपकी (१) आत्म–संबोधन काव्य, (२) ऋषिमण्डल पूजा, (३) तत्त्व–ज्ञान–तरंगिणी, (४) पूजाष्टक टीका, (५) पंच कल्याणकोद्यापन पूजा, (६) नेमि निर्वाण काव्य की पंजिका टीका, (७) भक्तामर पूजा, (८) श्रुत पूजा, (९) सरस्वती पूजा, (१०) सरस्वती–स्तुति, (११) शास्त्र मण्डल पूजा – ये ११ कृतियाँ संस्कृत

में और (१) आदीश्वर फाग, (२) जलगालन रास, (३) पोसह रास, (४) षट्कर्म रास, (५) नागद्रा रास – ये पाँच कृतियाँ हिन्दी भाषा में हैं।

जैन–साहित्य का प्राचीन इतिहास भाग–२ में पण्डित परमानन्द शास्त्री ने आदीश्वर फाग, जलगालन रास और पोसहरास – इन तीन कृतियों को भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा में हुए वीरचन्द्र के शिष्य द्वितीय ज्ञानभूषण द्वारा रचित माना है।

इन १६ कृतियों में से आत्म–संबोधन काव्य एक आध्यात्मिक कृति है।

आत्म–तत्त्व को अवगत करानेवाली तत्त्व–ज्ञान–तरंगिणी पर आगे पृथक् से चर्चा की जा रही है।

फाग सम्बन्धी हिन्दी रचनाओं में आदीश्वर फाग का विशिष्ट स्थान है। इसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन–चरित्र प्रारम्भिक २३९ संस्कृत पद्यों और शेष २६२ हिन्दी पद्यों – इस प्रकार कुल ५०१ पद्यों द्वारा वर्णित है।

व्रत–विधान का माहात्म्य प्रसिद्ध करने वाली पोसह रास कृति, भाषा और शैली की दृष्टि से रासो काव्य–जैसी सरसता और मधुरता–सम्पन्न है।

षट् कर्म रास में ५३ छन्दों द्वारा देव पूजा आदि षट् आवश्यक कर्मों को पालन करने का सुन्दर उपदेश दिया गया है।

जलगालन रास में ३२ पद्यों द्वारा जल–छानने की विधि का रास शैली में वर्णन है।

इस प्रकार आपके द्वारा साहित्य, संस्कृति और समाज के उत्थान सम्बन्धी विविध कार्य हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ तत्त्व–ज्ञान–तरंगिणी : शुद्ध–चिद्रूप की धूनी रमानेवाले ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध यह आत्माराधकों के लिए आपकी महा महिमावान भेंट है। ३९७ पद्यों में निबद्ध, १८ अध्यायों में विभक्त प्रस्तुत कृति भाव–पक्ष और कला–पक्ष दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय है। इसके प्रत्येक अध्याय की संक्षिप्त विषय–वस्तु क्रमशः इस प्रकार है –

(१) इसके २० पद्यों वाले पहले अध्याय में लोकोत्तम आनन्द–सम्पन्न शुद्ध–चिद्रूप को नमस्कार–परक मंगलाचरण के बाद उसके इच्छुक जीवों के लिए उसकी प्राप्ति–हेतु उसके लक्षण आदि कहने की प्रतिज्ञा पहले पद्य में की गई है। इसके बाद छह पद्यों द्वारा अस्ति–नास्तिरूप में इसका स्वरूप बताते हुए लिखा है कि सभी प्रकार के कर्म और नोकर्म से पूर्णतया रहित, सम्पूर्ण लोकालोक को एक साथ जानने–देखनेवाला, निराकुल, महा–गुण–सम्पन्न आत्मा शुद्ध–चिद्रूप है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द से रहित; निरंजन, इन्द्रियों से अगोचर यह मात्र अनुभव–गोचर है।

शुद्ध शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण शुद्ध–चिद्रूप में पंच परमेष्ठी और उनके समान अन्य

भी शुद्धात्मा गर्भित हैं – ऐसा प्रतिपादन आठवें पद्य द्वारा करने के बाद तीन पद्यों द्वारा यह बताया है कि यही सम्यक् रत्नत्रय है; सर्व गुण-सम्पन्न, परम पूज्य, सर्वोत्तम है। ज्ञेय, दृश्य होने पर भी स्वभाव से ही ज्ञाता-दृष्टा यह, अपनी अनेक स्मृतियों द्वारा पहिचाना जाता है।

बारहवें और तेरहवें पद्य द्वारा 'शुद्ध-चिद्रूपोऽहं' का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि ज्ञान और दर्शन चित् हैं; जिसके यह है, वह चिद्रूप है। अन्य द्रव्यों से पूर्णतया रहित होने के कारण यह शुद्ध है और यह ही मैं हूँ, अन्य कुछ मैं नहीं हूँ – ऐसा अनुभव; यह शुद्ध-चिद्रूपोऽहं का भाव है।

इसके बाद अनादि-अनन्त; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक; अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मात्मक, सम्पूर्ण दोषों के नाशक, सकल सुख-दायक इस शुद्ध-चिद्रूप को मैंने महा-भाग्य से प्राप्त कर लिया है; अब मुझे अन्य पदार्थों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है; मैं तो सदा इसमें ही स्थिर रहूँ – ऐसी भावना भाते हुए अध्याय समाप्त किया है।

(२) शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान धरने में उत्साह-प्रदायक, २५ पद्योंवाले इस दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में पाँच उदाहरणों से यह स्पष्ट किया है कि शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इसका ध्यान ही मोक्षरूपी वृक्ष का कारण, संसार-सागर से पार होने के लिए नौका, दु:खरूपी भयंकर वन को भस्म करने-हेतु दावानल; कर्मों से संरक्षण-हेतु सुरक्षित, सुदृढ़ किला; विकल्प रूपी रज को उड़ाने-हेतु प्रबल-पवन, पाप-रोधक, मोहरूपी सुभट को जीतने-हेतु तीक्ष्ण शस्त्र; नरकादि अशुभ दशाओं रूपी रोगों को नष्ट करने-हेतु उत्तम, सार्थक औषधि और तप, विद्या आदि विविध गुणों का गृह है।

इस शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से सभी प्रकार के समस्त सांसारिक दु:ख समाप्त हो जाते हैं। इससे उत्पन्न अद्वितीय, अपूर्व आनन्द का एक अंश भी इन्द्रादि को प्राप्त नहीं है। इसकी उपलब्धि से सम्यक् रत्नत्रय आदि प्रगट करने-योग्य सब कुछ प्रगट हो जाता है और अशुभ आदि नष्ट करने-योग्य सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। इस छद्मस्थ द्वारा जिन्हें गिनना सम्भव नहीं है, वे अगणित कर्म भी इससे नष्ट हो जाते हैं।

द्वादशांग रूप अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य में भी उपादेय, इस शुद्ध-चिद्रूप को ही कहा है। विश्व के किसी भी पदार्थ से इसकी तुलना, सम्भव नहीं है। इसके ध्याता की चरण-रज के स्पर्श से भूमि तीर्थ हो जाती है।

सभी को शुद्ध करनेवाले, आनन्द-दायक इसके ध्यान द्वारा; अपवित्र, सात धातुमय शरीर को पूज्य करो – ऐसी प्रेरणा के साथ यह अध्याय समाप्त हुआ है।

(३) २५ पद्यों द्वारा शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के उपायों के निरूपक इस तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में सहायक जिनाभिषेक, जिन-पूजन, दान, स्वाध्याय, इन्द्रियजय, ध्यान, यम,

नियम, संयम आदि विविध साधनों का उल्लेख करते हुए यह निर्देश दिया है कि शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में बाधक सम्पूर्ण प्रसंगों को छोड़ देना चाहिए और साधक सभी साधनों को स्वीकार करना चाहिए।

बीच में ध्यान के कारणों में; चिन्ता का अभाव, निर्जनता, आसन्न भव्यता, भेद-ज्ञान और अन्य में निर्ममता को बताते हुए लिखा है कि पिता के विना पुत्र की उत्पत्ति के समान भेद-ज्ञान के विना शुद्ध-चिद्रूप का ज्ञान और माता के विना पुत्र की उत्पत्ति के समान सभी में निर्ममता के विना उसका यथार्थ ध्यान सम्भव नहीं है। अनुकूलतम या प्रतिकूलतम सभी प्रसंग तत्त्व-ज्ञानी को नाटक-तुल्य प्रतिभासित होते हैं। विश्व का कोई भी पदार्थ, परिस्थिति, प्रसंग, संयोग उसे प्रभावित करने में समर्थ नहीं है।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अनेक उपाय होने पर भी उसके ध्यान के समान सर्वोत्तम उपाय अन्य नहीं है; इससे ही अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; मुक्ति के लिए मैं इसे ही अंगीकार करता हूँ - अन्त में इस प्रकार की भावना पूर्वक अध्याय समाप्त हुआ है।

(४) २२ पद्यों द्वारा शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में सुगमता के निरूपक चौथे अध्याय के प्रारम्भ में बताया है कि इसके ध्यान में किसी भी प्रकार का, कुछ भी कष्ट, व्यय, पराधीनता आदि का क्लेश नहीं है और फल अनेकों हैं; तथापि इस ओर रुचि नहीं होना, आश्चर्य-जनक है। भोगभूमि, स्वर्ग-लोक आदि की प्राप्ति कष्ट-साध्य और दुर्लभ है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप के साधन में सुख, ज्ञान, मोचन, निराकुलता, निर्भयता साथ-साथ ही होते जाने के कारण इसकी प्राप्ति अति सुगम है।

पूर्व कालीन अनुभव, स्मृति आदि से इसकी पहिचान कर, प्रगट प्राप्ति-हेतु यथोचित द्रव्यादि का आश्रय ले लें; परन्तु प्राप्ति के बाद उनका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है - अध्याय के मध्य में इस प्रकार का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि श्रुत-सागर में परमात्मा के नामरूपी परं ब्रह्म, चिदात्मा आदि अनन्त रत्न भरे हैं; उनमें से परीक्षा कर सर्वोत्तम मान मैंने शुद्ध-चिद्रूप नामक अति मूल्यवान रत्न ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है; अत: अन्य की चिन्ता करना, व्यर्थ है। अन्य की ओर आकर्षणरूप मोह महा बलवान है। उसे जीत लेनेवाले को अन्य क्रिया-काण्ड के विना भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है। इसका ध्यान करने से रागादि दु:खों का अभाव, निराकुलता, स्वाधीनता, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है; अत: इसी का ध्यान कर्तव्य है - अन्त में इस प्रकार की प्रेरणा पूर्वक अध्याय समाप्त हुआ है।

(५) २२ पद्योंवाले इस पाँचवें अध्याय में शुद्ध-चिद्रूप की अलब्ध-पूर्वता बताते हुए लिखा है कि एक मात्र इस शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान को छोड़कर इस जीव ने मोह के वश हो इस लोक में द्रव्यादि पंच परावर्तन करते हुए उत्तमोत्तम अनेकों रत्न प्राप्त किए हैं; कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि लोकोत्तर अनेकों विभूतियाँ भी प्राप्त की हैं; इन्द्र, अहमिन्द्रादि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किए हैं; अति कठिन शास्त्रों

का व्याख्यान भी किया है; महा दुष्कर आतापन योगादि भी धारण किए हैं; एकेन्द्रियादि दशाओं में अनेकों बार जन्म-मरण किए हैं; चेतन-अचेतनमय सभी पदार्थों को जाना-देखा; अति दुष्कर शुभाशुभ कर्म किए; व्यक्त-अव्यक्तरूप सभी विकल्पों से आच्छादित रहा।

इस शुद्ध-चिद्रूप के आश्रय से मेरा मोह मन्द हुआ है। अब, पूर्वोक्त सबसे मैं निरीह हो गया हूँ। इस मोह को धिक्कार हो। अब मैं अलब्ध-पूर्व शुद्ध-चिद्रूप को ही प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ।

(६) २० पद्योंवाले इस छठवें अध्याय में शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में निश्चलता का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस समय लोग मुझे बावला, पिशाच-पीड़ित, रोगी, ज्ञान-शून्य, उन्मत्त, भ्रान्त आदि कैसा भी क्यों न जानें; परन्तु मैं तो शुद्ध-चिद्रूप ही हूँ। मेरे ऊपर किसी का, किसी भी प्रकार का, कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

स्त्री को अपना पति प्रिय आदि दश उदाहरण देते हुए वहीं बताया है कि उसी प्रकार मुझे शुद्ध-चिद्रूप नाम ही सर्वाधिक प्रिय है; अत: एक मात्र यह भावना है कि यही मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे। इसके रहते तीव्रतम विषमताएं, प्रतिकूलताएं भी मेरा कुछ भी अहित करने में समर्थ नहीं हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि के सतत भ्रमण आदि छह उदाहरण देकर यहाँ यह भावना भायी है कि इनके ही समान मेरा मन भी सदा शुद्ध-चिद्रूप में ही लगा रहे।

लोक में इसके अतिरिक्त कुछ भी उत्तम नहीं है। बहिरंग-अन्तरंग उत्तमोत्तम पदार्थ, पद, परिग्रह आदि सभी कुछ नश्वर हैं। उनमें राग-द्वेष न कर, समता-भाव-पूर्वक अपने अविनश्वर आत्मा में स्थिरता ही मुक्ति का मार्ग है, जिनागम का सार है; यही यथार्थ स्वस्थ दशा है।

सुमेरु पर्वत, सिद्ध-शिला की निश्चलता के समान; उपसर्ग, परिषह आदि सभी प्रसंगों में मेरा उपयोग शुद्ध-चिद्रूप में ही स्थिर रहे; यही भाव-द्रव्य-मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है - ऐसा निरूपण करते हुए अध्याय समाप्त हुआ है।

(७) २३ पद्योंवाले इस अध्याय में शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-हेतु नयों के अवलम्बन का वर्णन करते हुए लिखा है कि मैं इसमें जब तक पूर्ण स्थिर नहीं हो जाता; तब तक क्षण भर भी व्यवहार का अवलम्बन नहीं छोड़ता हूँ। व्यवहार-नय के आश्रय से सर्वत्र अशुद्ध-चिद्रूप ही दिखाई देता है और निश्चय-नय से कभी किसी को वही शुद्ध दिखाई देता है। गुणस्थानानुसार तरतमता पूर्वक चतुर्थ गुणस्थान से मिथ्यात्वादि मलों का अभाव होते जाने से चिद्रूप में क्रमश: विशुद्धता होती जाती है।

लोक में जैसे पृथक्-पृथक् नगरों के मार्ग पृथक्-पृथक् होते हैं; उसी प्रकार मोक्ष और स्वर्ग का मार्ग पृथक्-पृथक् है; अत: मोक्षार्थी को चिन्ता आदि की बहुलता-सम्पन्न, शरीरादि से साध्य, पराधीन, कर्म-बन्ध के कारणभूत, अति विषम, भय-आशा-युक्त, व्यामोहमय व्यवहार-मार्ग को छोड़कर पूर्णतया

सर्वत्र सुखद, निर्दोष, सदा शुद्ध निश्चय-मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। मेरी एक मात्र यह भावना है कि भक्त-वृन्द, शिष्य-समूह, पुस्तक आदि से निरपेक्ष; चेतनाचेतनात्मक सभी वस्तुओं से पूर्णतया रहित स्व शुद्ध-चिद्रूप में ही मैं सदा सन्तुष्ट रहूँ।

अन्य द्रव्य के सम्पर्क से अशुद्ध हुए वस्त्र, स्वर्णादि के समान व्यवहार-नय की अपेक्षा अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध से अशुद्ध आत्मा; जितने अंश में अन्य से छूटता जाता है, उतने अंश में शुद्ध होता जाता है। इस हेतु शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यानरूपी पर्वत पर चड़ते और उतरते समय व्यवहार का अवलम्बन रहता है; परन्तु वहाँ स्थिरता के समय यह अवलम्बन नहीं रहता है।

व्यवहाररूपी कारण के विना निश्चयरूपी कार्य नहीं होता है। यह त्रैकालिक नियम है कि व्यवहार पूर्वक निश्चय के आश्रय से मुक्ति-सम्पदा की प्राप्ति होती है। किसी एक के अभाव में अन्य का भी अभाव ही होता है। दोनों ही नेत्रों से पदार्थ के यथार्थ अवलोकन के समान स्याद्वाद मत में दोनों नयों के यथा-योग्य सन्तुलन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नयाधीन और उसमें स्थिरता नयातीत होने से यथोचित प्रवर्तन ही मुमुक्षु का कर्तव्य है - इस प्रकार के निर्देश के साथ अध्याय समाप्त हुआ है।

(८) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में भेद-ज्ञान की आवश्यकता-प्ररूपक २२ पद्योंवाले इस अध्याय के प्रारम्भ में छैनी आदि छह उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि भेद-ज्ञान द्वारा जड़ और चेतन को पृथक्-पृथक् पहिचाननेवाला शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त कर लेता है। देश, धन, तन आदि पर-पदार्थों को अपना मानने से चित्त चंचल और विकृत हो जाता है। इनसे भिन्नता का भान होने पर शुद्ध-चिद्रूप में स्थिरता से विकार और चंचलता नष्ट हो जाती है।

इस आत्म-ध्यान से श्रेष्ठ कोई सौख्य, तप, मोक्ष-मार्ग नहीं है; अत: मैं तो इससे ही अपने जन्म को सफल मानता हूँ।

इससे आगे भेद-ज्ञान की महिमा, दुर्लभता और स्वरूप बताते हुए लिखा है कि भेद-विज्ञानरूपी बज्र द्वारा कर्मरूपी दुर्भेद्य पर्वत समाप्त हो जाते हैं। इस लोक में चिद्रूप की रुचि करानेवाले, चिद्रूप-प्रतिपादक शास्त्र, उसके उपदेशक गुरु और भेद-ज्ञानरूपी चिन्तामणि की प्राप्ति उत्तरोत्तर क्रमश: महा-दुर्लभ है। चेतन से देह, कर्म और उनके परिणमन की जिसके द्वारा पृथक्ता ज्ञात होती है, उसे भेद-ज्ञान कहते हैं। इस भेद-ज्ञान के विना तप-श्रुतवान को भी अपने शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती है। इससे ही संवर, निर्जरा की प्राप्ति हो कर्मों का नाश होता है।

सिद्ध-स्थान और शरीर में विद्यमान कर्म से रहित चिद्रूप, भेद-विज्ञान रूपी नेत्र से ही दिखाई देता

है। भेद-ज्ञानमय अनुभव-ज्ञान से ही एक क्षेत्रावगाही तन और चेतन को पृथक्-पृथक् कर दिया जाता है। इससे ही शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त कर केवली, देवाधिदेव, जिनेश्वर, तीर्थंकर भी हो जाते हैं।

इस प्रकार भेद-विज्ञान की महिमा बता उसे प्रगट करने की प्रेरणा देते हुए अध्याय समाप्त हुआ है।

(९) शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-हेतु मोह-त्याग की उपयोगिता के निरूपक २२ पद्यों वाले इस अध्याय में मोह को परिभाषित करते हुए बताया है कि वास्तव में कोई भी पदार्थ किसी अन्य का नहीं होने के कारण चेतन और जड़ पदार्थ अन्य के और अपने हैं - ऐसा चिन्तन मोह है। इसने मेरा मान-अपमान किया, यश-अपयश फैलाया, मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? सुख कहाँ से प्राप्त करूँ? किसका आश्रय लूँ? क्या कहूँ? शरीरादि जड़ और चेतन पदार्थों में एकत्व, ममत्व, राग, द्वेष आदि करना इत्यादि चिन्तन आदि, मोह है।

आगे मोह-जय पर विचार करते हुए लिखा है कि व्यवहार में इसके अनेक उपाय होने पर भी वास्तव में 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ, यही मेरा है' - ऐसा चिन्तन इसे समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। वास्तव में धर्म का उद्धार और विनाश समयानुसार होता है; अनुकूलताएँ, प्रतिकूलताएँ कर्माधीन हैं; अत: उनकी चिन्ता छोड़कर शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करना चाहिए।

बुद्धिमानों को शारीरिक निन्दा-प्रशंसा, इन्द्रिय-सुख, यश-अपयश की चिन्ता छोड़कर शुद्ध-चिद्रूप की जानकारी और प्राप्ति-हेतु प्रयत्न करना चाहिए। इसे जान लेने पर लौकिक सभी उपलब्धियाँ तृण-तुल्य प्रतीत होने लगती हैं।

वास्तव में यह जीव अबद्ध होने पर भी तोते और बन्दर के समान भयंकर मोह से बँधा है; अत: विविध पदार्थों की रक्षा-हेतु व्यग्र रहता है; जिस कारण न तो यह चिन्तन कर पाता है और न ही इसकी बुद्धि निर्मल रह पाती है। इससे इसे शुद्ध-चिद्रूप और निराकुल-सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती है; अत: बुद्धिमानों को विचार पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

अन्त में १० उदाहरणों द्वारा आत्म-प्रीति से रहित को आत्म-ध्यान के उपदेश की व्यर्थता बताकर मोह को महा-शत्रु, बंध-कारक, दु:ख-दायक बताते हुए उसे समाप्त करने-हेतु शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्रेरणा देते हुए अध्याय समाप्त हुआ है।

(१०) शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानार्थ, अहंकार-ममकार के निषेधक २१ पद्योंवाले इस अध्याय में उन्हें और उनके विपरीत-भावों को परिभाषित करते हुए लिखा है कि मैं शरीर हूँ, कर्मरूप हूँ, मनुष्य हूँ; दुबला, मोटा, गोरा, काला, ब्राह्मण, अब्राह्मण, मूर्ख, विद्वान, निर्धन, धनवान आदिरूप हूँ - ऐसा चिन्तन, अहंकार है। शुभाशुभ कर्म मेरे हैं, शरीर मेरा है; माता, पिता आदि परिवार, कुटुम्ब मेरा है; धन, धान्य, नगर, देश आदि मेरे हैं; इत्यादि चिन्तन, ममकार/ममत्व है।

ये शरीरादि मैं नहीं, मेरे नहीं; इत्यादि चिन्तन, निरहंकार, निर्ममत्व है। अहंकार, ममकार करनेवाला प्राणी स्वप्न में भी शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त नहीं कर सकता है; अत: इसके इच्छुक को उनका त्याग कर देना चाहिए।

अति संक्षेप में बंध और मोक्ष को बताते हुए यहीं लिखा है कि 'यह मेरा है' - ऐसे चिन्तन में बन्ध और 'यह मेरा नहीं है' - ऐसे चिन्तन से मोक्ष होता है।

अन्त में निर्ममत्व का महत्त्व बताते हुए इसे ही उत्कृष्ट ध्यान, तप, धर्म आदि सभी कुछ सिद्ध करते हुए, अहंकार और ममकार का त्याग करनेवाले ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्याता हैं - इस प्ररूपण के साथ अध्याय समाप्त हुआ है।

(११) २२ पद्योंवाले इस अध्याय में शुद्ध-चिद्रूप के रुचिवानों की विरलता बताते हुए लिखा है कि लोक में शान्त-चित्त, धनवान, बुद्धिमान, गुणवान, रूपवान, खिलाड़ी, ज्योतिषी, चिकित्सक, जल-स्तम्भक, अग्नि-स्तम्भक आदि विविध विशेषताओं-सम्पन्न, विविध कलाविद् अनेकों हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की रुचिवाले अत्यल्प हैं। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त तो ये असम्भव ही हैं; संज्ञी पंचेन्द्रिय में भी अति विरल हैं।

उनमें से भी महाव्रत-सहित शुद्ध-चिद्रूप के आराधक तो मनुष्य-लोक के बाहर सर्वत्र असम्भव होने के कारण और भी अत्यल्प हैं। इस काल और इस क्षेत्र में तो न-जैसे ही हैं; परन्तु वास्तव में जो इसके आराधक हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट हैं।

(१२) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के असाधारण कारण रत्नत्रय के निरूपक २२ पद्योंवाले इस अध्याय में विविध उदाहरणों द्वारा सम्यक् रत्नत्रय की नियामकता स्पष्ट करते हुए उसका स्वरूप, भेद-प्रभेद-स्वरूप, महत्त्व बताते हुए लिखा है कि एक साथ दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप आत्म-प्रवृत्ति को रत्नत्रय कहते हैं। व्यवहार पूर्वक निश्चय की प्रगटता होने से इसके व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय - ये दो भेद हैं। इन दोनों में से प्रत्येक के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - ये तीन-तीन भेद हैं।

सात तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार में सम्यग्दर्शन है। आठ अंगमय इसके औपशमिक आदि तीन भेद हैं। अपने शुद्ध-चिद्रूप में रुचि निश्चय से सम्यग्दर्शन है। यह कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने-हेतु जाज्वल्यमान अग्नि है।

सभी तत्त्वों को भली-भाँति जाननेवाला, आठ प्रकार के आचार-सहित ज्ञान, व्यवहार-नय से सम्यग्ज्ञान है और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान निश्चय से श्रेष्ठ सम्यग्ज्ञान है। यह कर्म रूपी रेणु-समूह के लिए प्रबल-पवन है।

सावद्य/पाप से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति, व्यवहार से चारित्र है। यह तेरह प्रकार का है और अपने शुद्ध-चित्स्वरूप में अत्यन्त निश्चल स्थिति निश्चय से कर्म का नाशक, सम्यक्चारित्र है।

इस सम्यक् रत्नत्रय के विना शुद्ध-चिद्रूप की उपलब्धि त्रिकाल, त्रिलोक में असम्भव है - इस निष्कर्ष के साथ अध्याय समाप्त हुआ है।

(१३) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति-हेतु विशुद्धि की आवश्यकता प्रतिपादक २३ पद्योंवाले इस अध्याय में विशुद्धि को परिभाषित करते हुए बताया है कि आत्मा में रागादिमय संक्लेश अशुद्धता है। जितने अंश में उसका नाश है, उतने अंश में विशुद्धता है। मोक्षाभिलाषी को प्रयत्न पूर्वक विशुद्धि-प्राप्ति-वृद्धि का पुरुषार्थ करना चाहिए।

संसार में रागादि विकारों के अतिरिक्त दूसरा होना ही क्या है? अत: उन्हें देखकर क्षुब्ध न हो विशुद्ध मोक्ष-मार्ग का स्मरण करना चाहिए। मोह के कारण विपर्यस्त हो स्वयं को मूर्ख, निर्धन, शक्ति-हीन मानने से विशुद्धि-जन्य सुख का अनुभव नहीं हो पाता है। संसार में संयोग की चिन्ता और वियोग के भय से विशुद्धि का नाश होता है; अत: विशुद्धि के आकांक्षी को इनसे मुक्त रहना चाहिए।

वास्तव में द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्ध-चिद्रूप का एक अंश है; अत: शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होने पर उससे कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता है। शरीर, कर्म और उनके कारणों के चिन्तन से क्लेश होता है और शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से विशुद्धि होती है। पंच-परमेष्ठी का स्मरण भी इसमें सहायक है। संक्लेश से अत्यन्त दु:ख-दाई अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और विशुद्धि से शुभ कर्मों का बन्ध होता है। विशुद्धि-सेवी को सर्वत्र-सुख की प्राप्ति होती है।

अन्त में विशुद्धि का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि यह शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान की मुख्य कारण है। विशुद्धिरूपी यथार्थ अमृत के सेवन में आसक्त प्राणी उसे सुरक्षित रखने-हेतु अनुपम राज्य, इन्द्रिय-सुख और संपत्ति को छोड़ कर गिरि-गुफाओं में रहने लगता है। विशुद्धि से चित्स्वरूप में स्थिति होती है और स्थिति से विशुद्धता होती है - इस प्रकार दोनों में पारस्परिक कारणता है। यह परम-धर्म, सुख-दायक विशुद्धि, संसार-सागर से पार होने-हेतु नाव के समान है; अत: इसे प्रगट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए - ऐसी प्रेरणा देते हुए अध्याय समाप्त हुआ है।

(१४) अन्य कार्य करते हुए भी शुद्ध-चिद्रूप-स्मरण के उपदेशक २२ पद्योंवाले इस अध्याय में बताया गया है कि आहार, विहार, नीहार, मौन, आसन, जप, तप, पूजन, दान, यात्रा आदि कोई भी कार्य करते हुए सदा शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है; अत: पनिहारिनी के समान सदा इसमें ही उपयोग लगाना चाहिए।

आगे इसके महत्त्व को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए स्वाध्याय, तप आदि पूर्वक इसका ध्यान

मोक्ष-दाता है - यह बताते हुए लिखा है कि इसमें अनुरक्त जीव राज्य करते हुए भी भरत के समान बँधते नहीं हैं। इस शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन में लगे रहने से प्रतिकूलतम उपसर्ग और परिषह भी दुखी नहीं कर पाते हैं; अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष नहीं होता है; सम्पत्ति-विपत्ति में हर्ष-विषाद नहीं होता है; अत: प्रतिक्षण अपने उपयोग को इसमें ही रत रखना चाहिए।

(१५) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए पर-द्रव्यों के त्याग के उपदेशक २० पद्योंवाले इस अध्याय में शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति-हेतु शुभ-अशुभ - सभी प्रकार के अन्तरंग-बहिरंगरूप समस्त परिग्रह, पुत्रादि सकल संयोगों, विकल्पों को छोड़ने-हेतु प्रेरित किया है।

आगे मोह का दुष्परिणाम दिखाते हुए लिखा है कि तीव्र-मोह-वश यह बुद्धि-शून्य प्राणी आकुलता के कारणभूत, विकल्प-उत्पादक विविध पदार्थों को सुख का कारण मानकर अनन्त कष्ट सहते हुए भी उन्हें एकत्रित करने में लगा रहता है; परिणाम-स्वरूप आकुलता ही भोगता है; परन्तु यदि उतना ही समय शुद्ध-चिद्रूप की आराधना में व्यतीत करे तो निराकुलतामय मोक्ष-दशा प्रगट कर ले।

स्व-पर को रंजायमान करने का परिणाम, विभाव और शुद्ध-चिद्रूप में लगाने का परिणाम, स्वभाव-भाव है। संसार में सर्वत्र संयोग-वियोग, राग-द्वेष, सुख-दु:ख आदि सहन करने पड़ते हैं; अत: उनसे बचने-हेतु संसार का ही त्याग कर देना चाहिए। तन, धन, भोजन, वसन आदि अनित्य संयोगों को नित्य बनाना, सम्भव नहीं है; इनकी अगणित प्राप्ति से भी कोई तृप्त नहीं हो पाता है; इन्हें अपनाने से कर्म-बन्ध भी होता है; अत: इनका त्यागकर जो शुद्ध-चिद्रूप में स्थिर रहते हैं; वे ही परमात्म-पद प्राप्त करते हैं; अन्य नहीं; अत: सतत इसका ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

(१६) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए निर्जन स्थल-वास के निरूपक २१ पद्योंवाले इस अध्याय में एकान्त-स्थान-वास के लाभ दिखाते हुए लिखा है कि एकान्त स्थान पर निवास करने से उत्तम ज्ञान का लाभ, आकुलता का त्याग, विविध शास्त्रों के अर्थ का ग्रहण, मन-वचन का निरोध; राग, द्वेष आदि बाधाओं का अभाव, आत्मिक सुख की वृद्धि होती है; अत: शत्रु, मित्रादि में मध्यस्थ हो इसे अपनाना चाहिए।

आगे विविध उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जन-सम्पर्क से विकल्प-जाल, पीड़ा, दु:ख आदि में वृद्धि होती है और एकान्त-वास में इनका नाश होता है; इसीलिए बाह्य-तपों में विविक्त-शयनासन को महा-तप कहा है। यहीं ध्यान की विध्वंसिनी मूर्छा का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि किसी चिन्ता, संगति से; किसी रोगादि से, वेदना, तीव्र निद्रा; क्रोध, मानादि कषायों की उत्पत्ति होना, मूर्छा है।

सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग, निर्जन-स्थान, तत्त्व-ज्ञान, सकल चिंताओं का अभाव, निर्बाधता, योग-रोध को ध्यान के कारण बताते हुए वहीं लिखा है कि विकल्प प्राणी को तीव्र दु:ख देते

हैं; अत: उनके नाश-हेतु बुद्धिमानों को परिग्रह और जन-सम्पर्क का त्याग करना चाहिए तथा किसी भी कार्य का स्मरण नहीं करना चाहिए। जब बाह्य परिग्रह-त्याग से ही कुछ निराकुलता हो जाती है, तब अन्तरंग परिग्रह-त्याग से तो अधिकाधिक निराकुलता होगी ही।

आत्माराधकों को अवमौदर्य और विविक्त-शैयासन से साध्य ध्यान के साथ स्वाध्याय तप भी करना चाहिए। वास्तव में राग, द्वेष, विमोह को नष्ट करने-हेतु; मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को सीमित करने के लिए; ध्यान-अध्ययन द्वारा संक्लेश को समाप्त कर, विशुद्धि पूर्वक समस्त कर्मों का क्षयकर मुक्ति-हेतु निर्जन-स्थल में निवास अमृत-तुल्य है; अत: इसका प्रयास करना चाहिए - ऐसी प्रेरणा के साथ अध्याय समाप्त हुआ है।

(१७) शुद्ध-चिद्रूप में प्रीति-वर्धक उपदेश देनेवाले २० पद्यों में निबद्ध इस अध्याय में बताया गया है कि इस लोक में मणि, धातु, रस, धन, धान्य, पशु, पक्षी, जलचर, मनुष्य आदि जड़-चेतन के परीक्षक, विषय-सुख में आसक्त अनेकों हैं परन्तु निराकुल-सुख के परीक्षक और अनुरागी अत्यल्प हैं। स्वाधीन, शाश्वत, अनुपम, परम पवित्र, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिए सभी से विरक्त हो, परिग्रह छोड़कर, सद्गुरु और शास्त्र का आश्रय ले, पवित्र रत्नत्रय को धारण कर, रागादि की स्थानक अन्य की संगति को छोड़कर निर्बाध, निर्जन स्थान में रहना चाहिए।

वास्तव में इन्द्रिय-जन्य सुख तो इच्छारूपी अग्नि से उत्पन्न वेदना का प्रतिकार मात्र है। निराकुल और विशुद्ध होने के कारण आत्मा में स्थिरता ही यथार्थ सुख है। यह किसी भी इन्द्रिय की उत्तमोत्तम विषय-सामग्री की बहुलता से भी प्राप्त नहीं होता है; एक मात्र शुद्ध-चिद्रूप की आराधना से ही प्राप्त होता है; अत: इसी हेतु प्रयास करना चाहिए।

बारम्बार प्राप्त हुआ इन्द्रिय-सुख तो विकल्पोत्पादक, भय-प्रद, आकुलतामय; राग, द्वेष, चिंता आदि-सहित, विषयाधीन और कर्म-बन्ध का कारण है; अत: इसे सुख मानना, महा-भ्रम/मिथ्यात्व है।

(१८) शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति के क्रम-प्रतिपादक १९ पद्योंवाले इस अन्तिम अध्याय में बताया गया है कि जो 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसा श्रवण कर, ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक इसमें ही स्थिर रहता है; वह शीघ्र ही निराकुल सुख को प्राप्त करता है।

गृहस्थों को पहले षट् आवश्यक कर्म पालन की, पश्चात् व्रत अंगीकार की और तदनंतर संयम ग्रहण की तथा मुनि को पहले संयम-पालन की और तत्पश्चात् चिद्रूप-चिंतन की शिक्षा देनी चाहिए। संसार से भय-भीत होने से पूर्व यदि मुक्ति-सुख में रुचि दृढ़ हो जाती है; तो उसकी प्राप्ति का उपाय सुगम हो जाता है।

निर्विकल्प योगी को शुद्ध-चिद्रूप में लीनता से कर्मों का क्षय और तात्त्विक सुख एक साथ हो जाता

है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिमय योग के आठ अंग भी इसमें सहायक हैं; अत: भली-भाँति ज्ञानकर मोक्षार्थी को इनका भी अभ्यास करना चाहिए। शुद्ध-चिद्रूप के चिंतन से प्रति-क्षण कर्मों का अभाव होता जाता है; इस शुद्ध-चिद्रूप में लीनता से ही भाव-मोक्ष होने के बाद नियम से क्रमश: द्रव्य-मोक्ष हो जाता है।

मिश्र नामक तीसरे; क्षपक श्रेणी सम्बन्धी आठवें, नवमें, दशवें; क्षीण-मोह और सयोग-केवली नामक क्रमश: बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में मरण नहीं होता है। मिथ्यात्व और अविरत सम्यक्त्व में मरण कर चारों गतियों में; सासादन में मरण कर नरक के विना शेष तीन गतियों में जा सकता है। अयोग-केवली में मरण हो मोक्ष ही होता है और शेष सात में मरण कर नियम से देव ही होता है।

जैसे क्रमश: चढ़ती हुई चींटी, तोते के समान, पेड़ पर स्थित फल का स्वाद ले लेती है; उसी प्रकार आज भी शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान से स्वर्ग प्राप्त कर, वहाँ इन्द्रिय-सुख को भोगते हुए, समवसरण में जा जिनवाणी सुनकर, जिनालय में जा पूजनादि करके वहाँ से च्युत हो मनुष्य होकर रत्नत्रय से विभूषित हो, शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान से कर्मों का क्षय कर क्षण भर में त्रैलोक्य-शिखर पर स्थित सिद्ध-स्थान प्राप्त कर शुद्ध-चिद्रूप होकर, अष्ट गुण-सम्पन्न पूर्णतया निराकुल हो अनन्त काल पर्यन्त विराजमान रहते हैं।

आत्मध्यान के दो भेद हैं - (१) गुरु आदि के वाक्यों को सुनकर, विविध शास्त्रों से अभ्यास कर होनेवाला ध्यान, क्रमागत और (२) गुरु के वचन से जिनवाणी का सार मात्र सुनकर, शास्त्रादि का अभ्यास किए विना होनेवाला ध्यान, अक्रमागत है। हमें अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने-हेतु प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार की प्रेरणा देते हुए इस अध्याय के साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ भी समाप्त हुआ है।

अन्त में ५ पद्यों द्वारा ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन; गुरु-परम्परा, ग्रन्थ-नाम, फल, काल, परिमाण बताकर पूर्वाचार्यों द्वारा निर्देशित विधि का भी निर्वहन किया गया है।

इस प्रकार आकुलित प्राणी को संसार-दु:ख को समाप्त करने और मोक्ष-सुख को प्राप्त करने का मार्ग बतानेवाले प्रस्तुत ग्रन्थ का भाव-पक्ष सर्वाधिक उत्तम उदात्त भावों और पावन प्रेरणाओं से परिपूर्ण है।

इसका रस, छन्द, अलंकारमय कला-पक्ष भी मन-मोहक है। शान्त-रस की प्रधानतावाले इस ग्रन्थ में उसे पुष्ट करने, बड़ाने में सहायक वीर, जुगुप्सा, वीभत्स रस का भी सुन्दर समायोजन हुआ है।

छन्द की दृष्टि से ३९७ पद्यवाले प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। उनका विवरण इस प्रकार है - अनुष्टुप्-२०१ पद्य; स्रग्धरा-३४ पद्य; शार्दूल-विक्रीड़ित-२५ पद्य; आर्या-१३;

उपजाति-६; शालिनी-५; शिखरिणी-५; मन्दाक्रान्ता-३; वसन्त-तिलका-२; इन्द्रवज्रा-१; उपेन्द्रवज्रा-१, वंशस्थ-१ पद्य।

इस प्रकार भट्टारक ज्ञानभूषणजी ने इस कृति में बहु प्रचलित, प्रचलित, कम प्रचलित; लघु, मध्यम, वृहदाकार आदि सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। छन्द-चयन में विषय-वस्तु और भाव की प्रधानता परिलक्षित होती है। गेयता, लय-बद्धता भी इसमें सर्वत्र अक्षुण्ण है।

अलंकार की दृष्टि से सुसभ्य, सुशिक्षित, विचार-शील, रूपवान महिला द्वारा धारण किए गए आभूषणों के समान विविध अलंकारों के प्रयोग द्वारा ग्रन्थ का सौन्दर्य वृद्धिंगत हो मुखरित हुआ है। इनसे उच्चारण की सरलता के साथ-साथ अर्थ-बोध में भी सुगमता स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती है। शब्दालंकार और अर्थालंकार - दोनों से मण्डित इस कृति में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, पुनरुक्ति/वीप्सा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, अन्योक्ति, अनन्वय, अपन्हुति, असम, उल्लेख, दृष्टान्त, निदर्शना माला, भ्रांतिमान, मानवीकरण आदि अलंकारों का यथोचित, विषय की भावाभिव्यक्ति में सहायक के रूप में प्रयोग हुआ है। विस्तार-भय से यहाँ इनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं हुए हैं।

शैली की दृष्टि से माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण से संयुक्त प्रस्तुत कृति सरल, सहज, बोध-गम्य शैली में निबद्ध है। प्रवाहमयी प्रचलित सरल शब्दों का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। यद्यपि इसमें कुछ क्लिष्ट, अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है; तथापि प्रसंगानुसार पूर्वापर विचार करने पर उनका अर्थ भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ 'तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी' अपने नामानुसार स्वानुभव-स्यंदी शुद्ध-चिद्रूप-स्वरूपी शीतल जल से परिपूर्ण है। भवाताप से संतप्त सभी प्राणी इसमें अवगाहन कर परम शान्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव कर कृतकृत्य हों - इस पावन भावना के साथ प्रस्तुत विषय को विराम देती हूँ।

कल्पना जैन, सागर

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजम्बा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो

उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970 - 07 दिसम्बर 1913) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद तुरन्त ही महात्मा कानजीस्वामी ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आया, जिसका अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित हुआ। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको

असह्य हो गयी। सत्यधर्म का स्वरूप प्रकाशित करने में हिचकना पड़ता था; अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ ग्रन्थाधिराज समयसार पर प्रवचन प्रारम्भ करने के पश्चात् दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व

में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। **सुवर्ण-सन्देश** नामक साप्ताहिक पत्रिका अक्टूबर 1960 से अप्रैल 1962 तक प्रकाशित हुई। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। मूल दिगम्बर जैनों को भी आपने सच्चा दिगम्बर बनाया।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। ईस्वीं सन् 1980 तक पूज्य कृपालु कहान गुरुदेव की उपस्थिति तक बाईस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर की ओर से भी इस समय तक आठ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सत्साहित्य द्वारा इस वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो अनवरतरूप से अभी भी चल रही है।

वर्तमान में सत्साहित्य का प्रकाशन सोनगढ़ के उपरान्त भावनगर, राजकोट, मुम्बई, देवलाली, जयपुर, अलीगढ़, सोनागिर, इत्यादि अनेक स्थानों से हो रहा है। अब तो पूज्य गुरुदेवश्री की रिकार्डिंग वाणी के अक्षरश: प्रकाशन भी प्रारम्भ हुए हैं। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर अमाप करुणा बरसायी है, तत्त्व जिज्ञासु जीवों के लिए यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, जो अनवरतरूप से चल रहा है। ईस्वीं सन् 1967 से श्री वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड जयपुर द्वारा प्रतिवर्ष सम्पूर्ण भारत में वीतराग-विज्ञान पाठशाला के सैकड़ों केन्द्रों पर धार्मिक परीक्षा का आयोजन किया जाता है। जिसमें बालकों के साथ-साथ छोटे-बड़े जिज्ञासु भाई-बहिन

हजारों की संख्या में मूल तत्त्वज्ञान सिखते हैं। बालकों के तत्त्वज्ञान का बीजारोपण करने हेतु प्रशिक्षित अध्यापक तैयार करने के लिये, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर इस शृंखला की अविस्मरणीय कड़ी है, जो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का विनम्र प्रयास है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज (28 फरवरी 1941) के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई और आज भी यह प्रवृत्ति अनवरतरूप से चल रही है।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत्

2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था। दिनांक 29 नवम्बर 1980 शुक्रवार (कार्तिक कृष्ण 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजक बनाकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको

तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।

2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।

4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।

5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।

6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

विषयानुक्रमणिका

विषय	*पृष्ठांक*
प्रकाशकीय.....	०३
मनोगत..... कल्पना जैन	०४
ग्रन्थकार और ग्रन्थ परिचय... कल्पना जैन	०५

अध्याय क्रं०	*प्रतिपाद्य विषय*	*पद्य क्रं०*	*कुल पद्य*	
१	शुद्ध-चिद्रूप का लक्षण-प्रतिपादक	१-२०	२०	०१
२	शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में उत्साह-प्रदाता	२१-४५	२५	१९
३	शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का उपाय बतानेवाला	४६-७०	२५	४०
४	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति की सरलता-प्रतिपादक	७१-९३	२३	५९
५	शुद्ध-चिद्रूप की पूर्व में प्राप्ति न होने का निरूपक	९४-११५	२२	७५
६	शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करने की निश्चलता का प्ररूपक	११६-१३५	२०	८८
७	शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में नयों का आश्रय	१३६-१५८	२३	१०२
८	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति में भेद-ज्ञान की आवश्यकता	१५९-१८०	२२	११५
९	शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-हेतु मोह-त्याग की उपयोगिता	१८१-२०२	२२	१३०
१०	शुद्ध-चिद्रूप-ध्यानार्थ अहंकार-ममकार के त्याग का उपदेश	२०३-२२३	२१	१४६
११	शुद्ध-चिद्रूप-रुचिवान की विरलता-प्रतिपादक	२२४-२४५	२२	१५६
१२	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति का एक मात्र उपाय-सम्यक् रत्नत्रय	२४६-२६७	२२	१६९
१३	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति-हेतु विशुद्धि की आवश्यकता	२६८-२९०	२३	१८२
१४	प्रत्येक कार्य में शुद्ध-चिद्रूप-स्मरण का प्रतिपादक	२९१-३१२	२२	१९७
१५	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति-हेतु पर-द्रव्य-त्याग का उपदेश	३१३-३३२	२०	२११
१६	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति-हेतु एकांत-स्थान का महत्त्व	३३३-३५३	२१	२२६
१७	शुद्ध-चिद्रूप में प्रीति-वर्धक	३५४-३७३	२०	२३९
१८	शुद्ध-चिद्रूप-प्राप्ति का क्रम-प्रतिपादक	३७४-३९२	१९	२५४
	ग्रन्थ-रचना का हेतु	३९३	१	२६३
	ग्रन्थ नाम, ग्रन्थकर्ता नाम	३९४	१	२६४
	ग्रन्थ का फल-प्रतिपादक	३९५	१	२६५
	ग्रन्थ-रचना-काल	३९६	१	२६५
	ग्रन्थ-परिमाण	३९७	१	२६६

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

॥ शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ॥

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः॥ १॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान्॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥ ३॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमद्भट्टारकश्री-ज्ञानभूषणविरचितम्।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ १॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ २॥

ॐ

भट्टारकश्री ज्ञानभूषण-विरचिता

तत्त्वज्ञान-तरंगिणी

पहला अध्याय

शुद्धचिद्रूप का लक्षण

ग्रन्थ-प्रारम्भ करने-हेतु परम्परा के अनुसार यहाँ सर्व प्रथम मंगलाचरण और प्रतिज्ञा-वाक्य का सूचक छन्द लिखते हैं—

अनुष्टुप् : **प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं, सानंदं जगदुत्तमम्।**
तल्लक्षणादिकं वच्मि, तदर्थी तस्य लब्धये।।१।।

हिन्दी का सम्पूर्ण पद्यानुवाद हरिगीतिका छन्द में है।

सानन्द सर्वोत्तम त्रिजग, चिद्रूप शुद्ध को कर नमन।
कहता उसी के लक्षणादि, तदर्थी तद्लब्धि हित।।१।।

अन्वयार्थ : सानन्दं=स+आनन्दं=आनन्द-सहित; **जगदुत्तमं**=जगत्+उत्तमं=जगत में उत्तम/सर्व-श्रेष्ठ; **शुद्धचिद्रूपं**=शुद्ध+चित्+रूपं=शुद्ध चित् रूप को; **प्रणम्य**=प्रणाम कर; **तदर्थी**=तत्+अर्थी=उसका इच्छुक/मैं ग्रन्थकार ज्ञान-भूषण; **तस्य**=उसकी/उस शुद्ध चिद्रूप की; **लब्धये**=प्राप्ति/पर्याय में प्रगटता के लिए; **तल्लक्षणादिकं**=तत्+लक्षण+आदिकं=उसके लक्षण आदि को; **वच्मि**=कहता हूँ।।१।।

अर्थ : निराकुलतारूप अनुपम आनन्द भोगनेवाले, समस्त जगत में उत्तम, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप को नमस्कार कर उसकी प्राप्ति का अभिलाषी, मैं (ग्रन्थकार) उसके लक्षण आदि का प्रतिपादन करता हूँ।

भावार्थ : इस श्लोक में शुद्ध-चिद्रूप विशेष्य और सानन्द एवं जगदुत्तम उसके विशेषण हैं। यहाँ पर शुद्ध आत्मा की जगह 'शुद्ध-चिद्रूप' ऐसा कहने से यह आशय प्रगट किया है कि ज्ञान आदि रूप चेतना और आत्मा जुदे पदार्थ नहीं - ज्ञान आदिरूप ही आत्मा है। अनेक महाशय आत्मा को आनन्द स्वरूप नहीं मानते, उससे आनन्द को जुदा मानते हैं; इसलिए उनको समझाने के लिये 'सानन्द' पद कहा है; अर्थात् आत्मा आनन्द-स्वरूप है।

नास्तिक आदि शुद्ध-चिद्रूप को मानते नहीं और उनकी दृष्टि में वह उत्तम भी नहीं जचता, इसलिए उनके बोधनार्थ यहाँ 'जगदुत्तम' पद दिया है; अर्थात् लोक के समस्त पदार्थों में शुद्ध-चिद्रूप ही उत्तम है।।१।।

अब, उस शुद्ध चिद्रूप का लक्षण बताते हैं —

आर्या : **पश्यत्यवैति विश्वं, युगपन्नोकर्मकर्मणामणुभिः।**
अखिलैर्मुक्तो योऽसौ, विज्ञेयः शुद्धचिद्रूपः।।२।।

युगपत् सकल जग जानता, है देखता सबसे पृथक्।
नोकर्म कर्म अणु सभी से, जान शुद्ध चिद्रूप वह।।२।।

अन्वयार्थ : [**यः**] जो; [**विश्वं**] विश्व को; [**युगपत्**] एक साथ; [**पश्यति**] देखता है; [**अवैति**] जानता है; [**अखिलैः**] सम्पूर्ण; [**नोकर्म**] (शरीरादि) नोकर्म; [**कर्मणामणुभिः**] कर्मणां+अणुभिः=कर्मों के अणुओं/परमाणुओं से; [**मुक्तः**] रहित है; [**असौ**] वह; [**शुद्ध+चित्+रूपः**] शुद्ध चित् रूप (है); (ऐसा) [**विज्ञेयः**] जानना चाहिए।।२।।

अर्थ : जो समस्त जगत को एक साथ देखने-जाननेवाला है। नोकर्म और कर्म के परमाणुओं (वर्गणाओं) से रहित है, उसे शुद्ध-चिद्रूप जानना चाहिए।

भावार्थ : कार्मण-जाति की पुद्गल-वर्गणायें लोकाकाश में सर्वत्र भरी हुई हैं और

तेल आदि की चिकनाई से युक्त पदार्थ पर जिस प्रकार पवन से प्रेरे धूलि के रेणु आकर लिपट जाते हैं; उसी प्रकार स्फटिक पाषाण के समान निर्मल भी, राग-द्वेषरूपी चिकनाई से युक्त आत्मा के साथ कार्मण-जाति की वर्गणायें संबद्ध हो जाती हैं और इसके ज्ञान-दर्शन आदि स्वभावों को ढक देती हैं; परन्तु जो समस्त नोकर्म और कर्मों की वर्गणाओं से रहित है और विरोधी-कर्म (केवल) दर्शनावरण एवं (केवल) ज्ञानावरण का नाशकर अपने अखण्ड दर्शन और अखण्ड ज्ञान से समस्त लोक को एक साथ देखने-जाननेवाला है, उसी का नाम शुद्ध-चिद्रूप है।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक - ये तीन शरीर एवं आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन - इन छह पर्याप्तियों के योग्य कर्म-पुद्गल, नोकर्म हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म कहे जाते हैं।।२।।

अब, इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **अर्थान् यथास्थितान् सर्वान्, समं जानाति पश्यति।**
निराकुलो गुणी योऽसौ, शुद्धचिद्रूप उच्यते।।३।।

जो जानता है देखता, युगपत् यथा स्थित सभी।
द्रव्यों को कहते शुद्ध चिद्रूप, निराकुल वह गुणी भी।।३।।

अन्वयार्थ : निराकुलो=निः+आकुलः=आकुलता से पूर्णतया रहित; **गुणी**=गुण-सम्पन्न; **यः**=जो; **यथा**=जिस रूप में; **स्थितान्**=स्थित/विद्यमान; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **अर्थान्**=पदार्थों को; **समं**=एक साथ; **जानाति**=जानता है; **पश्यति**=देखता है; **असौ**=वह; **शुद्ध+चित्+रूपः**=शुद्ध चिद्रूप (है); (ऐसा) **उच्यते**=कहा है।।३।।

अर्थ : जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है, उन्हें उसी रूप से एक साथ जानने-देखनेवाला, आकुलता-रहित और समस्त गुणों का भण्डार शुद्ध-चिद्रूप कहा जाता है।

यहाँ इतना विशेष है कि पहले श्लोक से सिद्धों को शुद्ध-चिद्रूप कहा है और इस श्लोक से अरहन्त भी शुद्ध-चिद्रूप हैं, यह बात बतलायी है।

अब, इसे ग्रहण करने की विधि बताते हैं—

आर्या : **स्पर्शरसगंधवर्णैः, शब्दैर्मुक्तो निरंजनः स्वात्मा।**
तेन च खैरग्राह्योऽसावनुभावना* गृहीतव्यः।।४।।

स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द विहीन अंजन रहित निज।
आतम अगोचर इन्द्रियों से, आत्मभावन से ग्रहण।।४।।

अन्वयार्थ : स्वात्मा=स्व+आत्मा=अपना आत्मा/स्वयं; **स्पर्श+रस+गन्ध+वर्णैः**= स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से; **च**=और; **शब्दैः**=शब्द से; **मुक्तः**=रहित; **निरंजनः**=निः+अंजनः= अंजन/रागादि कालिमा से निः/रहित (है); **तेन**=उस कारण; **खैः**=इन्द्रियों से; **अग्राह्यः**=ग्रहण करने-योग्य नहीं है; **असौ**=वह; **अनुभावना**=आत्मा के अनुभव से अथवा अनुभवना=आत्मा के उसरूप परिणमन से; **गृहीतव्यः**=ग्रहण करने के योग्य है।।४।।

अर्थ : यह स्वात्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों से रहित है, निरंजन है; इसलिए किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत न होकर अनुभव से / स्वानुभव प्रत्यक्ष से इसका ग्रहण होता है।

भावार्थ : जिस पदार्थ में स्पर्श, रस आदि गुण होते हैं, उसका ही प्रत्यक्ष, स्पर्शन आदि इन्द्रियों से होता है; अन्य का नहीं। इस स्वात्मा/शुद्ध आत्मा में कोई स्पर्श आदि नहीं है; इसलिए स्पर्श के अभाव से इसे स्पर्शन इन्द्रिय से, रस के अभाव से रसना इन्द्रिय से, गन्ध के अभाव से घ्राण इन्द्रिय से, वर्ण के अभाव से चक्षुरिन्द्रिय से और शब्द के अभाव से श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं जान सकते; किन्तु केवल 'अहं-अहं' इस अन्तर्मुखाकार प्रत्यक्ष से इसका ज्ञान होता है—ऐसा जानना चाहिए।।४।।

अब, पाँचवें से सातवें पर्यन्त तीन छन्दों द्वारा, संयोग और संयोगी भावों से भिन्न स्व चिद्रूप लक्षणमय अपना स्वरूप स्पष्ट करते है—

आर्या : **सप्तानां धातूनां, पिंडो देहो विचेतनो हेयः।**
तन्मध्यस्थोऽवैतीक्षतेऽखिलं यो हि सोहं चित्।।५।।

आजन्म-यदनुभूतं, तत्सर्वं यः स्मरन् विजानाति।
कररेखावत् पश्यति, सोऽहं बद्धोऽपि कर्मणाऽत्यंतम्।।६।।

* भवना - इति पाठः।

श्रुतमागमात् त्रिलोके त्रिकालजं चेतनेतरं वस्तु।
यः पश्यति जानाति च, सोऽहं चिद्रूप लक्षणो नान्यः।।७।।त्रिकं।।

नित सात धातु पिण्ड तन, चेतन रहित है हेय ही।
तन में रहे सब देखे जाने, मैं यही चिद्रूप ही।।५।।

जो जन्म से अनुभूत सबको, जानता है याद कर।
वह गाढ़ कर्मों से बँधा भी, देखता कररेखवत्।।६।।

सब चित् अचित् वस्तु, त्रिलोक त्रिकाल आगम से सुनीं।
जो जाने देखे वही मैं, चिद्रूप लक्षण अन्य नहिं।।७।।

अन्वयार्थ : विचेतनः=चेतना से पूर्णतया रहित; **सप्तानां**=सात; **धातूनां**=धातुओं का; **पिण्डः**=समूह; (यह) **देहः**=शरीर; **हेयः**=छोड़ने-योग्य (है); **तन्मध्यस्थः**=तत्+मध्य +स्थः=उसके बीच में/उसमें रहनेवाला; **यः**=जो; **अखिलं**=सभी को; **अवैति**=जानता है; **ईक्षते**=देखता है; **हि**=वास्तव में; **सोऽहं**=सः+अहं=वह मैं; **चित्**=चेतन (हूँ)।।५।।

कर्मणा=कर्म से; **अत्यन्तं**=अत्यधिक/विशिष्ट एक-क्षेत्रावगाहरूप से; **बद्धोऽपि**= बद्धः+अपि=बँधा होने पर भी; **आजन्म**=जन्म से लेकर/अनादि-काल से; **तदनुभूतं**= यत्+अनुभूतं=जिनका अनुभव (किया है); **तत्**=उन; **सर्वं**=सभी को; **स्मरन्**=याद करता हुआ; **यः**=जो; **विजानाति**=जानता है; **कर-रेखा-वत्**=हाथ की रेखा के समान; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वह; **अहं**=मैं (हूँ)।।६।।

त्रिलोके=तीन लोक में विद्यमान; **त्रिकाल-जं**=तीन काल संबंधी व्यक्त परिणमनमय; **श्रुतं**=श्रुत (ज्ञान की विषयभूत); **चेतनेतरं**=चेतन+इतरं=चेतन और अन्य/अचेतन; **वस्तु**= पदार्थ को; **यः**=जो; **पश्यति**=देखता है; **च**=और; **जानाति**=जानता है; **चिद्रूप**=चेतना-स्वरूप; **लक्षणः**=लक्षणमय; **सोऽहं**=सः+अहं=वह मैं (हूँ); **नान्यः**=न+अन्यः=अन्य नहीं (हूँ)।।७।।

अर्थ : यह शरीर शुक्र, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं का समुदाय-स्वरूप है, चेतना-शक्ति से रहित और त्यागने-योग्य है एवं जो इसके भीतर समस्त पदार्थों को देखने-जाननेवाला है, वह मैं आत्मा हूँ।।५।।

जन्म से लेकर आज तक जो भी अनुभव है, उन सबको स्मरण कर हाथ की रेखाओं के समान जो जानता-देखता है, वह ज्ञानावरण आदि कर्मों से कड़ी रीति से जकड़ा हुआ भी मैं वास्तव में शुद्ध-चिद्रूप ही हूँ।।६।।

तीन लोक और तीनों कालों में विद्यमान चेतन और जड़ पदार्थों को आगम से श्रवण कर जो देखता-जानता है, वह चैतन्यरूप लक्षण का धारक मैं स्वात्मा हूँ। मुझ सरीखा अन्य कोई नहीं हो सकता।।७।।

इन श्लोकों से आचार्य-उपाध्याय और सामान्य मुनियों का भी शुद्ध-चिद्रूप पद से ग्रहण किया है।

शुद्ध-चिद्रूप पद से किन-किन का ग्रहण है, इस बात को स्वयं ग्रन्थकार भी दिखाते हैं।

अब, शुद्ध चिद्रूप के वाच्य को बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूप इत्युक्ते, ज्ञेया: पंचार्हदादय:।**
अन्येऽपि तादृशा: *शुद्ध-शब्दस्य बहुभेदत:।।८।।

नित 'शुद्ध चिद्रूप' इस कथन में पंच परमेष्ठी समझ।
नित शुद्ध के बहु भेद से, तत्सम इतर भी सब समझ।।८।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-शब्दस्य=शुद्ध शब्द के; **बहु-भेदत:**=अनेक भेद होने से; **शुद्ध-चित्-रूप:**=शुद्ध चित् रूप; **इत्युक्ते**=इति+उक्ते=ऐसा कहने पर; **पंचार्हदादय:**= पंच+अर्हत्+आदय:=अरहन्त आदि पाँच; **तादृशा:**=उनके समान; **अन्येऽपि**=अन्ये+ अपि=अन्य भी; **ज्ञेया:**=जान लेना चाहिए।।८।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप पद से यहाँ पर अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु - इन पाँचों परमेष्ठियों का ग्रहण है तथा इनके समान अन्य शुद्धात्मा भी 'शुद्ध-चिद्रूप' शब्द से लिये हैं; क्योंकि 'शुद्ध' शब्द के बहुत से भेद हैं।

भावार्थ : यदि शुद्ध निश्चय-नय से कहा जाय तो सिद्ध-परमेष्ठी ही शुद्ध-चिद्रूप

* शुद्धा: - इति पाठ:।

हो सकते हैं; परन्तु यहाँ पर भावी-नैगम-नय से मुनि आदि को भी शुद्ध-चिद्रूप माना है; क्योंकि आगे ये भी सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त करेंगे।।८।।

अब, प्रति-समय इस शुद्ध चिद्रूप के स्मरण का कारण बताते हैं—

स्रग्धरा : **नो दृग् नो धीर्न वृत्तं, न तप इह यतो, नैव सौख्यं न शक्ति-**
र्नादोषो नो गुणीनो, न परमपुरुषः, शुद्धचिद्रूपतश्च।।
नोपादेयोप्य*हेयो, न न पररहितो, ध्येयरूपो न पूज्यो।
नान्योत्कृष्टश्च तस्मात्, प्रतिसमयमहं, तत्स्वरूपं स्मरामि।।९।।

चिद्रूप बिन दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, चारित्र नहीं तप।
नहिं सौख्य शक्ति नहिं अदोष, न गुण परमपुरु शुद्धयुत।।
नहिं उपादेय अहेय नहिं, पर पृथक् नहिं ध्येयरूप नहिं।
नहिं पूज्य नहिं उत्कृष्ट कोई, याद कर चिद्रूप ही।।९।।

अन्वयार्थ : **इह**=इस लोक में; **यतः**=क्योंकि; **शुद्ध-चित्-रूपतः**=शुद्ध चित् रूप से; **च**=और/अतिरिक्त/पृथक्; **दृक्**=दर्शन; **नो**=नहीं है; **धीः**=ज्ञान; **नो**=नहीं है; **वृत्तं**=चारित्र; **न**=नहीं है; **तपः**=तप; **न**=नहीं है; **सौख्यं**=सौख्य; **नैव**=न+एव=नहीं ही है; **शक्तिः**=बल/सामर्थ्य; **न**=नहीं है; **अदोषः**=दोषों का अभाव; **न**=नहीं है; **गुणीतः**=गुणवान; **नो**=नहीं है; **परम-पुरुषः**=परम-पुरुष; **न**=नहीं है; **उपादेयः**=ग्रहण करने के योग्य; **न**=नहीं है; **अहेयः**=नहीं छोड़ने के योग्य; **न**=नहीं है; **पर-रहितः**=पर से रहित; **न**=नहीं है; **ध्येयरूपः**=ध्यान करने के योग्य विषय; **न**=नहीं है; **पूज्यः**=पूजन करने के योग्य; **न**=नहीं है; **नान्योत्कृष्टश्च**=न+अन्य+उत्कृष्टः+च=कोई और दूसरा उत्कृष्ट नहीं है; **तस्मात्**=उस कारण; **प्रतिसमयं**=प्रति-समय; **अहं**=मैं; **तत्स्वरूपं**=उस अपने रूप का; **स्मरामि**=स्मरण करता हूँ।।९।।

अर्थ : यह शुद्ध-चिद्रूप ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है; तप, सुख, शक्ति और दोषों के अभाव-स्वरूप है; गुणवान और परम पुरुष है; उपादेय/ग्रहण करने-योग्य और अहेय/न त्यागने-योग्य है। पर-परिणति से रहित, ध्यान करने-योग्य है। पूज्य और

* योऽपि हेयो - इति पाठः।

सर्वोत्कृष्ट है; किन्तु शुद्ध-चिद्रूप से भिन्न कोई पदार्थ उत्कृष्ट नहीं; इसलिए प्रति-समय मैं उसी का स्मरण, मनन करता हूँ।

भावार्थ : संसार में जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, सुख आदि पदार्थों को हित-कारी और उत्तम मानते हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से ये सब अपने आप आकर प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध-चिद्रूप से भिन्न कोई पदार्थ नहीं; इसलिए जिन महानुभावों को सम्यग्दर्शन आदि पदार्थों को पाने की अभिलाषा है; उन्हें चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप का ही स्मरण-मनन-ध्यान करें।।९।।

अब, इस शुद्ध चित् रूप की उत्तमता का कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो, ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः।**
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि, तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः।।१०।।

चिद्रूप ज्ञाता दृष्टा भि, है ज्ञेय दृश्य स्वभाव से।
अतएव सर्वोत्तम यही, इसके समान न अन्य हैं।।१०।।

अन्वयार्थ : ज्ञेयः=जानने के योग्य; **दृश्यः**=देखने के योग्य; **अपि**=(होने पर) भी; **चित्-रूपः**=(यह) चित् रूप; **स्वभावतः**=स्वभाव से; **ज्ञाता**=जाननेवाला; **दृष्टा**= देखनेवाला (है); **अन्यानि**=अन्य दूसरे; **द्रव्याणि**=द्रव्य; **तथा**=इस प्रकार के स्वभाववाले; **न**=नहीं हैं; **तस्मात्**=उस कारण; **सः**=वह; **द्रव्य+उत्तमः**=द्रव्यों में उत्तम; **अस्ति**=है।।१०।।

अर्थ : यद्यपि यह चिद्रूप, ज्ञेय/ज्ञान का विषय, दृश्य/दर्शन का विषय है; तथापि स्वभाव से ही यह पदार्थों को जानने और देखनेवाला है; परन्तु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं, जो ज्ञेय और दृश्य होने पर जानने-देखनेवाला हो; इसलिए यह चिद्रूप समस्त द्रव्यों में उत्तम है।

भावार्थ : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छह प्रकार के हैं। उन सबमें जीव द्रव्य उत्तम है; क्योंकि दूसरों से जाना-देखा जाने पर भी यह ज्ञाता और दृष्टा है। इससे अन्य सब द्रव्य जड़ हैं; इसलिए वे ज्ञान और दर्शन के विषय ही हैं; स्वयं अन्य किसी पदार्थ को देखते-जानते नहीं।।१०।।

अब, अपने आत्मा का निश्चय करने की विधि बताते हैं—

स्रग्धरा : **स्मृते: पर्यायाणामवनिजलभृतामिंद्रियार्थागसां च,**
त्रिकालानां स्वान्योदितवचनतते: शब्दशास्त्रादिकानाम्।।
सुतीर्थाणामस्त्रप्रमुखकृतरुजां, क्ष्मारुहाणां गुणानां,
विनिश्चेय: स्वात्मा, सुविमलमतिभिर्दृष्टबोधस्वरूप:।।११।।

पर्याय भू जलधि विषय, पंचेन्द्रियों के पाप की।
त्रैकाल निज पर वचन से, शब्दादि शास्त्रादि सभी।।
सत्तीर्थ शस्त्रादि गुणों से, रोग पादप स्मृति।
से समझ निर्मल मति द्वारा, स्वयं ज्ञ दर्शनमयी।।११।।

अन्वयार्थ : पर्यायाणां=पर्यायों की; **अवनि**=पृथ्वी की; **जलभृतां**=समुद्रों की; **इन्द्रिय+अर्थ**=इन्द्रियों के विषयों; **च**=और; **आगसां**=अपराधों की; **स्मृते:**=स्मृति से; **स्वान्योदित**=स्व+अन्य+उदित=अपने और दूसरों द्वारा प्रगट हुई; **त्रिकालानां**=तीनों कालों की; **वचन–तते:**=वचनों की पंक्ति/वार्तालाप से; **शब्द–शास्त्र**=व्याकरण, न्याय; **आदिकानां**=आदि की; **सुतीर्थानां**=यथार्थ तीर्थों की; **अस्त्र–प्रमुख–कृत–रुजां**=अस्त्र आदि से व्यक्त हुए रोगों/घावों की; **क्ष्मारुहाणां**=वृक्षों की; **गुणानां**=गुणों की; **सुविमल–मतिभि:**=अत्यन्त स्पष्ट मति/जानकारी के द्वारा; **दृष्ट–बोध–स्वरूप:**=दर्शन–ज्ञान–स्वरूपी; **स्व+आत्मा**=अपना आत्मा; **विनिश्चेय:**=भली–भाँति निश्चय करने–योग्य है।।११।।

अर्थ : जिनकी बुद्धि विमल है, स्व और पर का विवेक रखनेवाली है; उन्हें चाहिये कि वे दर्शन–ज्ञान–स्वरूप अपने आत्मा को बाल, कुमार और युवा आदि अवस्थाओं; क्रोध, मान, माया आदि पर्यायों के स्मरण से; पर्वत और समुद्र के ज्ञान से; रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय और अपने अपराधों के स्मरण से; भूत, भविष्य और वर्तमान – इन तीनों कालों के ज्ञान से; अपने, पराये वचनों के स्मरण से, व्याकरण–न्याय आदि शास्त्रों के मनन–ध्यान से; निर्वाण–भूमियों के देखने–जानने से; शस्त्र आदि से उत्पन्न हुए घावों के ज्ञान से; भाँति–भाँति के वृक्षों की पहिचान से और भिन्न–भिन्न पदार्थों के भिन्न–भिन्न गुणों के ज्ञान से पहिचानें।

भावार्थ : जो पदार्थ ज्ञान-शून्य जड़ हैं उनके अन्दर यह सामर्थ्य नहीं कि वे बाल-कुमार-वृद्ध आदि अवस्था; क्रोध, मान, माया आदि पर्याय; पर्वत, समुद्र, रूप आदि इन्द्रियों के विषय; अपने-पराये अपराध, तीन काल, अपने-पर के वचन, न्याय-व्याकरण आदि शास्त्र, निर्वाण-भूमि, घाव आदि का दुःख, भाँति-भाँति के वृक्ष और पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुण जान सकें। उन्हें तो दर्शन-ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही जान सकता है; इसलिए पर्याय आदि के स्मरणरूप ज्ञान को रखनेवाले आत्मा को अन्य पदार्थों से जुदा कर पहिचान लेना चाहिए।।११।।

अब, 'शुद्ध चित् रूप' - इन छह वर्णों का अर्थ ११ वें और १२ वें - इन दो छन्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **ज्ञप्त्या दृक् चिदिति ज्ञेया, सा रूपं यस्य वर्तते।**
स तथोक्तोऽन्यद्रव्येण, मुक्तत्वाच्छुद्ध इत्यसौ।।१२।।
कथ्यते स्वर्णवत् तज्ज्ञैः, सोऽहं नान्योऽस्मि निश्चयात्।
शुद्धचिद्रूपोऽहमिति, षट्वर्णार्थो निरुच्यते।।१३।।युग्मं।।

नित ज्ञान दर्शनमयी चित्, चिद्रूप जिसका रूप यह।
वह अन्य द्रव्यों से पृथक्, इससे कहा नित शुद्ध यह।।१२।।

कहते सुवर्ण समान ज्ञाता, वही मैं नहिं अन्य हूँ।
छह वर्ण का यह अर्थ, निश्चय से सुसत् चिद्रूप हूँ।।१३।।

अन्वयार्थ : ज्ञप्त्या=ज्ञप्ति/जानकारी से; **दृक्**=दर्शन; **इति**=इस प्रकार; **चित्**=चित् को; **ज्ञेया**=जानना चाहिए; **यस्य**=जिसका; **सा**=वह; **रूपं**=रूप/लक्षण; **वर्तते**=है; **सः**=वह; **तथोक्तः**=तथा+उक्तः=उस प्रकार का/चित् रूप कहा गया है; **स्वर्णवत्**=स्वर्ण के समान; **अन्य-द्रव्येण**=दूसरे द्रव्य से; **मुक्तत्वात्**=मुक्त/पूर्णतया रहित होने के कारण; **असौ**=वह; **शुद्धः**=शुद्ध (है); **इति**=इस प्रकार; **तत् ज्ञैः**=उसे जाननेवालों के द्वारा; **कथ्यते**=कहा जाता है; **निश्चयात्**=वास्तव में; **सः**=वह; **अहं**=मैं (हूँ); **अन्यः**=किसी दूसरे रूप; **न**=नहीं; **अस्मि**=हूँ; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शद्ध चित् रूप (हूँ); **इति**=इस प्रकार; **षट्-वर्ण-अर्थः**=छह वर्णों का अर्थ; **निरुच्यते**=निःउच्यते=पूर्ण रूप से कहा गया है।।१२-१३।।

अर्थ : ज्ञान और दर्शन का नाम चित् है। जिसके यह विद्यमान हो, वह चिद्रूप-आत्मा कहा जाता है तथा जिस प्रकार कीट-कालिमा आदि अन्य द्रव्यों से रहित सुवर्ण, शुद्ध सुवर्ण कहलाता है; उसी प्रकार यह चिद्रूप समस्त पर-द्रव्यों से रहित होने से शुद्ध-चिद्रूप कहा जाता है। वही 'शुद्ध-चिद्रूप' निश्चय से 'मैं हूँ' - इस प्रकार 'शुद्ध-चिद्रूप' इन छह वर्णों का परिष्कृत अर्थ समझना चाहिए।

इस चिदानन्द रूप का अन्य द्रव्यों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है; अब, इसका निरूपण करते हैं —

स्रग्धरा : **दृष्टैर्ज्ञातैः श्रुतैर्वा, विहितपरिचितैर्निन्दितैः संस्तुतैश्च,**
नीतैः संस्कार-कोटिं, कथमपि विकृतिं, नाशनं संभवं वै।
स्थूलैः सूक्ष्मैरजीवैरसुनिकरयुतैः, [1]खाप्रियैः खप्रियैस्तै-
[2]रन्यैर्द्रव्यैर्न साध्यं, किमपि मम चिदानंदरूपस्य नित्यम्।।१४।।

देखे सुने जाने बहुत, वेदे प्रशंसा निन्द्य से।
संस्कार संस्कारहीन व्यय, उत्पाद बादर सूक्ष्म से।।
चेतन अचेतन इन्द्रियों को, बुरे अच्छे अन्य से।
मुझ चिदानन्द स्वरूप को, कुछ लाभ नहिं इन सभी से।।१४।।

अन्वयार्थ : दृष्टैः=देखे हुए; **ज्ञातैः**=जाने हुए; **वा**=अथवा; **श्रुतैः**=सुने हुए; **परिचितैः**=परिचितरूप से; **निन्दितैः**=निन्दितरूप से; **च**=और; **संस्तुतैः**=भली-भाँति स्तुतिरूप से; **विहित**=सम्पर्क में आए हों; **संस्कार-कोटिं**=करोड़/अनेकों वार (उपर्युक्त सब होने के कारण) संस्कार को; **नीतैः**=ले जाए गए/प्राप्त हो गए हों; **वै**=अथवा; **कथमपि**=किसी भी प्रकार से; **विकृतिं**=विकृति को; **नाशनं**=विनाश को; **संभवं**=उत्पत्ति को (प्राप्त हुए हों); **तैः**=उन सभी; **स्थूलैः**=स्थूल; **सूक्ष्मैः**=सूक्ष्म; **अजीवैः**=जीव-रहित/अचेतन; **असु-निकर-युतैः**=प्राणों के समूह से सहित/जीव-सहित/सचेतन; **खाप्रियैः**=ख+अप्रियैः=इन्द्रियों को अच्छे नहीं लगनेवाले; **ख-प्रियैः**=इन्द्रियों को अच्छे लगनेवाले; **अन्यैः**=अन्य/दूसरे; **द्रव्यैः**=द्रव्यों से; **मम**=मुझ; **चित् आनन्द-रूपस्य**=

१. खप्रियैः खाप्रिये - इति पाठः। २. रन्यद्रव्ये - इति पाठः।

चिदानन्द-स्वभावी का; **नित्यं**=सदा; **किं अपि**=कुछ भी; **साध्यं**=प्रयोजन; **न**=नहीं है।।१४।।

अर्थ : मेरा आत्मा चिदानन्द-स्वरूप है; मुझे पर-द्रव्यों से, चाहे वे देखे हों, जाने हों, परिचय में आये हों, बुरे हों, भले हों, भले प्रकार संस्कृत हों, विकृत हों, नष्ट हों, उत्पन्न हों, स्थूल हों, सूक्ष्म हों, जड़ हों, चेतन हों, इन्द्रियों को प्रिय हों, वा अप्रिय हों, कोई प्रयोजन नहीं।

भावार्थ : जब तक मुझे अपने चिदानन्द-स्वरूप का ज्ञान न था, तब तक मैं बाह्य पदार्थों में लिप्त था, उन्हें ही अपना समझता था। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, भले, बुरे, प्रिय और अप्रिय आदि मानकर, हर्ष-विषाद करने लगता था; परन्तु जब मुझे आत्मिक चिदानन्द स्वरूप का भान हुआ; तब मुझे स्पष्ट जान पड़ा कि पर-पदार्थों से मेरा किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता; इसलिए इनसे तनिक भी प्रयोजन नहीं सध सकता।।१४।।

अब, इस चिदानन्द का स्वरूप नास्ति-अस्तिरूप में स्पष्ट करते है —

अनुष्टुप् : **विक्रियाभि-रशेषाभि-रंगकर्म-प्रसूतिभिः।**
मुक्तो योऽसौ चिदानंदो, युक्तोऽनंतदृगादिभिः।।१५।।

तन कर्म से उत्पन्न बहुविध विक्रिया से भिन्न ही।
जो वह चिदानन्द मैं, अनन्त दर्शनादि युक्त ही।।१५।।

अन्वयार्थ : **अंग**=शरीर; **कर्म**=ज्ञानावरणादि कर्मों से; **प्रसूतिभिः**=उत्पन्न; **अशेषाभिः**=सभी प्रकार की; **विक्रियाभिः**=विशेष क्रियाओं/पर्यायों से; **यः**=जो; **मुक्तः**=रहित है; **असौ**=वह; **चित्-आनन्दः**=चिदानन्द; **अनन्त**=सीमातीत; **दृग्+आदिभिः**=दर्शन आदि से; **युक्तः**=सहित (है)।।१५।।

अर्थ : यह चिदानन्द, शरीर और कर्मों के समस्त विकारों से रहित है और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान आदि आत्मिक गुणों से संयुक्त है।

भावार्थ : अंग और कर्म, जड़ हैं। वे चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को किसी प्रकार विकृत नहीं बना सकते, इसलिए यह चिदानन्द-स्वरूप आत्मा उनके विकारों से सर्वथा

विमुक्त है तथा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान आदि जो इसके निज-स्वरूप हैं, उनसे सर्वदा भूषित है।।१५।।

अब, इसका अनेकान्त-स्वरूप बताते हुए, प्राप्ति की अपात्रता और पात्रता को प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **असावनेकरूपोऽपि, स्वभावादेकरूपभाक्।**
अगम्यो मोहिनां शीघ्रगम्यो निर्मोहिनां विदाम्।।१६।।

यों विविध रूपी तथापि, इक रूप सतत स्वभाव से।
नहिं ज्ञात मोही को सुशीघ्र, ज्ञात ज्ञ बिन मोह से।।१६।।

अन्वयार्थ : अनेकरूप:+अपि=अनेकरूप होने पर भी; **स्वभावात्**=स्वभाव से; **एक-रूप-भाक्**=एकरूप-पात्रता-सम्पन्न; **असौ**=वह; **मोहिनां**=मोहिओं को; अगम्य/प्राप्त होने-योग्य नहीं है; **निर्मोहिनां**=मोह से रहित; **विदां**=ज्ञानिओं को; **शीघ्र**=जल्दी; **गम्य:**=प्राप्त होने-योग्य है।।१६।।

अर्थ : यद्यपि यह चिदानन्द-स्वरूप आत्मा, अनेक स्वरूप है; तथापि स्वभाव से एक ही स्वरूप है। जो मूढ़ हैं, मोह की शृंखला से जकड़े हुए हैं, वे इसका जरा भी पता नहीं लगा सकते; परन्तु जिन्होंने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया है, वे इसका बहुत जल्दी पता लगा लेते हैं।

भावार्थ : आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुणों का भण्डार है; इसलिए इसे अनन्त ज्ञान-स्वरूप, अनन्त दर्शन-स्वरूप, अनन्त सुख-स्वरूप आदि कहते हैं; परन्तु वास्तव में यह एक स्वरूप/चेतन-स्वरूप ही है। जो मनुष्य मोह के नशे में मत्त हैं; पर-द्रव्यों को अपना मान, सदा उनमें अनुरक्त रहते हैं, वे इस चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का पता रत्ती भर भी नहीं पा सकते; किन्तु जो मोह से सर्वथा रहित हैं, पर-पदार्थों को जरा भी नहीं अपनाते, वे बहुत ही जल्दी इसके स्वरूप का आस्वाद कर लेते हैं।।१६।।

अब, इसके इसी अनन्त धर्मात्मक स्वभाव को पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपोऽयमनाद्यंत: स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक:।**
कर्मणाऽस्ति युतोऽशुद्ध:, शुद्ध: कर्मविमोचनात्।।१७।।

चिद्रूप यह अनादिनिधन, उत्पादव्ययध्रुवता सहित।
है बँधा कर्मों से अशुद्ध, शुद्ध कर्मों से रहित।।१७।।

अन्वयार्थ : अनाद्यन्तः=अन्+आदि+अन्तः=आदि और अन्त से रहित/अनादि अनन्त; **स्थिति**=ध्रुवता; **उत्पत्ति**=उत्पाद; **व्यय**=नाश; **आत्मकः**=स्वरूपवाला; **अयं**=यह; **चिद्रूपः**=चिद्रूप/आत्मा; **कर्मणा**=कर्म से; **युतः**=युक्त/बँधा होने के कारण; **अशुद्धः**=अशुद्ध; **कर्म-विमोचनात्**=कर्मों से भली-भाँति छूट जाने के कारण; **शुद्धः**=शुद्ध; **अस्ति**=है।।१७।।

अर्थ : यह चिदानन्द-स्वरूप आत्मा, अनादि-अनन्त है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - तीनों अवस्था स्वरूप है। जब तक कर्मों से युक्त बना रहता है, तब तक अशुद्ध और जिस समय कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है, उस समय शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ : यह चिदानन्द-स्वरूप आत्मा कब हुआ और कब नष्ट होगा - ऐसा नहीं कह सकते, इसलिए अनादि-अनन्त है। कभी इसकी घट-ज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती है और कभी वह नष्ट होती है तथा इसका चेतना-स्वरूप सदा विद्यमान रहता है; इसलिए यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थाओं का धारक है और जब तक यह कर्मों के जाल में फँसा रहता है, तब तक तो अशुद्ध रहता है और कर्मों से सर्वथा जुदा होते ही शुद्ध हो जाता है।।१७।।

अब, इसकी सदा अपने मन में विद्यमान रहने संबंधी भावना को व्यक्त करते हैं—

शालिनी : **शून्याशून्यस्थूलसूक्ष्मास्तिनास्ति-नित्यानित्याऽमूर्तिमूर्तित्वमुख्यैः।**
धर्मैर्युक्तोऽप्यन्यद्रव्यैर्विमुक्तः, चिद्रूपोऽयं मानसे मे सदास्तु।।१८।।

है शून्याशून्य स्थूल सूक्ष्म, अस्ति नास्ति सदा ही।
है नित्यानित्य अमूर्त मूर्त, अनेकों धर्मोंमयी।।
पर अन्य द्रव्यों से सदा ही, पूर्णतया पृथक् सदा।
चिद्रूप यह मेरे हृदय में, स्वयं शोभित हो सदा।।१८।।

अन्वयार्थ : शून्य=शून्यता; **अशून्य**=अशून्यता; **स्थूल**=स्थूलता; **सूक्ष्म**=सूक्ष्मता; **अस्ति**=है पना/अस्तित्व; **नास्ति**=नहीं है पना/नास्तित्व; **नित्य**=स्थाइत्व; **अनित्य**=अस्थाइत्व; **अमूर्ति**=निराकारता; **मूर्तित्व**=साकारता; **मुख्यैः**=प्रधान/इत्यादि; **धर्मैः**=धर्मों

से; **युक्तः+अपि**=सहित होने पर भी; **अन्य-द्रव्यैः**=अन्य द्रव्यों से; **विमुक्त**=पूर्णतया रहित; **अयं**=यह; **चित्-रूपः**=चिद्रूप आत्मा; **मे**=मेरे; **मानसे**=मन/उपयोग में; **सदा**=प्रति समय; **अस्तु**=रहो।।१८।।

अर्थ : यह चैतन्य-स्वरूप आत्मा शून्यत्व, अशून्यत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, अमूर्तित्व, मूर्तित्व आदि अनेक धर्मों से संयुक्त है और पर-द्रव्यों के सम्बन्ध से विरक्त है, इसलिए ऐसा चिद्रूप सदा मेरे हृदय में विराजमान रहो।

भावार्थ : यह चित्स्वरूप आत्मा निश्चय-नय से कर्मों से सर्वथा रहित है, इसलिए शून्य है; व्यवहार-नय से कर्मों से सम्बद्ध है, इसलिए अशून्य भी है। स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा अस्ति-स्वरूप है; पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा नास्ति-स्वरूप है। स्व-स्वरूप से सदा विद्यमान रहता है, इसलिए द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा नित्य है और प्रति-समय इसके ज्ञान-दर्शन आदि गुणों में परिणमन हुआ करता है, इसलिए पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा अनित्य भी है। कर्मों से क्षीर-नीर की तरह एकमेक है, इसलिए कथंचित् मूर्त भी है और निश्चय-नय से कर्मों से जुदा-जुदा है, इसलिए कथंचित् अमूर्त भी है। इसी प्रकार वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि भी गुण इसके अन्दर विराजमान हैं और शरीर आदि बाह्य द्रव्यों से यह सर्वथा रहित है।।१८।।

अब, शुद्ध चिद्रूप-रत्न की प्राप्ति से पूर्ण तृप्तता का प्रतिपादन करते हैं—

स्रग्धरा : **ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं, मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं,**
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं, न च विशदमतेः, श्रेयमादेयमन्यत्।।
श्रीमत्सर्वज्ञ-वाणी-जलनिधि-मथनात्, शुद्ध-चिद्रूप-रत्नं
यस्माल्लब्धं मयाहो, कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वं प्रियं च।।१९।।

जो अनादि से नहीं पाया, भाग्य से चिद्रूप ही।
यह शुद्ध रत्न मुझे मिला, सर्वज्ञ-वाणी जलनिधि।।
के मथन से अतएव जग में, अन्य कुछ भी है नहीं।
मुझ विशद धी को श्रेय, ध्येय वाच्य कार्य रहा नहीं।।

नहिं शेष अब कुछ ज्ञेय दृश्य, न गम्य श्रव्य न लभ्य ही।
मैं स्वयं को कर ग्रहण स्व में, तृप्त नित संतुष्ट भी।।१९।।

अन्वयार्थ : श्रीमत्=लक्ष्मी-सम्पन्न; सर्वज्ञ-वाणी सब कुछ जाननेवाले की वाणी/जिनवाणीरूपी; **जलनिधि**=समुद्र को; **मथनात्**=मथने से; **यस्मात्**=क्योंकि; **मया**=मुझे; **कथं+अपि**=कैसे भी; **विधिना**=विधि पूर्वक; **अहो!**=आश्चर्य-कारक; **अप्राप्त-पूर्वं**=पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ; **च**=और; **प्रियं**=अत्यधिक रुचिकर/इष्ट; **शुद्ध-चित्-रूप-रत्नं**=शुद्ध चिद्रूपी रत्न; **लब्धं**=प्राप्त हो गया है; (अतः) **विशदमतेः**=निर्मल बुद्धिवाले; **मम**=मुझे; **जगति**=(इस) विश्व में; **अन्यत्**=अन्य दूसरे; **ज्ञेयं**=ज्ञेय/जानने-योग्य; **दृश्यं**=देखने-योग्य; **गम्यं**=प्राप्त करने-योग्य; **न**=नहीं हैं; **कार्यं**=करने-योग्य; **वाच्यं**=कहने-योग्य; **न**=नहीं हैं; **ध्येयं**=ध्यान करने-योग्य; **श्रव्यं**=सुनने-योग्य; **न**=नहीं हैं; **लभ्यं**=उपलब्ध करने-योग्य; **श्रेयं**=कल्याण-योग्य; **आदेयं**=ग्रहण करने-योग्य; **किं+अपि**=कुछ भी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है।।१९।।

अर्थ : भगवान सर्वज्ञ की वाणीरूपी समुद्र के मन्थन करने से मैंने बड़े भाग्य से शुद्ध-चिद्रूपरूपी रत्न प्राप्त कर लिया है और मेरी बुद्धि पर-पदार्थों को निज न मानने से स्वच्छ हो चुकी है; इसलिए अब मेरे संसार में कोई पदार्थ न जानने लायक रहा और न देखने-योग्य, ढूँढ़ने-योग्य, कहने-योग्य, ध्यान करने-योग्य, सुनने-योग्य, प्राप्त करने-योग्य, आश्रय करने-योग्य और ग्रहण करने-योग्य ही रहा; क्योंकि यह शुद्ध-चिद्रूप अप्राप्त-पूर्व/पहले कभी भी प्राप्त न हुआ था, ऐसा है और अति प्रिय है।

भावार्थ : संसार में अन्य समस्त पदार्थ प्राप्त कर लिये। अभी तक केवल शुद्ध-चिद्रूप पदार्थ नहीं पाया था और उसके अभाव में पर-पदार्थों को आत्मिक मानकर बुद्धि भी मलिन हो रही थी; परन्तु भगवान जिनेन्द्र के उपदेश से आज मुझे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो गयी है। पर-पदार्थ कभी मेरे हित-कारी नहीं बन सकते - ऐसा निश्चय होने से मेरी बुद्धि भी निर्मल है; इसलिए संसार में मेरे लिये जानने, देखने, ढूँढ़ने आदि के योग्य कोई पदार्थ न रहा। शुद्ध-चिद्रूप के लाभ से मैंने सबको जान लिया, देख लिया और सुन आदि लिया।।१६।।

अब, शुद्ध चित् रूप को धारण करने की पात्रता का प्ररूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **शुद्धश्चिद्रूपरूपोऽहमिति मम दधे, मंक्षु चिद्रूपरूपं,**
चिद्रूपेणैव नित्यं, सकलमलभिदा, तेन चिद्रूपकाय।।
चिद्रूपाद् भूरिसौख्याज्जगति वरतरात्तस्य चिद्रूपकस्य,
माहात्म्यं वेत्ति नान्यो, विमलगुणगणे *जातु चिद्रूपकेऽज्ञात्।।२०।।

मैं शुद्ध चिद्रूपी स्वयं, चिद्रूप द्वारा सकल मल।
भेदक सतत चिद्रूप ही, धारूँ सदा चिद्रूपमय।।
परिपूर्ण सौख्य स्वरूप-भर, चिद्रूप से जग में नहीं।
है श्रेष्ठ कोई अन्य उस, चिद्रूप का माहात्म्य ही।।
जाने नहीं जो विमल-गुण, गण शुद्ध चिद्रूपत्व में।
हैं अज्ञ कैसे पाएंगे वे, नहीं लगते इसी में।।२०।।

अन्वयार्थ : सकल-मल-भिदा=समस्त विकारों का भेदन करनेवाले; **तेन**=उस; **चित्-रूपेण**=चित् रूप के द्वारा; **एव**=ही; **चित्-रूपकाय**=चित् रूपक के लिए; **जगति**=विश्व में; **वरतरात्**=सर्वश्रेष्ठ; **भूरि-सौख्यात्**=अनन्त सौख्यमय; **चित्-रूपात्**= चित् स्वरूप से; **तस्य**=उस; **मम**=मुझ; **चित्-रूपकस्य**=चित् रूपक के; **नित्यं**=सदा; **चित्-रूप-रूपं**=चित् रूप भाव को; **शुद्धः**=शुद्ध; **चित्-रूप-रूपः**=चित्-रूप-सम्पन्न; **अहं**=मैं; **मंक्षु**=शीघ्र; **माहात्म्यं**=माहात्म्य को; **दधे**=धारण करता हूँ; **विमल-गुण-गणे**=पवित्र गुणों के भण्डार; **चित्-रूपके**=चित् रूपक (के संबंध) में; **अज्ञात्**=अज्ञानी होने से; **अन्यः**=अन्य दूसरा प्राणी उसे; **जातु**=रंचमात्र; **न**=नहीं; **वेत्ति**=जानता है।।२०।।

अर्थ : शुद्ध-चित्स्वरूपी मैं समस्त दोषों को दूर करनेवाले चित्स्वरूप के द्वारा चिद्रूप की प्राप्ति के लिये सौख्य के भण्डार और परम-पावन चिद्रूप से अपने चिद्रूप को नित्य सत्वर धारण करता हूँ। मुझसे भिन्न अन्य मनुष्य उसके विषय में अज्ञ हैं, इसलिए वे चित्स्वरूप को भले प्रकार नहीं जानते और ज्ञान के न होने से उसके माहात्म्य को न जानकर उसे धारण भी नहीं कर सकते।

* गणेजानुचि... - इति पाठः।

भावार्थ : जो मनुष्य जिस बात को जानता है, वही उसकी प्राप्ति के लिये उद्यम करता है और उसे प्राप्त कर सकता है। अज्ञानी मनुष्य अज्ञात पदार्थ की प्राप्ति के लिये न उद्यम कर सकता है और न उसे धारण ही कर सकता है। मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ, ऐसा चिद्रूप का मुझे ज्ञान है और उसके माहात्म्य को भी भले प्रकार समझता हूँ; इसलिए उसके द्वारा, उससे, उसकी प्राप्ति के लिये, मैं उसे धारण करता हूँ; किन्तु जो मनुष्य, चिद्रूप का ज्ञान नहीं रखता और चिद्रूप के माहात्म्य को भी नहीं जानता, वह उसे धारण भी नहीं कर सकता।।२०।।

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा रचित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में एक से बीस पर्यन्त बीस पद्यों द्वारा ''शुद्ध-चिद्रूप का लक्षण'' प्रतिपादन करनेवाला पहला अध्याय समाप्त हुआ।।१।।

दूसरा अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-उत्साह-प्रदाता

शुद्धात्मा के स्मरण-विना, मुनि का मोक्ष नहीं होता है; इसे उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **मृत्पिंडेन विना घटो न न पटस्तंतून् विना जायते,**
धातुर्नैव विना दलं न शकटः काष्ठं विना कुत्रचित्।।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं विना,
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुनेर्मोक्षस्तथा नैव च।।१।।२१।।

सब अन्य साधन हों तथापि, घट नहीं मृत् पिण्ड बिन।
तन्तु विना पट नहीं धातु खान बिन ज्यों काष्ठ बिन।।
गाड़ी नहीं नहिं बीज बिन हो धान्य त्यों शुद्धात्मा।
के स्मरण संतुष्टि बिन, नहिं मोक्ष होता मुनि का।।२१।।

अन्वयार्थ : **अन्येषु**=अन्य अनेकों; **साधनेषु**=साधनों के; **सत्सु**=होने पर; **अपि**=भी; **कुत्रचित्**=कहीं भी; **यथा**=जैसे; **मृत्-पिण्डेन विना**=मिट्टी के पिण्ड के विना; **घटः**=घड़ा; **न**=नहीं; **तन्तून् विना**=तन्तुओं के विना; **पटः**=वस्त्र; **न**=नहीं; **दलं विना**=खण्ड/खुदाई किए विना; **धातुः**=(सुवर्ण आदि) धातु; **न+एव**=नहीं ही; **काष्ठं विना**=लकड़ी के विना; **शकटः**=गाड़ी; **न**=नहीं; **बीजं विना**=बीज के विना; **धान्यं**=(गेहूँ आदि) धान्य; **न**=नहीं; **जायते**=उत्पन्न होता है; **तथा**=उसी प्रकार; **किल**=वास्तव में; **शुद्धात्म-स्मरणं विना**=शुद्धात्मा के स्मरण के विना; **मुनेः**=मुनि का; **मोक्षः**=मोक्ष; **न+एव-च**=नहीं ही (होता है)।।२१।।

अर्थ : जिस प्रकार अन्य सामान्य कारणों के रहने पर भी कहीं भी असाधारण कारण

मिट्टी के पिण्ड के विना घट नहीं बन सकता, तन्तुओं के विना पट, खंदक (जिस जगह गेरु आदि उत्पन्न होते हैं) के विना गेरु आदि धातु, काष्ठ के विना गाड़ी और बीज के विना धान्य नहीं हो सकता; उसी प्रकार जो मुनि मोक्ष के अभिलाषी हैं - मोक्ष-स्थान प्राप्त करना चाहते हैं, वे भी विना शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण के उसे नहीं पा सकते।

भावार्थ : मूल में साधारण कारणों की मौजूदगी होने पर भी यदि असाधारण कारण न हों तो कदापि कार्य नहीं हो सकता। घट की उत्पत्ति में असाधारण कारण मृत्पिण्ड, पट की उत्पत्ति में तन्तु, धातु की उत्पत्ति में खंदक, गाड़ी की उत्पत्ति में काष्ठ और धान्य की उत्पत्ति में असाधारण कारण बीज है। तो जिस प्रकार मृत्पिण्ड आदि के विना घट आदि नहीं बन सकते; उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में असाधारण कारण शुद्ध आत्मा का स्मरण है; इसलिए अन्य हजारों सामान्य कारणों के जुटाने पर भी विना शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण के मोक्ष-प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती; अत: मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषियों को चाहिए कि वे अवश्य शुद्धात्मा का स्मरण करें।।२१।।

अब, चित् रूप के स्मरण की विशेषताएं बताते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **बीजं मोक्षतरोर्भवार्णवतरी दु:खाटवीपावको,**
दुर्गं कर्मभियां विकल्परजसां वात्यागसां रोधनम्।।
शस्त्रं मोहजये नृणामशुभतापर्यायरोगौषधं,
चिद्रूपस्मरणं समस्ति च तपोविद्यागुणानां गृहम्।।२।।२२।।

चिद्रूप का यह स्मरण, नित मोक्षतरु का बीज है।
नित भवोदधि से पार होने हेतु नौका अनल है।।
दुखरूप वन को भस्म करने, सुरक्षित दृढ़ किला है।
नित कर्म से भयभीत को, सब पापरोधक अनिल है।।
नित विकलता रज उड़ाने को, मोह भट को जीतने।
हेतु सुशस्त्र अशुभमयी पर्यायव्याधि मेटने।।
है परम औषधि तपो विद्या गुणों का गृह एक ही।
चिद्रूप का यह मनन घोलन, अत: नित रमना यहीं।।२२।।

अन्वयार्थ : चित्-रूप-स्मरणं=चित् रूप का स्मरण; **मोक्ष-तरोः**=मोक्षरूपी वृक्ष का; **बीजं**=बीज; **भव+अर्णव-तरी**=संसार रूपी समुद्र से पार करने वाली नौका/नाव; **दुःख+अटवी-पावकः**=दुःखरूपी भयंकर वन को जलानेवाली दावानल/भीषण अग्नि; **कर्म-भियां**=कर्मों से भय-भीत के लिए; **दुर्गं**=दृढ़ किला; **विकल्प-रजसां**=विकल्प रूपी धूल को उड़ाने के लिए; **वाति**=तीव्र वेगवाली हवा; **आगसां**=पापों/दोषों को; **रोधनं**=रोकनेवाला; **मोह-जये**=मोह को जीतने-हेतु; **शस्त्रं**=शस्त्र; **नृणां**=मनुष्यों की; **अशुभता-पर्याय-रोग-औषधं**=अशुभता/संक्लेशमय पर्यायोंरूपी रोग को नष्ट करने-हेतु औषधी; **च**=और; **तपो-विद्या-गुणानां**=तप, विद्या, गुणों का; **गृहं**=घर; **समस्ति**=भली-भाँति है।।२२।।

अर्थ : यह शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण मोक्षरूपी वृक्ष का कारण है। संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए नौका है। दुःखरूपी भयंकर वन के लिये दावानल है। कर्मों से भयभीत मनुष्यों के लिये सुरक्षित सुदृढ़ किला है। विकल्परूपी रज को उड़ाने के लिये पवन का समूह है। पापों को रोकनेवाला है। मोहरूप सुभट को जीतने के लिये शस्त्र है। नरक आदि अशुभ पर्यायरूपी रोगों का नाश करने के लिये उत्तम अव्यर्थ औषध है एवं तप, विद्या और अनेक गुणों का घर है।

भावार्थ : जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करनेवाला है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है, संसार को पार कर लेता है, समस्त दुःखों को दूर कर देता है, कर्मों के भय से रहित हो जाता है, विकल्प और पापों का नाश कर देता है, मोह को जीत लेता है, नरक आदि पर्यायों से सर्वदा के लिये छूट जाता है और अनेक तप, विद्या आदि गुणों की भी प्राप्ति कर लेता है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप का अवश्य स्मरण करना चाहिए।।२२।।

शुद्ध चित् रूप की भावना से सभी दुःख पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं; अब, यह निरूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **क्षुत्तृट्रुग्वातशीतातपजलवचसः, शस्त्रराजादिभीभ्यो,**
भार्या-पुत्रारिनैः स्वानल-निगड-गवाद्यश्वरै-कंटकेभ्यः।।
संयोगायोग-दंशि-प्रपतन-रजसो, मान-भंगादिकेभ्यो,
जातं दुःखं न विद्मः, क्व च पटति नृणां, शुद्धचिद्रूपभाजाम्।।३।।२३।।

नित भूख प्यास कठोर वाणी, रोग जल राजा अनिल।
अति शीत गर्मी शस्त्र स्त्री, पुत्र अरि कंटक अनल।।
धनहीन बेड़ी डाँस मच्छर, मान भंग वियोगमय।
गज अश्व पशुकृत अनेकों, दुख सहे यह भयभीत रह।।
इत्यादि बहु विध दुःख भव में, भोगता पर नहिं रहें।
सब नष्ट होते शुद्ध चिद्रूप भावना से जीव के।।२३।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-भाजां=शुद्ध चित् रूप की भावना करने वाले; **नृणां**=मनुष्यों के; **क्षुत्**=क्षुधा(भूख); **तृट्**=तृषा (प्यास); **रुग्**=रोग; **वात**=वायु; **शीत**=ठण्ड; **आतप**=गर्मी; **जल**=पानी; **वचसः**=वचन से; **शस्त्र**=हथियार; **राजा-आदि-भीभ्यः**=राजा आदि के भय से; **भार्या**=पत्नि; **पुत्र**=वेटा; **अरिनैः**=शत्रुओं से; **स्व**=धन; **अनल**=अग्नि; **निगड**=बेड़ी; **गौ+अश्व+आदि**=गाय, घोड़ा आदि; **रै**=इच्छा या वैभव से; **कंटकेभ्यः**= काँटों से; **संयोग**=मिलने; **अयोग**=विछुड़ने; **दंशि**=(डाँस-मच्छर के) काटने; **प्रपतन**=गिरने; **रजसः**=धूल से; **मान-भंग+आदिकेभ्यः**=मान-भंग आदि से; **जातं**=उत्पन्न; **दुःखं**=दुःख; **क्व**=कहाँ; **पटति**=चला जाता है; **च**=और/उसे हम; **न**=नहीं; **विद्मः**=जानते हैं।।२३।।

अर्थ : संसार में जीवों को क्षुधा, तृषा, रोग, वात, ठंडी, उष्णता, जल, कठोर-वचन, शस्त्र, राजा, स्त्री, पुत्र, शत्रु, निर्धनता, अग्नि, बेड़ी, गौ, भैंस, धन, कंटक, संयोग, वियोग, डाँस, मच्छर, पतन, धूलि, मान-भंग आदि से उत्पन्न हुए अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं; परन्तु जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करनेवाले हैं, उनके वे दुःख न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं?

भावार्थ : जो महानुभाव शुद्धात्मा का स्मरण करनेवाले हैं, उन्हें भूख नहीं सताती, प्यास दुःख नहीं देती, रोग नहीं होता, वात नहीं सताती, ठण्ड नहीं लगती, उष्णता व्याकुल नहीं करती, जल का उपद्रव नहीं होता, क्रूर मनुष्यों द्वारा कहे हुये दुष्ट वचन दुःख नहीं पहुँचाते, राजा आदि दण्ड नहीं दे सकते; दुष्ट स्त्री, पुत्र, शत्रुओं से उत्पन्न हुआ दुःख नहीं भोगना पड़ता; निर्धनता/दरिद्रता नहीं होती, अग्नि का उपद्रव सहन नहीं करना पड़ता, बन्धन में नहीं बँधना पड़ता; गौ, अश्व आदि से पीड़ा नहीं होती, धन की चोरी से दुःख नहीं होता, काँटे दुःख नहीं देते, अनिष्ट पदार्थों का संयोग नहीं होता, इष्ट पदार्थ का वियोग नहीं होता,

डाँस-मच्छर दु:ख नहीं दे सकते, पतन नहीं हो सकता तथा धूलि और मान-भंग का भी कष्ट नहीं भोगना पड़ता; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण, परम सुख देनेवाला है।।२३।।

अब, चिद्रूप के ध्यान से प्रगट सुख की महिमा बताते हैं—

अनुष्टुप् : **स कोऽपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत्।**
तदंशोऽपि न जायेत, त्रिजगत्स्वामिनामपि।।४।।२४।।

चिद्रूप के सुध्यान से, जो परम आनन्द प्रगट हो।
नहिं त्रिजग स्वामी इन्द्र आदि, को कभी कुछ अंश हो।।२४।।

अन्वयार्थ : चित्-रूप-ध्यानत:=चित् रूप के ध्यान से; **स:**=वह; **क:+अपि**=कोई भी/अद्भुत; **परम+आनन्द:**=उत्कृष्टतम आनन्द; **भवेत्**=हो/होता है; **तत्+अंश:+अपि**=उसका अंश भी; **त्रि-जगत्**=तीन लोक के; **स्वामिनां+अपि**=स्वामिओं को भी; **न**=नहीं; **जायेत्**=व्यक्त हो सकता है।।२४।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से वह एक अद्वितीय और अपूर्व ही आनन्द होता है कि जिसका अंश भी तीन जगत के स्वामी इन्द्र आदि को प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ : इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र यद्यपि सर्वोत्तम विषय-सुख का भोग करते हैं; परन्तु वह सुख, सुख नहीं कहलाता; क्योंकि वह अनित्य तथा पदार्थों से जन्य होने से शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से उत्पन्न हुए आत्मिक नित्य सुख की अंश मात्र भी तुलना नहीं कर सकता।।२४।।

अब, 'शुद्ध चित् रूप मैं हूँ' इस स्मरण के लाभ बताते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **सौख्यं मोहजयोऽशुभास्रवहतिर्नाशोऽतिदुष्कर्मणा-**
मत्यंतं च विशुद्धता नरि भवेदाराधना तात्त्विकी।
रत्नानां त्रितयं नृजन्म-सफलं संसार-भीनाशनं,
चिद्रूपोऽहमितिस्मृतेश्च समता सद्भ्यो यश: कीर्तनम्।।५।।२५।।

'चिद्रूप मैं' यों स्मरण से, सौख्य हो मोहादि पर।
हो विजय पापास्रव अति दुष्कर्म नष्ट विनष्ट भय।।

अतिशय विशुद्धि वास्तविक, आराधना सद् रत्नत्रय।
हो सफलता नर जन्म की, समता सभी में यश कथन।।२५।।

अन्वयार्थ : **अहं**=मैं; **चित्-रूपः**=चित् रूप (हूँ); **इति**=इस प्रकार के; **स्मृतेः**=स्मरण से; **सौख्यं**=सौख्य; **मोह-जयः**=मोह पर विजय; **अशुभ-आस्रव-हतिः**=अशुभ आस्रवों का विनाश; **च**=और; **अति-दुष्कर्मणां**=तीव्र बुरे कर्मों का; **अत्यन्तं**=पूर्णरूप से; **नाशः**=विनाश (हो जाता है); **विशुद्धता**=विशेष शुद्धता; **नरि**=मनुष्य में; **तात्त्विकी**=तत्त्व परक; **आराधना**=साधना; **त्रितयं**=तीन भेदवाले; **रत्नानां**=(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी) रत्नों की (प्राप्ति); **नृ-जन्म-सफलं**=मनुष्य-जन्म-सफल/सार्थक; **संसार-भी-नाशनं**=संसार के भय का विनाश; **समता**=साम्य-भाव; **सद्भ्यः**=सज्जनों द्वारा; **यशःकीर्तनं**=यश का वर्णन; **भवेत्**=होने लगता है।।२५।।

अर्थ : 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण होते ही नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है; मोह का विजय, अशुभ आस्रव और दुष्कर्मों का नाश, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम तात्त्विक आराधना; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों की प्राप्ति; मनुष्य जन्म की सफलता, संसार के भय का नाश, सर्व जीवों में समता और सज्जनों के द्वारा कीर्ति का गान होता है।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ही जब सौख्य का कर्ता, मोह को जीतनेवाला, अशुभ आस्रव एवं दुष्कर्मों का हर्ता होता है और अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम आराधना सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की प्राप्ति, मनुष्य जन्म की सफलता, संसार के भय का नाश, सर्व जीवों में समता एवं सज्जनों से कीर्ति-गान करानेवाला है; तब उसकी प्राप्ति तो और भी उत्तमोत्तम फल प्रदान करनेवाली होगी; इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप का सदा स्मरण करते हुए उसकी प्राप्ति का उपाय करें।।२५।।

अब, शुद्ध चित् रूप में स्थिर रहनेवाले की उपलब्धिओं का वर्णन करते हैं—

स्रग्धरा : **वृत्तं शीलं श्रुतं चाखिलखजयतपोदृष्टिसद्भावनाश्च,**
धर्मो मूलोत्तराख्या, वरगुणनिकरा, आगसां मोचनं च।
बाह्यांतः सर्वसंगत्यजनमपि विशुद्धांतरंगं तदानी-
मूर्मीणां चोपसर्गस्य सहनमभवच्छुद्धचित्संस्थितस्य।।६।।२६।।

नित शुद्ध चिद्रूप में मगन, व्रत शील श्रुत पा हो जयी।
सब इन्द्रियों का तप सुदृष्टि सुभावना मूलोत्तरी।।
उत्तम गुणों धर्मादिमय, सब पाप नाशक त्याग कर।
सब परिग्रहों का हो विशुद्ध, उपसर्ग बहुविध सहन कर।।२६।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-संस्थितस्य=शुद्ध चित् में भली-भाँति स्थित के; **वृत्तं**=चारित्र; **शीलं**=शील; **च**=और; **श्रुतं**=आगम-ज्ञान (की प्राप्ति); **अखिल**=सभी; **ख**=इन्द्रियों पर; **जय**=विजय; **तपः**=तप; **दृष्टि**=दर्शन; **च**=और; **सद्-भावना**=सम्यक् भावना; **धर्मः**=धर्म; **मूल+उत्तर+आख्या**=मूल और उत्तररूप में प्रसिद्ध या बताए गए; **वर-गुण-निकरा**=श्रेष्ठ गुणों का समूह (प्रगट हो जाता है); **च**=और; **आगसां**=पापों/दोषों का; **मोचनं**=विनाश; **बाह्य**=बहिरंग; **अन्तः**=अन्तरंग; **सर्व**=सम्पूर्ण; **संग**=परिग्रह का; **त्यजनं**=त्याग; **अपि**=भी; **विशुद्ध+अन्तरंगं**=अंतरंग/मन/उपयोग-विशुद्ध; **च**=और; **तदानीं**=उस समय; **उपसर्गस्य**=उपसर्ग की; **ऊर्मीणां**=लहरों का; **सहनं**=सहना; **अभवत्**=हो जाता है।।२६।।

अर्थ : जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप में स्थित है; उसे सम्यक्चारित्र, शील और शास्त्र की प्राप्ति होती है; इन्द्रियों का विजय होता है; तप, सम्यग्दर्शन, उत्तम भावना और धर्म का लाभ होता है; मूल और उत्तररूप कहलाते उत्तम गुण प्राप्त होते हैं; समस्त पापों का नाश, बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग और अन्तरंग विशुद्ध हो जाता है एवं वह नाना प्रकार के उपसर्गों की तरंगों को भी झेल लेता है।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप में मन के स्थिर करने से उत्तमोत्तम गुण प्राप्त होते हैं और दुःख दूर हो जाते हैं; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे कर्म-मल-रहित पवित्र चैतन्य-स्वरूप आत्मा में अपना मन स्थिर करें।।२६।।

अब, पुनः इसे ही स्पष्ट करते हैं—

स्रग्धरा : **तीर्थेषूत्कृष्टतीर्थं, श्रुतिजलधिभवं, रत्नमादेयमुच्चैः,**
सौख्यानां वा निधानं, शिवपदगमने, वाहनं शीघ्रगामि।
वात्यां कर्मौघरेणौ भववनदहने पावकं विद्धि शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं विचारादिति वरमतिमन्नक्षराणां हि षट्कम्।।७।।२७।।

'मैं शुद्ध ही चिद्रूप नित', धीमान ऐसा ध्या सतत।
सर्वोत्कृष्ट सुतीर्थ तीर्थों में जिनागम जलधि नित।।
उत्पन्न उत्तम ग्राह्य, रत्न निधान सौख्य सुवेग मय।
वाहन सदा शिवपद गमन में, कर्म धूली को पवन।।
भववन दहन में तीव्र अग्नि, जान यह षट् अक्षरी।
मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा, ध्या इसे ही रह मगन भी।।२७।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूपः=शुद्ध चित् रूप; **अहं**=मैं (हूँ); **इति**=इस प्रकार के; **विचारात्**=विचार से; **वर**=श्रेष्ठ; **मतिमत्**=बुद्धिवाला (हो जाता है); **हि**=वास्तव में; **अक्षराणां**=अक्षरों का; **षट्कं**=षट्क/छह अक्षरों के इस समूह को; **तीर्थेषु**=तीर्थों में; **उत्कृष्ट-तीर्थं**=सर्व श्रेष्ठ तीर्थ; **श्रुति-जलधि-भवं**=जिनागमरूपी समुद्र से उत्पन्न, **आदेयं**=ग्रहण करने के योग्य; **रत्नं**=रत्न; **वा**=अथवा; **उच्चैः**=उत्कृष्ट; **सौख्यानां**=सौख्यों का; **निधान**=भण्डार; **शिव-पद-गमने**=मोक्ष-स्थान में जाने-हेतु; **शीघ्र-गामी**=तीव्र वेग से चलनेवाला; **वाहनं**=वाहन; **कर्म+औघ-रेणुः**=कर्म के समूहरूपी रज को उड़ाने-हेतु; **वात्यां**=वायु; **भव-वन-दहने**=संसाररूपी वन को जलाने-हेतु; **पावकं**=तीक्ष्ण अग्नि; **विद्धि**=जानो।।२७।।

अर्थ : ग्रन्थकार उपदेश देते हैं कि हे मतिमन्! 'शुद्ध-चिद्रूपरूपोऽहं - मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ' - ऐसा सदा तुझे विचार करते रहना चाहिए; क्योंकि 'शुद्ध-चिद्रूपोऽहं' ये छह अक्षर संसार से पार करने वाले समस्त तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ हैं; शास्त्ररूपी समुद्र से उत्पन्न हुये 'ग्रहण करने के लायक' उत्तम रत्न हैं; समस्त सुखों के विशाल खजाने हैं; मोक्ष स्थान में ले जाने के लिए बहुत जल्दी चलनेवाले वाहन (सवारी) हैं; कर्मरूपी धूलि को उड़ाने के लिए प्रबल पवन हैं और संसाररूपी वन को जलाने के लिए जाज्वल्यमान अग्नि हैं।।२७।।

अब, शुद्ध चित् रूप के स्मरण का फल दिखाते हैं—

इन्द्रवज्रा : **क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि, क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः।**
क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोऽहं स्मरणे न विद्मः।।८।।२८।।

मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा, इस ध्यान में दिखते नहीं।
शुभ अशुभ कर्म, सभी परिग्रह, राग आदि भी सभी।।२८।।

अन्वयार्थ : अहं=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपकः**=शुद्ध चित् स्वभावी (हूँ); **स्मरणे**=(इस) स्मरण में; **शुभ+अशुभानि**=शुभ और अशुभ; **कार्याणि**=कार्य/क्रियाएं; **क्व**=कहाँ; **यान्ति**=चले जाते हैं; **चित्+अचित्-स्वरूपाः**=चेतन और अचेतन स्वभावी; **संगाः**= परिग्रह; **क्व**=कहाँ; **यान्ति**=चले जाते हैं; **राग+आदयः**=राग आदि; **एव**=ही/भी; **क्व**=कहाँ; **यान्ति**=चले जाते हैं; (हम) **न**=नहीं; **विद्मः**=जानते हैं।।२८।।

अर्थ : हम नहीं कह सकते कि 'शुद्धचिद्रूपोऽहं' - 'मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ' - ऐसा स्मरण करते ही शुभ-अशुभ कर्म, चेतन-अचेतन-स्वरूप परिग्रह और राग, द्वेष आदि दुर्भाव कहाँ लापता हो जाते हैं?

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करते ही शुभ-अशुभ - समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, चेतन-अचेतन-स्वरूप परिग्रहों से भी सर्वथा सम्बन्ध छूट जाता है और राग-द्वेष आदि महा-दुष्ट भाव भी एक ओर किनारा कर जाते हैं; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे अवश्य इस चिद्रूप का स्मरण, ध्यान करें।।२८।।

अब, ध्यानों में शुद्धात्मा का ध्यान सर्वोत्तम है; इसे उदाहरणों द्वारा समझाते हैं —

शार्दूल-विक्रीड़ित : **मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं,**
साम्यं तीर्थकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेंद्रो महान्।
भूभृद्भूरुह-धातुपेय-मणिधीवृत्ताप्तगो-मानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः।।९।।२९।।

ज्यों पर्वतों में मेरु तरुओं में कलपतरु धातु में।
उत्तम सुवर्ण सुज्ञान में कैवल्यज्ञान चरित्र में।।
समता रतन में चिन्तामणि गायों में सुरधेनु सदा।
मनुजों में चक्री आप्त में हैं तीर्थकर अमृत कहा।।
सब पेय में सब देवगण में इन्द्र सर्वोत्तम कहा।
त्यों सभी ध्यानों में परम चिद्रूप ध्यान सदा कहा।।२९।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **भूभृत्**=पर्वतों में; **मेरुः**=सुदर्शन मेरु; **भूरुह**=वृक्षों में; **कल्पतरुः**=कल्पवृक्ष; **धातु**=धातुओं में; **सुवर्णं**=सुवर्ण; **पेय**=पीने-योग्य में; **अमृतं**=अमृत/सुधा; **मणि**=मणि/रत्नों में; **चिन्तामणिः**=चिंतामणि; **धी**=ज्ञानों में; **केवलं**=केवल-ज्ञान; **वृत्त**=चारित्रों में; **साम्यं**=समता; **आप्त**=आप्तों में; **तीर्थकरः**=तीर्थंकर; **गो**=गायों में; **सुरगवी**=कामधेनु; **मानव**=मनुष्यों में; **चक्री**=चक्रवर्ती; **च**=और; **अमर्त्येषु**=देवों में; **सुरेन्द्रः**=देवेन्द्र; **एव**=ही; **महान्**=श्रेष्ठ (है); **तथा**=उसी प्रकार; **इह**=यहाँ; **ध्यानेषु**=ध्यानों में; **शुद्ध-आत्मनः**=शुद्ध आत्मा का; **चिन्तनं**=ध्यान (महान है)।।२९।।

अर्थ : जिस प्रकार पर्वतों में मेरु, वृक्षों में कल्पवृक्ष, धातुओं में स्वर्ण, पीने-योग्य पदार्थों में अमृत, रत्नों में चिन्तामणि-रत्न, ज्ञानों में केवलज्ञान, चारित्रों में समतारूप चारित्र, आप्तों में तीर्थंकर, गायों में कामधेनु, मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र महान और उत्तम हैं; उसी प्रकार ध्यानों में शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान ही सर्वोत्तम है।

भावार्थ : जिस प्रकार अन्य पर्वत, मेरु पर्वत की; अन्य वृक्ष, कल्पवृक्ष की; अन्य धातु, स्वर्ण की; अन्य पीने-योग्य पदार्थ, अमृत की और अन्य रत्न आदि पदार्थ चिन्तामणि आदि की तुलना नहीं कर सकते; उसी प्रकार अन्य पदार्थों का ध्यान शुद्धात्मा के ध्यान के समान नहीं हो सकता; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान ही सर्वोत्तम और लाभ-दायक है।।२९।।

शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति ही जीव को संतुष्ट करती है; अब, यह प्ररूपित है—

स्रग्धरा : **निधानानां प्राप्तिर्न च सुरकुरुरुहां, कामधेनोः सुधाया-**
श्चिंतामणिरत्नानामसुरसुरनराकाशगेशेंदिराणाम्।
खभोगानां भोगावनिभवनभुवां, *चाहमिंद्रादिलक्ष्म्या;
न संतोषं कुर्यादिह जगति यथा, शुद्धचिद्रूपलब्धिः।।१०।।३०।।

बहु निधानों की प्राप्ति कल्पतरु सुधा चिन्तामणि।
सुर असुर नर विद्याधराधिप, लक्ष्मी अहमिन्द्र की।।
नित कामधेनु भोगभूमि, भोग तृप्त करें नहीं।
पर शुद्ध चिद्रूपी की लब्धि, करे नित सन्तुष्ट ही।।३०।।

* वाह - इति पाठः।

अन्वयार्थ : इह=इस; **जगति**=विश्व में; **निधानानां**=सम्पत्तिओं की; **प्राप्तिः**= उपलब्धि; **न**=नहीं; **च**=और; **सुर-कुरुरुहां**=कल्पवृक्षों की; **कामधेनोः**=कामधेनु की; **सुधायाः**=अमृत की; **चिन्तामणि-रत्नानां**=चिंतामणि रत्नों की; **असुर**=भवनवासी; **सुर**=देव; **नर**=मनुष्य; **आकाश+ग**=आकाश में चलनेवाले/विद्याधरों के; **ईश**=स्वामिओं की; **इन्दिराणां**=सम्पत्तिओं की; **भोग+अवनि**=भोग-भूमि; **च**=और; **भवनभुवां**=भवन-वासिओं के; **ख**=इन्द्रियों के; **भोगानां**=भोगों की; **अहमिन्द्र+आदि**=अहमिन्द्र आदि की; **लक्ष्म्या**=लक्ष्मी/विभूति की (प्राप्ति भी उस प्रकार के); **सन्तोषं**=सन्तोष को; **न**=नहीं; **कुर्यात्**=कर सकती है; **यथा**=जिस प्रकार का (सन्तोष); **शुद्ध-चित्-रूप-लब्धिः**=शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति करती है।।३०।।

अर्थ : यद्यपि अनेक प्रकार के निधान (खजाने), कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिन्तामणि रत्न; सुर, असुर, नर और विद्याधरों के स्वामियों की लक्ष्मी; भोगभूमियों में प्राप्त इन्द्रियों के भोग और अहमिन्द्र आदि की लक्ष्मी की प्राप्ति संसार में सन्तोष-सुख प्रदान करनेवाली है; परन्तु जिस प्रकार का सन्तोष शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से होता है, वैसा इन किसी से नहीं होता।

भावार्थ : अनेक प्रकार के निधान, कल्पवृक्ष आदि पदार्थ संसार में सर्वथा दुर्लभ हैं/बड़े भाग्य से मिलते हैं; इसलिए इनकी प्राप्ति से सन्तोष होता है; परन्तु वैसा सन्तोष नहीं होता, जैसा कि शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से होता है; क्योंकि निधान, कल्पवृक्ष आदि अनित्य हैं, उनसे थोड़े काल के लिए ही सन्तोष हो सकता है; शुद्ध-चिद्रूप नित्य है/कभी भी इसका नाश नहीं हो सकता; इसलिए इसकी प्राप्ति से जो सुख होता है वह सदा विद्यमान रहता है।।३०।।

अब, सम्यग्ज्ञानिओं द्वारा प्रशंसनीय का प्ररूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **ना दुर्वर्णो विकर्णो गतनयनयुगो, वामनः कुब्जको वा,**
छिन्नघ्राणः कुशब्दो, विकलकरयुतो[1], वाग्विहीनोऽपि पंगुः।
खंजो निःस्वोऽनधीत-श्रुत इह बधिरः, कुष्टरोगादियुक्तः,
श्लाघ्यश्चिद्रूपचिंतापरः[2] इतरजनो, नैव सुज्ञानवद्भिः।।११।।३१।।

१. युगे - इति पाठः। २. परं - इति पाठः।

हो भले काला कूवड़ा, अंधा दरिद्री मूर्ख भी।
नकटा कुवादी कुष्ट रोगी, गूँगा बहरा पंगु भी।।
कर-हीन बौना आदि विकलांगी प्रशंसा योग्य ही।
नित ज्ञानिओं से यदी वह, चिद्रूप ध्याता, अन्य नहिं।।३१।।

अन्वयार्थ : **इह**=इस लोक में; **दुर्वर्णः**=कुरूप; **विकर्णः**=कबरा/बूचा; **गत-नयन-युगः**=दोनों नेत्रों से रहित/अन्धा; **वामनः**=बोना/ठिगना; **कुब्जकः**=कुबड़ा; **वा**=अथवा; **छिन्नघ्राणः**=नकटा; **कुशब्दः**=कर्कश वाणीमय; **विकल-कर-युतः**=हाथ से रहित/ठूँठा; **वाग्-विहीनः**=वाणी से रहित/गूँगा; **पंगु**=पैर-रहित/लूला-लँगड़ा; **खंजः**=केश-रहित/गंजा; **निः-स्वः**=धन-रहित/दरिद्र; **अन्+अधीत+श्रुत**=श्रुत नहीं पढ़ा हुआ/मूर्ख; **बधिरः**=बहरा; **कुष्ठ-रोग-आदि-युक्तः**=कोड़ रोग आदि से सहित (होने पर भी); **सुज्ञान-वद्भिः**=सम्यग्ज्ञानी विद्वानों द्वारा; **चित्-रूप-चिन्ता-परः**=चित् रूप के ध्यान में स्थिर; **श्लाघ्यः**=प्रशंसनीय (है); **ना**=इनसे विपरीत नहीं; **इतर-जनः**=अन्य जन; **न+एव**=(प्रशंसनीय) नहीं ही हैं।।३१।।

अर्थ : जो पुरुष शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता में रत है/सदा शुद्ध-चिद्रूप का विचार करता रहता है, वह चाहे दुर्वर्ण/काला, कबरा/बूचा, अंधा, बोना, कुबड़ा, नकटा, कुशब्द बोलनेवाला, हाथ-रहित/ठूँठा, गूँगा, लूला, गंजा, दरिद्र, मूर्ख, बहरा, कोड़ी आदि कोई भी क्यों न हो; विद्वानों की दृष्टि में प्रशंसा के योग्य है। सब लोग उसे आदरणीय दृष्टि से देखते हैं; किन्तु अन्य सुन्दर भी मनुष्य यदि शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता से विमुख है तो उसे कोई अच्छा नहीं कहता।

भावार्थ : चाहे मनुष्य कुरूप और निर्धन ही क्यों न हो; यदि वह गुणी है तो अवश्य उसके गुणों का आदर-सत्कार होता है; किन्तु रूपवान, धनी मनुष्य भी, यदि गुण-शून्य है तो कोई भी उसका मान नहीं करता। कुबड़ा, अंधा, लँगड़ा आदि होने पर भी, यदि कोई पुरुष शुद्ध-चिद्रूप में रत है तो वह अवश्य आदरणीय है; क्योंकि वह गुणी है और अन्य मनुष्य चाहे वह सुन्दर, सुडौल और धनवान ही क्यों न हो; यदि शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से शून्य है, तो वह कदापि प्रशंसा के योग्य नहीं गिना जाता।।३१।।

अब, शुद्ध चित् रूप के चिन्तन की महिमा बताते हैं—

अनुष्टुप् : **रेणूनां कर्मणः संख्या, प्राणिनो वेत्ति केवली।**
न वेद्मीति क्व यांत्येते, शुद्धचिद्रूपचिंतने।।१२।।३२।।

नित जीव के कर्मों की संख्या, केवली ही जानते।
वे भी चले जाते सभी, चिद्रूप शुध के ध्यान से।।३२।।

अन्वयार्थ : प्राणिनः=प्राणिओं के; **कर्मणः**=कर्म संबंधी; **रेणूनां**=धूल/वर्गणाओं की; **संख्या**=गणना को; **केवली**=सर्वज्ञ भगवान; **वेत्ति**=जानते हैं; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तने**=शुद्ध चित् रूप के चिन्तन में; **एते**=ये; **क्व**=कहाँ; **यान्ति**=चले जाते हैं; **इति**=ऐसा (यह); **न**=नहीं; **वेद्मि**=जानता हूँ।।३२।।

अर्थ : आत्मा के साथ कितने कर्म की रेणुओं (वर्गणाओं) का सम्बन्ध होता है? इस बात की सिवाय केवली के अन्य कोई भी मनुष्य गणना नहीं कर सकता; परन्तु न मालूम शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता करते ही वे अगणित भी कर्म-वर्गणायें कहाँ लापता हो जाती हैं?

भावार्थ : आत्मा के साथ अनन्त वर्गणाओं का प्रति-समय बन्ध होता रहता है, जिनको केवली के सिवाय अन्य कोई जान-देख नहीं सकता; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की भावना से आत्मा के साथ किसी भी कर्म-वर्गणा का सम्बन्ध नहीं होता।।३२।।

अब, उस शुद्ध चित् रूप का स्मरण सदा करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणम्।**
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत्।।१३।।३३।।

वह निजात्मा चिद्रूप शुद्ध, प्रतिक्षण ध्याओ सदा।
इसमें मगनता से सभी, कर्मों का क्षय हो ही सदा।।३३।।

अन्वयार्थ : यस्य=जिसके; **स्मरण-मात्रेण**=स्मरण मात्र से; **सद्यः**=शीघ्र ही; **कर्म-क्षयः**=कर्मों का क्षय; **भवेत्**=हो जाता है; **तं**=उस; **शुद्धं**=शुद्ध; **चित्-रूपं**=चित् रूप; **निज+आत्मानं**=अपने आत्मा का; **प्रतिक्षणं**=सदा ही; **स्मर**=स्मरण करो।।३३।।

अर्थ : हे आत्मन्! स्मरण करते ही समस्त कर्मों का नाश करनेवाले शुद्ध-चिद्रूप

का तू प्रतिक्षण स्मरण कर; क्योंकि शुद्ध-चिद्रूप और स्वात्मा में कोई भेद नहीं; दोनों एक ही हैं।।३३।।

अब, इसका स्मरण ही सर्वोत्कृष्ट स्मरण है; ऐसा निरूपण करते हैं —

अनुष्टुप् : **उत्तमं स्मरणं शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतेः।**
कदापि क्वापि कस्यापि श्रुतं दृष्टं न केनचित्।।१४।।३४।।

'मैं शुद्ध चिद्रूपी' सदा, स्मृति सर्वोत्तम कही।
इसके अलावा अन्य कुछ, उत्तम सुना देखा नहीं।।३४।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूपः=शुद्ध चित् रूप; **अहं**=मैं (हूँ); **इति**=इस प्रकार के; **स्मृतेः**=स्मरण से; **उत्तमं**=श्रेष्ठ; **स्मरणं**=स्मरण; **कदा+अपि**=कभी; **क्व+अपि**= कहीं; **कस्य+अपि**=किसी के भी; **केनचित्**=किसी से; **न**=नहीं; **श्रुतं**=सुना (है); (और न ही) **दृष्टं**=देखा (है)।।३४।।

अर्थ : 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण ही सर्वोत्तम स्मरण माना गया है; क्योंकि उससे उत्तम स्मरण कभी भी, कहीं भी किसी भी स्थान पर हुआ, किसी ने भी न सुना और न देखा है।

भावार्थ : स्त्री-पुत्र आदि का जो स्मरण प्रति-समय इस जीव को होता हुआ, देखा व सुना गया है; उससे भी शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण सर्वोत्तम स्मरण समझना चाहिए।।३४।।

अब, उत्कृष्ट ध्येय को स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन।**
उत्तमं क्वापि कस्यापि, भूतमस्ति भविष्यति।।१५।।३५।।

इस शुद्ध चिद्रूप के समान, न हुआ है होगा नहीं।
कुछ अन्य उत्तम ध्येय इससे, इसे ही ध्याओ सभी।।३५।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-सदृशं=शुद्ध चित् रूप के समान; **उत्तमं**=उत्कृष्ट; **ध्येयं**=ध्येय/ध्यान करने-योग्य; **क्व+अपि**=कहीं भी; **कस्य+अपि**=किसी के भी; **कदाचन** =किसी भी अपेक्षा; **न+एव**=नहीं ही; **भूतं**=हुआ; **अस्ति**=है; **भविष्यति**= होगा।।३५।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप के समान उत्तम और ध्येय/ध्याने-योग्य पदार्थ कदाचित् कहीं भी न हुआ, न है और न होगा; (इसलिए शुद्ध-चिद्रूप का ही ध्यान करना चाहिए)।।३५।।

अब, मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र उपाय बताते हैं —

अनुष्टुप् : **ये याता यांति यास्यंति, योगिनः शिवसंपदः*।**
समासाध्यैव चिद्रूपं, शुद्धमानंदमंदिरम्।।१६।।३६।।

शिव सम्पदा साधक हुए जो, हो रहे हैं होंयगे।
वे शुद्ध आनन्दधाम यह, चिद्रूप ध्याने से हुए।।३६।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **योगिनः**=योगी; **शिव-सम्पदः**=मोक्षरूपी सम्पत्ति को; **याता**=प्राप्त हुए; **यान्ति**=प्राप्त हो रहे हैं; **यास्यन्ति**=प्राप्त होंगे; (वह सभी) **आनन्द-मन्दिरं**=आनन्द के भण्डार; **शुद्धं**=शुद्ध; **चित्-रूपं**=चित् रूप की; **समासाध्या+एव** =भली-भाँति आराधना से ही (सम्भव हुआ है)।।३६।।

अर्थ : जो योगी मोक्ष-नित्यानन्दरूपी संपत्ति को प्राप्त हुए, हो रहे हैं और होंगे; उसमें शुद्ध-चिद्रूप की आराधना ही कारण है। विना शुद्ध-चिद्रूप की भले प्रकार आराधना के कोई मोक्ष, नित्यानन्द नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि यह शुद्ध-चिद्रूप ही आनन्द का मन्दिर है, अद्वितीय नित्य आनन्द प्रदान करनेवाला है।।३६।।

अब, सम्पूर्ण जिनागम के एक मात्र उपादेय को बतलाते हैं —

अनुष्टुप् : **द्वादशांगं ततो बाह्यं, श्रुतं जिनवरोदितम्।**
उपादेयतया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः।।१७।।३७।।

सब जिन कथित अंग बाह्य, अंग प्रविष्ट श्रुत में नित कहा।
बहु विविध में से ग्राह्य है, बस शुद्ध चिद्रूपी सदा।।३७।।

अन्वयार्थ : जिन-वर-उदितं=जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित; **द्वादशांगं**=द्वादशांग/अंग-प्रविष्ट; **ततः**=उससे; **बाह्यं**=बाहर/अंग-बाह्य रूप; **श्रुतं**=आगम (है); **तत्र**=उसमें; **उपादेयतया**=उपादेय रूप से; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शुद्ध चित् रूप; **भाषितः**=कहा गया है।।३७।।

* संपदे - इति पाठः।

अर्थ : भगवान जिनेन्द्र ने अंग-प्रविष्ट (द्वादशांग) और अंग-बाह्य - इन दो प्रकार के शास्त्रों का प्रतिपादन किया है। इन शास्त्रों में यद्यपि अनेक पदार्थों का वर्णन किया है; तथापि वे सब हेय (त्यागने-योग्य) कहे हैं और उपादेय (ग्रहण करने-योग्य) शुद्ध-चिद्रूप को बतलाया है।।३७।।

अब, शुद्ध चिद्रूप के सत् ध्यान का फल दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानाद्गुणाः सर्वे भवंति च।**
दोषाः सर्वे विनश्यंति, शिवसौख्यं च संभवेत्।।१८।।३८।।

इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, होते सभी गुण सौख्य शिव।
भी हो इसी से नष्ट होते हैं इसी से दोष सब।।३८।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यानात्=शुद्ध चित् रूप के समीचीन ध्यान से; **सर्वे**=सभी; **गुणाः**=गुण; **भवन्ति**=होते/प्रगट हो जाते हैं; **च**=और; **सर्वे**=सभी प्रकार के; **दोषाः**=दोष; **विनश्यन्ति**=विशेष रूप से नष्ट हो जाते हैं; **च**=और; **शिव-सौख्यं**=कल्याणमय मोक्ष का सौख्य; **संभवेत्**=व्यक्त हो जाता है।।३८।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप का भले प्रकार ध्यान करने से समस्त गुणों की प्राप्ति होती है, राग-द्वेष आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और निराकुलतारूप मोक्ष-सुख मिलता है।।३८।।

अब, इसी के फल को और स्पष्ट करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **चिद्रूपेण च घातिकर्महननाच्छुद्धेन धाम्ना स्थितं,**
यस्मादत्र हि वीतरागवपुषो नाम्नापि नुत्यापि च।
तद्बिंबस्य तदोकसो झगिति तत्कारायकस्यापि च,
सर्वं गच्छति पापमेति सुकृतं तत्तस्य किं नो भवेत्।।१९।।३९।।

जब वीतरागी नाम से, स्तुति से तद्बिम्ब को।
कर करे मन्दिर शीघ्र ही हों पाप नष्ट सुप्राप्त हों।।
बहु पुण्य तब शुद्ध तेजमय, चिद्रूप ध्याता को कहो।
हो उत्तमोत्तम क्या नहीं? घाति करम क्षय सौख्य हो।।३९।।

अन्वयार्थ : च=और; **शुद्धेन**=शुद्ध; **चित्-रूपेण**=चित् रूपमय; **धाम्ना**=तेज द्वारा; **घाति-कर्म-हननात्**=घाति कर्मों का क्षय हो जाने से; **स्थितं**=(स्वभाव में) स्थित हो जाता है; **यस्मात्**=क्योंकि; **अत्र**=यहाँ; **हि**=वास्तव में; **वीतराग-वपुषः**=वीतराग शरीर/वीतरागता के; **नाम्ना+अपि**=नाम से भी; **च**=और; **नुत्या+अपि**=(उनकी) स्तुति से भी; **तत्-बिम्बस्य**=उनके बिम्ब को; **तत्+ओकसः**=उनके मन्दिर/जिनालय को (बनाने से); **च**=और; **तत्**=उन्हें; **झगिति**=शीघ्रता पूर्वक; **कारायकस्य**=करानेवाले के; अपि भी; **सर्वं**=सभी; **पापं**=पाप; **गच्छति**=चले जाते हैं; **तत्**=वे; **सुकृतं**=पुण्य; **एति**=आ जाते हैं; **तस्य**=उसके; **किं**=क्या; **नो**=नहीं; **भवेत्**=हो सकता है।।३९।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप (के ध्यान) से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप घाति-कर्मों का नाश हो जाता है; क्योंकि वीतराग-शुद्ध-चिद्रूप का नाम लेने से, उनकी स्तुति करने से तथा उनकी मूर्ति और मन्दिर बनवाने से ही जब समस्त पाप दूर हो जाते हैं और अनेक पुण्यों की प्राप्ति होती है, तब उनके (शुद्ध-चिद्रूप के) ध्यान करने से तो मनुष्य को क्या उत्तम फल प्राप्त न होगा? अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप का ध्यानी मनुष्य उत्तम से उत्तम फल प्राप्त कर सकता है।।३९।।

अब, इन लाभों को ज्ञानिओं से पुष्ट कराते हैं—

वसन्त-तिलका : **कोऽसौ गुणोऽस्ति भुवने न भवेत्तदा यो,**
दोषोऽथवा क इह यस्त्वरितं न गच्छेत्।
तेषां विचार्य कथयंतु बुधाश्च शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहमिति ये यमिनः स्मरंति।।२०।।४०।।

हे बुध! स्वयं सोचो कहो, 'चिद्रूप मैं' शुध ध्यान से।
वे कौन गुण जो हों नहीं, नहिं मिटें अवगुण कौन वे?।।४०।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **यमिनः**=संयमी; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपकः**=शुद्ध चित् रूप-सम्पन्न (हूँ); **इति**=ऐसा; **स्मरन्ति**=स्मरण करते हैं; **तेषां**=उनके; **तदा**=तब; **भुवने**=लोक में; **असौ**=वह; **कः**=कौन; **गुणः**=गुण; **अस्ति**=है; **यः**=जो; **न**=नहीं; **भवेत्**=हो जाता है; **अथवा**=या; **इह**=यहाँ; **दोषः**=(कौन-सा ऐसा) दोष (है); **यः**=जो;

त्वरितं=शीघ्र; **गच्छेत्-न**=चला नहीं जाता है; **च**=और/इस सम्बन्ध में; **बुधाः**=हे ज्ञानिजनो!; **विचार्य**=विचार कर; **कथयन्तु**=कहो।।४०।।

अर्थ : ग्रन्थकार कहते हैं - प्रिय विद्वानो! आप ही विचार कर कहें, जो मुनि-गण 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण करनेवाले हैं, उन्हें उस समय कौन से तो वे गुण हैं, जो प्राप्त नहीं होते और कौन से वे दोष हैं, जो उनके नष्ट नहीं होते; अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करनेवालों को समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं और उनके सब दोष दूर हो जाते हैं।।४०।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण की अतुलनीयता का वर्णन करते हैं—

स्रग्धरा : **तिष्ठंत्वेकत्र सर्वे, वरगुणनिकराः, सौख्यदानेऽतितृप्ताः,**
संभूयात्यंतरम्या, वरविधिजनिता, ज्ञानजायां तुलायाम्।
पार्श्वेन्यस्मिन् विशुद्धा, ह्युपविशतु वरा, केवला चेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं स्मृतिर्भो कथमपि विधिना तुल्यतां ते न यांति।।२१।।४१।।

'चिद्रूप मैं हूँ' स्मृति, रख ज्ञान रूपी तुला पर।
इक ओर दुसरे पर रखो, बहु भाग्य अर्जित अति सुखद।।
अति-रम्य बहु तृप्ति प्रदा, सब श्रेष्ठ गुण गण सर्वदा।
'चिद्रूप मैं हूँ' स्मृति से, पर न रंच समानता।।४१।।

अन्वयार्थ : ज्ञान-जायां=ज्ञान से उत्पन्न की गई; **तुलायां**=तराजू के; **पार्श्वे**=एक पलड़े पर; **सौख्य-दाने**=सौख्य के दान में; **अति-तृप्ताः**=अत्यधिक तृप्त/संतुष्ट करनेवाले; **सम्भूय**=प्रगट होने पर; **अत्यन्त-रम्या**=अत्यधिक रमणीय/मनोहारी; **वर-विधि-जनिताः**=उत्कृष्ट सौभाग्य से प्राप्त; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **वर-गुण-निकराः**=श्रेष्ठ गुणों के समूह; **एकत्र**=इकट्ठे कर; **तिष्ठन्तु**=रखें; **च**=और; **अन्यस्मिन्**=दूसरे पलड़े पर; **केवला**=एक-मात्र; **वरा**=श्रेष्ठ; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शुद्ध चित् रूप (हूँ); **इति**=इस प्रकार की; **हि**=वास्तविक; **विशुद्धा**=विशिष्ट शुद्धतामय; **स्मृतिः**=स्मृति; **उपविशतु**=रखें; **भो**=हे (प्राणिओ)!; **कथमपि**=किसी भी; **विधिना**=प्रकार से/रूप में; **ते**=वे सभी (पहले पलड़ेवाले); **तुल्यतां**=समानता को; **न-यान्ति**=प्राप्त नहीं होते हैं।।४१।।

अर्थ : ज्ञान को तराजू की कल्पना कर उसके एक पलड़े में समस्त उत्तमोत्तम गुण,

जो भाँति-भाँति के सुख प्रदान करनेवाले हैं, अत्यन्त रम्य और भाग्य से प्राप्त हुए हैं, इकट्ठे रखें और दूसरे पलड़े में अतिशय विशुद्ध केवल 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसी स्मृति को रखें; तब भी वे गुण शुद्ध-चिद्रूप की स्मृति की तनिक भी तुलना नहीं कर सकते।

भावार्थ : यद्यपि संसार में अनेक उत्तमोत्तम गुण हैं और वे भाँति-भाँति के सुख प्रदान करते हैं; तथापि ज्ञान-दृष्टि से देखने पर वे शुद्ध-चिद्रूप की स्मृति के बराबर कीमती नहीं हो सकते; शुद्ध-चिद्रूप की स्मृति ही सर्वोत्तम है।।४१।।

अब, शुद्ध-चित्-रूप में स्थिरता का माहात्म्य बताते हैं—

अनुष्टुप् : **तीर्थतां भूः पदैः स्पृष्टा, नाम्ना योऽघचयः क्षयम्।**
सुरौघो याति दासत्वं, शुद्धचिद्रक्तचेतसाम्।।२२।।४२।।

नित शुद्ध चिद्रूपत्व ध्याता के चरण स्पर्श से।
पा तीर्थता भू पापनाशक नाम सुर सेवक बनें।।४२।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रक्त-चेतसां=शुद्ध चित् में रक्त/आसक्त/निमग्न चेतन के; **पदैः**=चरणों से; **स्पृष्टा**=स्पर्शित; **भूः**=पृथ्वी; **तीर्थतां**=तीर्थपने को; **याति**=प्राप्त हो जाती है; **नाम्ना**=(उनका) नाम लेने से; **यः**=जो; **अघ-चयः**=पापों का समूह (है, वह); **क्षयं**=विनष्ट (हो जाता है); **सुर+औघः**=देवों का समूह; **दासत्वं**=दासता को; **याति**=प्राप्त हो जाता है।।४२।।

अर्थ : जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप के धारक हैं, उसके ध्यान में अनुरक्त हैं, उनके चरणों से स्पर्श की हुई भूमि तीर्थ 'अनेक मनुष्यों को संसार से तारनेवाली' हो जाती है; उनके नाम को लेने से समस्त पापों का नाश हो जाता है और अनेक देव उनके दास हो जाते हैं।।४२।।

अब, उदाहरण द्वारा उपादान-उपादेय संबंध को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोऽन्योऽन्यस्य चिंतनात्।**
लोहं लोहाद् भवेत्पात्रं सौवर्णं च सुवर्णतः।।२३।।४३।।

ज्यों लोह से हो लोहमय, सौवर्ण पात्र सुवर्ण से।
त्यों शुद्ध चिद्रूप ध्यान से हो शुद्ध कलुषित अन्य से।।४३।।

अन्वयार्थ : (जैसे) **लोहात्**=लोहे से; **लोहं**=लोहे का; **पात्रं**=बर्तन; **च**=और; **सुवर्णतः**=सुवर्ण से; **सौवर्णं**=सुवर्ण का (पात्र); **भवेत्**=होता है; (उसी प्रकार) **शुद्धस्य**=शुद्ध; **चित्स्वरूपस्य**=चित्स्वरूप के; **चिन्तनात्**=चिन्तन से; **शुद्धः**=शुद्ध; (और); **अन्यस्य**=अन्य के; **चिन्तनात्**=चिन्तन से; **अन्यः**=अन्य/अशुद्ध (होते हैं)।।४३।।

अर्थ : जिस प्रकार लोहे से लोहे का पात्र और स्वर्ण से स्वर्ण का पात्र बनता है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता करने से आत्मा शुद्ध और अन्य का ध्यान करने से अशुद्ध होता है।

भावार्थ : कारण जैसा होता है वैसा कार्य भी उससे ही पैदा होता है। जिस प्रकार लोह-पात्र का कारण लोह है, इसलिए उससे लोह का पात्र और स्वर्ण-पात्र का कारण स्वर्ण है, इसलिए उससे स्वर्ण का ही पात्र बन सकता है; उसी प्रकार आत्मा के शुद्ध होने में शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता प्रधान कारण है, इसलिए उससे आत्मा शुद्ध होता है और अशुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता से आत्मा अशुद्ध होता है; क्योंकि आत्मा के अशुद्ध होने में अशुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता कारण है।।४३।।

एक मात्र शुद्ध चिद्रूप में मग्नता ही कर्तव्य है; अब इसका निरूपण करते हैं —

अनुष्टुप् : **मग्ना ये शुद्धचिद्रूपे, ज्ञानिनो ज्ञानिनोऽपि ये।**
प्रमादिनः स्मृतौ तस्य तेऽपि मग्ना विधेर्वशात्।।२४।।४४।।

हैं शुद्ध चिद्रूप में मगन, ज्ञानी उदय-वश प्रमादी।
हों भले ज्ञानी मान्यता में तो उसी में मग्न ही।।४४।।

अन्वयार्थ : **ये**=जो; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी (हैं); **ते**=वे; **शुद्ध-चित्-रूपे**=शुद्ध चित् रूप में; **मग्नाः**=मग्न (हैं); **ये**=जो; **ज्ञानिनः+अपि**=ज्ञानी होकर भी; **तस्य**=उसकी; **स्मृतौ**=स्मृति में; **प्रमादिनः**=प्रमादी (हैं); **ते+अपि**=वे भी; **विधेः-वशात्**=भवितव्यता के वश; (उसमें ही) **मग्नाः**=मग्न हैं।।४४।।

अर्थ : जो शुद्ध-चिद्रूप के ज्ञाता हैं, वे भी उसमें मग्न हैं और जो उसके ज्ञाता होने पर भी उसके स्मरण करने में प्रमाद करनेवाले हैं, वे भी उसमें मग्न हैं; अर्थात् स्मृति न होने पर भी उन्हें शुद्ध-चिद्रूप का ज्ञान ही आनन्द प्रदान करनेवाला है।।४४।।

अब, शरीर को पूज्य बनाने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **सप्तधातुमयं देहं, मलमूत्रादिभाजनम्।**
पूज्यं कुरु परेषां हि, शुद्धचिद्रूपचिंतनात्।।२५।।४५।।

मल मूत्र आदि से भरा, तन सात धातुमय इसे।
नित शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, कर पूज्य पावन अन्य से।।४५।।

अन्वयार्थ : मल-मूत्र-आदि-भाजनं=मल, मूत्र आदि के पात्र; **सप्त-धातु-मयं**=सात धातु मय; **देहं**=(इस) शरीर को; **हि**=वास्तव में; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तनात्**= शुद्ध चित् रूप के चिन्तन से; **परेषां**=दूसरों के द्वारा; **पूज्यं**=पूज्य; **कुरु**=करो।।४५।।

अर्थ : यह शरीर रक्त, वीर्य, मज्जा आदि सात धातु-स्वरूप है। मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों का घर है; इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे इस निकृष्ट और अपवित्र शरीर को भी शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता से दूसरों के द्वारा पूज्य और पवित्र बनावें।

भावार्थ : यह शरीर अपवित्र पदार्थों से उत्पन्न अपवित्र पदार्थों का घर है, इसलिए महा अपवित्र है; तथापि शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने से यह पवित्र हो जाता है, इसलिए शरीर को पवित्र बनाने के लिए विद्वानों को अवश्य शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करना चाहिए।।४५।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण-निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में
'शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-उत्साह-प्रदाता' २१ से ४५ पर्यन्त
२५ पद्योंवाला दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।।२।।

तीसरा अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के उपायों का वर्णन

अब, शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति के साधनों का वर्णन करते हैं—

स्रग्धरा : **जिनेशस्य स्नानात्, स्तुतियजनजपान्मंदिरार्चाविधाना-**
च्चतुर्धा दानाद्वाध्ययनखजयतो, ध्यानतः संयमाच्च।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधेः, क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्,
क्रमाच्चिद्रूपाप्तिर्भवति जगति ये, वांछकास्तस्य तेषाम्।।१-४६।।

जिनबिम्ब के प्रक्षाल स्तुति, पूजनादि जाप से।
जिनगृह बनाने पूजने, आहार आदि दान से।।
जिनसूत्र अध्ययन ध्यान, संयम शील इन्द्रिय विजय से।
व्रत तीर्थ यात्रादि गमन, उत्तम क्षमादि धर्म से।।
इत्यादि बहु विध विशुद्धि पूर्वक निजातम अर्थि को।
शुद्धात्मा के ध्यान से, चिद्रूप शुद्धि प्राप्त हो।।४६।।

अन्वयार्थ : जगति=लोक में; **ये**=जो; **चित्-रूप-वांछकाः**=चित् रूप के इच्छुक (हैं); **तेषां**=उन्हें; **जिनेशस्य**=जिनेन्द्र भगवान का; **स्नानात्**=अभिषेक करने से; **स्तुति**=(उनकी) स्तुति करने से; **यजन**=पूजन करने से; **जपात्**=जाप करने से; **मन्दिर+अर्चा**=मन्दिर की पूजन; **विधानात्**=विधान से; **चतुर्धा**=चार प्रकार के; **दानात्**=दान से; **अध्ययन**=(जिनागम के) अध्ययन से; **ख**=इन्द्रियों को; **जयतः**=जीतने से; **ध्यानतः**=ध्यान से; **च**=और; **संयमात्**=संयम से; **व्रतात्**=व्रत से; **शीलात्**=शील से; **तीर्थ+आदिक-गमन-विधेः**=तीर्थ आदि में जाने की विधि से; **क्षांति-मुख्य-धर्मात्**=क्षमा की प्रधानतामय प्रकृष्ट धर्म से; **क्रमात्**=क्रमशः; **तस्य**=उसकी; **आप्तिः**=उपलब्धि; **भवति**=हो जाती है।।४६।।

अर्थ : जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं, उन्हें जिनेन्द्र का अभिषेक करने से; उनकी स्तुति, पूजा और जप करने से; मन्दिर की पूजा और उसके निर्माण से; आहार, औषध, अभय और शास्त्र - चार प्रकार के दान देने से; शास्त्रों के अध्ययन से, इन्द्रियों के विजय से, ध्यान से, संयम से, व्रत से, शील से, तीर्थ आदि में गमन करने से और उत्तम क्षमा आदि धर्मों के धारने से क्रमश: शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : यदि वास्तव में देखा जाय तो शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करने से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होती है; परन्तु भगवान का अभिषेक, उनकी स्तुति और जप आदि भी चिद्रूप की प्राप्ति में कारण हैं; क्योंकि अभिषेक आदि के करने से शुद्ध-चिद्रूप की ओर दृष्टि जाती है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को भगवान का अभिषेक, स्तुति आदि अवश्य करना चाहिये।।४६।।

अब, देवादि को पूजने का कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं, भदंतं च तदाकृतिम्।**
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुत्वाद् भजते सुधी:।।२-४७।।

श्रुत, देव, गुरु, मुनि बिम्ब उनके, तीर्थ आदि ध्यान के।
हेतु कहे चिद्रूप शुद्धि, सुधी नित सेवें उन्हें।।४७।।

अन्वयार्थ : देवं=देव के; **श्रुतं**=श्रुत के; **गुरुं**=गुरु के; **तीर्थं**=तीर्थ के; **भदन्तं**=मुनि के; **च**=और; **तत्+आकृतिं**=उनकी आकृति के; **शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यान-हेतुत्वात्** =शुद्ध चित् रूप के समीचीन ध्यान की कारणता होने से; **सुधी:**=सम्यग्ज्ञानी; (उन्हें) **भजते**=पूजते हैं।।४७।।

अर्थ : देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रतिमा शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में कारण हैं। इनकी पूजा, सेवा किये विना शुद्ध-चिद्रूप की ओर ध्यान जाना सर्वथा दु:साध्य है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वान, देव आदि की सेवा, उपासना अवश्य करते हैं।।४७।।

कब, किन्हें ग्रहण करना और किनका त्याग करना; अब यह समझाते हैं—

अनुष्टुप् : **अनिष्टान् खहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत्।**
शुद्धचिद्रूपसद्ध्याने, सुधीर्हेतूनहेतुकान्।।३-४८।।

मन इन्द्रियों को अरुचिकर, पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान के।
हैं हेतु तो लेना उन्हें, विपरीत उनको छोड़ दे।।४८।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-सद्-ध्याने=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान में; **हेतून्**=कारण होने पर; **सुधीः**=सम्यग्ज्ञानी को; **ख**=इन्द्रियों के लिए; **हृदां**=मन के लिए; **अनिष्टान्**=अनिष्ट/अहितकर; **अर्थान्**=पदार्थों को; **अनिष्टान्+अपि**=अनिष्ट होने पर भी; **भजेत्**=स्वीकार कर लेना चाहिए; (तथा इसमें) **अहेतुकान्**=अकारण/विघ्न करने वाले/बाधक का; **त्यजेत्**=त्याग कर देना चाहिए।।४८।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करते समय इन्द्रिय और मन को अनिष्ट पदार्थ भी यदि उसकी प्राप्ति में कारण स्वरूप पड़ें तो उनका आश्रय कर लेना चाहिए और इन्द्रिय-मन को इष्ट होने पर भी यदि वे उसकी प्राप्ति में कारण न पड़ें, बाधक पड़ें तो उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ : संसार में पदार्थ दो प्रकार के हैं - इष्ट और अनिष्ट। जो पदार्थ मन और इन्द्रियों को प्रिय हैं, वे इष्ट हैं और जो अप्रिय हैं, वे अनिष्ट हैं। इनमें अनिष्ट रहने पर भी जो पदार्थ शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में कारण हों, उनका अवलम्बन कर लेना चाहिये और जो इष्ट होने पर भी उसकी प्राप्ति में कारण न हों, उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।।४८।।

अब, इसे ही विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितम्।**
हितं सुधीः प्रयत्नेन द्रव्यादिकचतुष्टयम्।।४-४९।।

नित यत्न पूर्वक छोड़ दे, द्रव्यादि चारों अहितकर।
यदि शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, विपरीत इससे ग्रहण कर।।४९।।

अन्वयार्थ : सुधीः=सम्यग्ज्ञानी; **शुद्ध-चित्-रूप-स्मरणे**=शुद्ध चिद्रूप के स्मरण

में; **हितं**=साधक; **द्रव्य+आदिक-चतुष्टयं**=द्रव्य आदि चतुष्टय को; **प्रयत्नेन**=प्रयत्न पूर्वक; **समाश्रयेत्**=ग्रहण करे; (और) **अहितं**=बाधक को; **मुंचेत्**=छोड़ दे।।४९।।

अर्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप पदार्थों में जो पदार्थ शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने में हित-कारी न हो, उसे छोड़ देना चाहिए और जो उसकी प्राप्ति में हित-कारी हो, उसका बड़े प्रयत्न से आश्रय करना चाहिए।

भावार्थ : कोई-कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (परिणाम) ऐसे आकर उपस्थित हो जाते हैं कि शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में विघ्न-कारक बन जाते हैं; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि इस प्रकार के पदार्थों का सर्वथा त्याग कर दें; परन्तु बहुत से द्रव्य, क्षेत्र आदि शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में अनुकूल, हित-कारी भी होते हैं; इसलिए उनका कड़ी रीति से आश्रय लें।।४९।।

अब, इसे ही पुनः दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **संगं विमुच्य विजने च, वसंति गिरिगह्वरे।**
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःष्पृहाः।।५-५०।।

नित शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति हेतु, सब परिग्रह छोड़ गिरि।
गह्वर विजन में रहें ज्ञानी, निष्पृही हो नित्य ही।।५०।।

अन्वयार्थ : अन्यत्र=अन्य सभी सन्दर्भों में; **निःष्पृहाः**=निर्वांछक; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी; **शुद्ध-चित्-रूप-सम्प्राप्त्यै**=शुद्ध चिद्रूप की समीचीन प्राप्ति के लिए; **संगं**=परिग्रह को; **विमुच्य**=छोड़कर; **विजने**=पवित्र-निर्जन; **गिरि-गह्वरे**=पर्वत की गुफाओं में; **वसन्ति**=रहते हैं।।५०।।

अर्थ : जो मनुष्य ज्ञानी हैं, वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए अन्य समस्त पदार्थों में निष्पृह हो समस्त परिग्रह का त्याग कर देते हैं और एकान्त स्थान, पर्वत की गुफाओं में जाकर रहते हैं।।५०।।

अब, किसी भी कार्य की थोड़ी-सी भी चिन्ता के दुष्परिणाम दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **स्वल्पकार्यकृतौ चिंता, महाबज्रायते ध्रुवम्।**
मुनीनां शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-पर्वत-भंजने।।६-५१।।

ज्यों बज्र पर्वत नष्ट करता, शुद्ध चिद्रूप ध्यान गिरि।
नाशक जगत के कार्य की, चिन्ता भले अत्यल्प ही।।५१।।

अन्वयार्थ : स्वल्प-कार्य-कृतौ=थोड़े से भी कार्य को करने संबंधी; **चिन्ता**=चिन्ता/इच्छा; **मुनीनां**=मुनिओं के; **शुद्ध-चित्-रूप-ध्यान-पर्वत-भंजने**=शुद्ध चिद्रूप के ध्यानरूपी पर्वत को नष्ट करने में; **ध्रुवं**=निश्चित ही; **महा-बज्रायते**=महान बज्र के समान कार्य करती है।।५१।।

अर्थ : जिस प्रकार बज्र, पर्वत को चूर्ण-चूर्ण कर देता है; उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता करनेवाला है; वह यदि अन्य किसी थोड़े से भी कार्य के लिए जरा भी चिन्ता कर बैठता है तो शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से सर्वथा विचलित हो जाता है।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान उसी समय हो सकता है, जिस समय किसी बात की चिन्ता हृदय में स्थान न पावे। यदि शुद्ध-चिद्रूप को ध्याते समय किसी प्रकार की चिन्ता आ उपस्थित हुई तो वह ध्यान नष्ट ही हो जाता है; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करते समय अन्य किसी भी चिन्ता को अपने हृदय में जरा भी न फटकने दें।।५१।।

अब, इसे ही और भी अधिक स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूप-सद्ध्यान-भानुरत्यंत-निर्मलः।**
जनसंगतिसंजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत्।।७-५२।।

'मैं शुद्ध चिद्रूप' ध्यान रूपी, सूर्य अति निर्मल सदा।
जन संगति से व्यक्त चिन्ता, रूपि घन से नित ढ़का।।५२।।

अन्वयार्थ : अत्यन्त-निर्मलः=अत्यधिक पवित्र; **शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यान-भानुः**=शुद्ध चिद्रूप के समीचीन ध्यान रूपी सूर्य; **जन-संगति-संजात-विकल्प-अब्दैः**=व्यक्तिओं की संगति से उत्पन्न, विकल्परूपी बादलों द्वारा; **तिरो-भवेत्**=तिरोहित हो जाता है।।५२।।

अर्थ : यह शुद्ध-चिद्रूप का ध्यानरूपी सूर्य, महा-निर्मल और देदीप्यमान है। यदि

इस पर स्त्री, पुत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए विकल्परूपी मेघ का पर्दा पड़ जाएगा तो यह ढ़क ही जाएगा।

भावार्थ : स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ताएँ शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में विघ्न करनेवाली हैं। चिन्ता होते ही ध्यान सर्वथा उखड़ जाता है, इसलिए शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी को स्त्री-पुत्र आदि सम्बन्धी चिन्ता तनिक भी न करनी चाहिए।।५२।।

अभव्य को इस शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं होता है, इसे उदाहरण द्वारा समझाते हैं —

अनुष्टुप् : **अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत्।**
वंध्यायां किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा।।८-५३।।

ज्यों बाँझ के सुत नहीं, खर के सींग नहीं नहीं कभी।
त्यों शुद्ध चिद्रूप तत्त्व, ध्यानादि अभव्यों के सभी।।५३।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; किल; वास्तव में; **वन्ध्यायां**=वन्ध्या/बाँझ को; **पुत्रस्य**=पुत्र की; **उद्भवः**=प्राप्ति; **न**=नहीं; **भवेत्**=होती है; **खरे**=गधे (के सिर) पर; **विषाणस्य**=सींग की (उत्पत्ति नहीं होती है); (उसी प्रकार) **अभव्ये**=अभव्य में; **शुद्ध-चित्-रूप-ध्यानस्य**=शुद्ध चित् रूप के ध्यान की; **उद्भवः**=प्रगटता; **न**=नहीं; **भवेत्**=होती है।।५३।।

अर्थ : जिस प्रकार बाँझ के पुत्र नहीं होता और गधे के सींग नहीं होते; उसी प्रकार अभव्य के शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ : अभव्य को मोक्ष, स्वर्ग आदि का श्रद्धान नहीं होता; किन्तु पित्त-ज्वरवाले को मीठा दूध भी जिस प्रकार कडुआ लगता है; उसी प्रकार अभव्य को भी सब धार्मिक बातें विपरीत ही भासती हैं। बाँझ के पुत्र और गधे के सींग होना जैसे असम्भव हैं; उसी प्रकार अभव्य के चिद्रूप का ध्यान होना भी सर्वथा असम्भव है।।५३।।

दूर-भव्य की भी इसमें रुचि नहीं होती है, इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः।**
यथाऽजीर्णविकारस्य, न भवेदन्नसंरुचिः।।९-५४।।

जैसे अजीर्ण विकार युत, की नहीं भोजन में रुचि।
त्यों दूर भव्यों के नहीं, चिद्रूप शुध की ध्यान रुचि।।५४।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **अजीर्ण-विकारस्य**=अजीर्ण के विकारवाले को; **अन्नं-संरुचिः**=अन्न के प्रति भली-भाँति रुचि; **न**=नहीं; **भवेत्**=होती है; (उसी प्रकार) **दूर-भव्यस्य**=दूर-भव्य को; **शुद्ध-चित्-रूप-ध्यान-संरुचिः**=शुद्ध चिद्रूप के ध्यान की यथार्थ रुचि; **नो**=नहीं; **भवेत्**=होती है।।५४।।

अर्थ : जिसको अजीर्ण का विकार है, खाया-पिया नहीं पचता, उसकी जिस प्रकार अन्न में रुचि नहीं होती; उसी प्रकार जो दूर-भव्य है, उसकी भी शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में प्रीति नहीं हो सकती।।५४।।

भेद-ज्ञान के विना शुद्ध चित् रूप का ज्ञान सम्भव नहीं है, इसे उदाहरण द्वारा समझाते हैं —

अनुष्टुप् : **भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपध्यानसंभवः।**
भवेन्नैव यथा पुत्रसंभूतिर्जनकं विना।।१०-५५।।

ज्यों पिता बिन पुत्रोत्पत्ति, जगत में सम्भव नहीं।
त्यों भेदज्ञान विना नहीं है, शुद्ध चिद्रूप ज्ञान भी।।५५।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **जनकं**=पिता के; **विना**=अभाव में; **पुत्र-सम्भूतिः**=पुत्र की उत्पत्ति; **न+एव**=नहीं ही; **भवेत्**=होती है; (उसी प्रकार) **भेद-ज्ञानं**=भेद-ज्ञान के; **विना**=अभाव में; **शुद्ध-चित्-रूप-ज्ञान-सम्भवः**=शुद्ध चिद्रूप के ज्ञान का प्रगट होना, सम्भव; **न+एव**=नहीं ही; **भवेत्**=होता है।।५५।।

अर्थ : जिस प्रकार कि पुरुष के विना स्त्री के पुत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार विना भेद-विज्ञान के शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान भी नहीं हो सकता।

भावार्थ : यह मेरा आत्मा शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है और शरीर आदि पर तथा जड़ हैं, ऐसे ज्ञान का नाम भेद-विज्ञान है। जब तक ऐसा ज्ञान नहीं होता, तब तक शुद्ध-चिद्रूप का भी ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप के ज्ञान में भेद-विज्ञान प्रधान कारण है।।५५।।

निर्ममत्व के विना शुद्ध चिद्रूप का सद्ध्यान सम्भव नहीं है; इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट समझाते हैं —

अनुष्टुप् : ***कर्मांगाखिलसंगे, निर्ममता मातरं विना।**
शुद्धचिद्रूप-सद्ध्यानं पुत्र-सूतिर्न जायते।।११-५६।।

माता विना पुत्रोत्पत्ति, नहीं ज्यों त्यों हो नहीं।
कर्मज सकल संग निर्ममत्व विना चिद्रूप ध्यान भी।।५६।।

अन्वयार्थ : (यथा) **मातरं**=माता के; **विना**=अभाव में; **पुत्र-सूतिः**=पुत्र की उत्पत्ति; **न जायते**=सम्भव नहीं होती है; (उसी प्रकार) **कर्म+अंग+अखिल-संगे**=कर्म, शरीरमय सम्पूर्ण संग/परिग्रह में; अथवा; **कर्म+अंग+अखिल-संगे**=कर्म की निमित्तता में आए सम्पूर्ण परिग्रह में; **निर्ममता-विना**=निर्ममता के अभाव में; **शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यानं**=शुद्ध चित् रूप का समीचीन ध्यान; **न जायते**=उत्पन्न नहीं होता है।।५६।।

अर्थ : जिस प्रकार विना माता के पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाले समस्त परिग्रहों में ममता त्यागे-विना शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान भी होना असम्भव है; अर्थात् पुत्र की प्राप्ति में जिस प्रकार माता कारण है, उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में स्त्री-पुत्र आदि में निर्ममता (ये मेरे नहीं हैं - ऐसा भाव) होना कारण है।।५६।।

अब, ध्यान के कारणों का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **तत्तस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्न-भव्यता।**
भेदज्ञानं परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः।।१२-५७।।

चिन्ता-रहित, एकान्त-स्थल, भेद-ज्ञान रु भव्यता।
परिपाक अति ही निकट, हेतु ध्यान के निर्मोहता।।५७।।

अन्वयार्थ : **तत्**=इसलिए; **तस्य**=उसके; **गत-चिन्ता**=चिन्ता का अभाव; **निर्जनता**=एकान्त स्थान; **आसन्न-भव्यता**=निकट भव्यपना; **भेद-ज्ञानं**=भेद-विज्ञान; **परस्मिन्-निर्ममता**=अन्य में निर्ममत्व; **ध्यान-हेतवः**=ध्यान के कारण हैं।।५७।।

अर्थ : इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि चिन्ता का अभाव, एकान्त-स्थान, आसन्न-भव्यपना, भेद-विज्ञान और दूसरे पदार्थों में निर्ममता - ये शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में कारण हैं; विना इनके शुद्ध-चिद्रूप का कदापि ध्यान नहीं हो सकता।।५७।।

* अन्यत्र ऊपर की पंक्ति, नीचे; नीचे की ऊपर है।

अब, ज्ञानी की प्रवृत्ति बताते हैं—

स्रग्धरा : **नृस्त्रीतिर्यग्सुराणां, स्थितिगतिवचनं, नृत्यगानं* शुचादि–**
क्रीड़ा–क्रोधादि–मौनं, भयहसनजरारोदनस्वापशूकाः।
व्यापाराकार–रोगं, नुतिनतिकदनं, दीनता–दुःख–शंकाः,
शृंगारादीन् प्रपश्यन्नशनमिह भवेन्नाटकं मन्यते ज्ञः।।१३–५८।।

नर नारि तिर्यग् देव की, स्थिति गति वचनादि को।
नृत्य गान शोकादि हँसी, क्रीड़ा रुदन क्रोधादि को।।
भय मौन निद्रा बुढ़ापा, व्यापार आकृति स्तुति।
दुख दीनता पीड़ा नमन, शृंगार भोजन रोग भी।।
इत्यादि बहुविध परिणति, को देख वास्तविक स्थिति।
ज्ञाता समझता नाटकों सम, जगत की ये प्रवृत्ति।।५८।।

अन्वयार्थ : इह=इस; **भवे**=संसार में; **ज्ञः**=ज्ञानी; **नृ–स्त्री–तिर्यक्–सुराणां**=पुरुष, स्त्री, तिर्यंच, देवों की; **स्थिति–गति–वचनं**=स्थिति, गति, वचन को; **नृत्य–गानं**=नृत्य, गान को; **शुच्+आदि**=शोक आदि; **क्रीड़ा–क्रोध–आदि–मौनं**=क्रीड़ा, क्रोध, मौन आदि को; **भय–हसन–जरा–रोदन–स्वाप–शूकाः**=भय, हँसने, वृद्धता, रोने, निद्रा, व्यथित होने को; **व्यापार+आकार–रोगं**=व्यापार, आकृति, रोग को; **नुति–नति–कदनं**=स्तुति, नमस्कार, कष्ट को; **दीनता–दुःख–शंकाः**=दीनता, दुःख, शंका को; **शृंगार+आदीन्**=शृंगार आदि को; **प्रपश्यन्**=देखता हुआ; **तं**=उसे; **नाटकं**=नाटक; **मन्यते**=मानता है।।५८।।

अर्थ : जो मनुष्य ज्ञानी है, संसार की वास्तविक स्थिति का जानकार है; वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यंच और देवों की स्थिति, गति, वचन को; नृत्य–गान को, शोक आदि को; क्रीड़ा, क्रोध आदि को; मौन को; भय, हँसी, बुढ़ापा, रोना, सोना, व्यापार, आकृति, रोग, स्तुति, नमस्कार, पीड़ा, दीनता, दुःख, शंका, भोजन, शृंगार आदि को संसार में नाटक के समान मानता है।

* गाने – इति पाठः।

भावार्थ : जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे तो मनुष्य, स्त्री, देव, देवांगना आदि के रहन-सहन आदि को अच्छा-बुरा समझते हैं। शोक और आनन्द आदि के प्रसंग उपस्थित हो जाने पर दु:खी-सुखी हो जाते हैं; परन्तु ज्ञानी मनुष्य यह जानकर कि नाटक में मनुष्य कभी राजा, कभी रंक, कभी स्त्री आदि का वेष धारण कर लेता है; उसी प्रकार इस जीव के कभी मनुष्य आदि पर्याय, कभी रोग-शोक और कभी सुख-दु:ख सदा हुआ करते हैं - संसार का यह स्वभाव ही है; उसमें दु:ख-सुख नहीं मानता।।५८।।

अब, तत्त्व-विदों में श्रेष्ठ का लक्षण कहते हैं—

वसन्त-तिलका : **चक्रींद्रयो: सदसि संस्थितयो: कृपा स्यात्,**
तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च।
सर्वोत्तमेंद्रियसुखस्मरणेऽतिकष्टं,
यस्योद्ध*चेतसि स तत्त्वविदां वरिष्ठ:।।१४-५९।।

जिसके विवेकी चित्त में, सिंहासनस्थ चक्क्री।
शक्रेश ऊपर दया, बहु गुणवान आकृति में रती।।
सम पट्टरानी इन्द्र रानी में अरुचि अति श्रेष्ठ भी।
पंचेन्द्रियों की विषय सामग्री सुखों की याद भी।।
अति कष्ट कर लगती सदा, वह सदा ही उत्कृष्ट है।
सब तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानी, ध्यानिओं में श्रेष्ठ है।।५९।।

अन्वयार्थ : यस्य=जिसके; **उद्ध**=प्रगट; **चेतसि**=मन में; **सदसि**=सभा में; **संस्थितयो:**=सिंहासन पर आसीन; **चक्रि+इन्द्रयो:**=चक्रवर्ती, इन्द्र के प्रति; **कृपा**=दया का भाव; **स्यात्**=हो जाता है; **च**=और; **अति-गुण-अन्वितयो:**=अनेकों गुणों से सम्पन्न; **तत्-भार्ययो:**=उनकी पत्निओं के प्रति; **घृणा**=घृणा का भाव (हो जाता है); **सर्व+उत्तम+इन्द्रिय-सुख-स्मरणे**=सर्वोत्कृष्ट इन्द्रिय-सुख के स्मरण में; **अति-कष्टं**=बहुत अधिक दु:ख (हो जाता है); **स:**=वह; **तत्त्व-विदां**=तत्त्व को जाननेवालों में; **वरिष्ठ:**=सर्व-श्रेष्ठ है।।५९।।

* यस्यास्ति - इति पाठ:।

अर्थ : जिस मनुष्य के हृदय में, सभा में सिंहासन पर विराजमान हुए चक्रवर्ती और इन्द्र के ऊपर दया है, शोभा में रति की तुलना करनेवाली इन्द्राणी और चक्रवर्ती की पटरानी में घृणा है और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियों के सुखों का स्मरण होते ही अति कष्ट होता है, वह मनुष्य तत्त्व-ज्ञानियों में उत्तम तत्त्व-ज्ञानी कहा जाता है।

भावार्थ : ज्ञानी-पुरुष यह जानकर कि चक्रवर्ती और इन्द्र आज सिंहासन पर बैठे हैं, कल अशुभ-कर्म के उदय से मर कर कुगति में जायेंगे और लक्ष्मी नष्ट हो जाएगी; उन पर दया करता है। यद्यपि चक्रवर्ती और इन्द्र की स्त्रियाँ महा-मनोज्ञ होती हैं; तथापि विषय-सम्बन्धी सुख महा-अनिष्ट और दु:ख देनेवाला है - यह जानकर वह उनको घृणा की दृष्टि से देखता है और उत्तमोत्तम इन्द्रियों के सुखों को परिणाम में दु:ख-दायी समझ, उनका स्मरण करते ही दु:ख मान लेता है।।५९।।

क्या मिलने पर क्या अच्छा नहीं लगता है, अब, यह बताते हैं —

शार्दूल-विक्रीड़ित : **रम्यं वल्कलपर्णमंदिरकरीरं कांजिकं रामठं,**
लोहं ग्रावनिषादकुश्रुतमटेद् यावन्न यात्यंबरम्।
सौधं कल्पतरुं सुधां च तुहिनं स्वर्णं मणिं पंचमं,
जैनीवाचमहो तथेंद्रियभवं सौख्यं निजात्मोद्भवम्।।१५-६०।।

जब तक भवन अमृत मणि, सुरतरु सुवर्ण सुवस्त्र भी।
पिक-स्वर तुहिन जिनवचन आदि नहीं मिलें तब तक सभी।।
बक्कल करीर कुशास्त्र पर्ण कुटी पषाण रु हीन भी।
गर्दभ ध्वनि काँजी रु लोहा, हींग आदि भले ही।।
लगते तथा आत्मीक सुख, पाया नहीं इस जीव ने।
तब तक विषय सुख पाँच इन्द्रिय के सुहाते नित रुचें।।६०।।

अन्वयार्थ : यावत्=जब तक; **अंबरं**=सुन्दर वस्त्र; **सौधं**=महल; **कल्पतरुं**=कल्प-वृक्ष; **सुधां**=अमृत; **तुहिनं**=शीतल पदार्थ; **स्वर्णं**=सुवर्ण; **मणिं**=मणि; **पंचमं**=पंचम स्वर; **जैनी-वाचं**=जिनेन्द्र भगवान के वचन; **तथा+इन्द्रिय-भवं**=उससे इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न; **सौख्यं**=सौख्य; **अहो!**=आश्चर्य-कारी; **निज+आत्मा+उद्भवं**=अपने आत्मा

से उत्पन्न; **सौख्यं**=सौख्य; **न याति**=प्राप्त नहीं होता है; (तब तक ही) **बल्कल**=पेड़ की छाल के वस्त्र; **पर्ण-मन्दिरं**=घास की कुटी; **करीरं**=काँटें वाली झाड़िआँ; **कांजिकं**=कांजी; **रामठं**=हींग; **लोहं**=लोहा; **ग्राव**=पत्थर; **निषाद**=निषाद-स्वर; **कुश्रुतं**=खोटे शास्त्र; **रम्यं**=अच्छे; **अटेत्**=लगते हैं।।६०।।

अर्थ : जब तक मनुष्य को उत्तमोत्तम वस्त्र, महल, कल्पवृक्ष, अमृत, कपूर, सोना, मणि, पंचम-स्वर, जिनेन्द्र भगवान की वाणी और आत्मिक सुख प्राप्त नहीं होते; तभी तक वह बक्कल, पत्ते का (सामान्य) घर, करीर (बबूल), काँजी, हींग, लोहा, पत्थर, निषाद-स्वर, कुशास्त्र और इन्द्रिय-जन्य सुख को उत्तम और कार्य-कारी समझता है; परन्तु उत्तम वस्त्र आदि के प्राप्त होते ही उसकी बक्कल आदि में सर्वथा घृणा हो जाती है; उनको वह जरा भी मनोहर नहीं मानता।

भावार्थ : मनुष्य जब तक नीची दशा में रहता है और हीन पदार्थों से सम्बन्ध रखता है, तब तक वह उन्हीं को लोकोत्तर मानता है; परन्तु जब वह उन्नत और उत्तम पदार्थों का लाभ कर लेता है तो उसे वे हीन पदार्थ बिल्कुल बुरे लगने लगते हैं। उसी प्रकार जब तक यह आत्मा कर्मों से मलिन रहता है, तब तक कर्म-जनित पदार्थों को ही उत्तम पदार्थ समझता है; परन्तु शुद्धात्मा की प्राप्ति होते ही उसे इन्द्रिय-जन्य सुख-दायक भी पदार्थों में सर्वथा घृणा हो जाती है।।६०।।

स्व-स्वरूप की उपलब्धि करते हुए काल व्यतीत करनेवाले विरले हैं; अब, इसका प्ररूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **केचिद् राजादिवार्तां, विषयरतिकलाकीर्तिरैप्राप्तिचिंतां,**
संतानोद्भूत्युपायं, पशु-नग-विगवां, पालनं चान्य-सेवाम्।
स्वाप-क्रीडौषधादीन्, सुर-नर-मनसां, रंजनं देह-पोषं,
कुर्वंतोऽस्यंति कालं* जगति च विरला: स्वस्वरूपोपलब्धिम्।।१६-६१।।

नित अधिकतर राजादि वार्ता, विषय रति कीर्ति कला।
पाने की चिन्ता पुत्र प्राप्ति उपाय पशु पालन सदा।।

* काले - इति पाठः।

बहु वृक्ष पक्षी पोषणादि, अन्य सेवा औषधि।
सेवन शयन सुर नर, मनोरंजन तनादि पुष्टि ही।।
इत्यादि करते जगत में, जीवन बिता देते सभी।
पर स्व स्वरूपोपलब्धि में, जीवन बिताते विरल ही।।६१।।

अन्वयार्थ : जगति=लोक में; **केचित्**=कोई; **राजा+आदि-वार्तां**=राजा आदि की वार्ता को; **कुर्वन्तः**=करते हुए; **कालं**=समय को; **अस्यन्ति**=व्यतीत कर देते हैं; (कुछ) **विषय-रति-कला-कीर्ति-रै**=विषयों की रति, कला, कीर्ति, धन की; **प्राप्ति-चिन्तां**=प्राप्ति संबंधी चिन्ता को; **सन्तान+उद्भूति+उपायं**=सन्तान की उत्पत्ति के उपाय को; **पशु-नग-विगवां**=पशु, वृक्ष, पक्षी के; **पालनं**=पालन को; **च**=और; **अन्य-सेवां**=अन्य की सेवा को; **स्वाप-क्रीड़ा+औषध+आदीन्**=निद्रा, क्रीड़ा, औषध आदि को; **सुर-नर-मनसां**=देव, मनुष्यों के मन का; **रंजनं**=रंजन; **देह-पोषं**=शरीर के पोषण को; **कुर्वन्तः**=करते हुए; **कालं**=समय; **अस्यन्ति**=व्यतीत कर देते हैं; **स्व-स्वरूप+उपलब्धिं**=अपने स्वरूप की प्राप्ति को; **कुर्वन्तः**=करते हुए; **विरलाः**=कोई विरल (ही); **काल**=समय; **अस्यन्ति**=व्यतीत करते हैं।।६१।।

अर्थ : संसार में अनेक मनुष्य राजादि के गुण-गान कर काल व्यतीत करते हैं। कई एक विषय, रति, कला, कीर्ति और धन की चिन्ता में समय बिताते हैं और बहुत से सन्तान की उत्पत्ति का उपाय, पशु, वृक्ष, पक्षी, गौ, बैल आदि का पालन; अन्य की सेवा, शयन, क्रीड़ा, औषधि आदि का सेवन; देव, मनुष्यों के मन का रंजन और शरीर का पोषण करते-करते अपनी समस्त आयु के काल को समाप्त कर देते हैं; इसलिए जिनका समय स्व-स्वरूप-शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में व्यतीत हो ऐसे मनुष्य संसार में विरले ही हैं।

भावार्थ : संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई राज-कथा करना अच्छा समझते हैं। कोई रात-दिन इस चिन्ता में लगे रहते हैं कि हमको विषय-सुख, कला, कीर्ति और धन कैसे मिले? अनेकों की यह कामना रहती है कि पुत्र कैसे हो? इसलिए वे पुत्र की उत्पत्ति के उपाय ही सोचते रहते हैं। कोई गौ, बैल आदि पशुओं के पालन करने में ही आनन्द मानते हैं। अनेक दूसरों की सेवा करना ही उत्तम समझते हैं। बहुत से सोना, खेलना,

औषधि आदि के सेवन करने में ही सन्तोष मानते हैं। किसी-किसी मनुष्य का चित्त इसी चिन्ता से व्याकुल रहा आता है कि अमुक देव या मनुष्य हमसे प्रसन्न रहे और अनेक मनुष्य अपने शरीर के ही भरण-पोषण में लगे रहते हैं। सार यह है कि इनका समस्त जीवन इन्हीं कामों में व्यतीत होता रहता है, वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नितान्त दुर्लभ है और उसको विरले ही मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं।।६१।।

एक मात्र शुद्ध-चित्-रूप ही, सदा उपयोग में रहना, कर्तव्य है; अब इसे पुष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **वाचांगेन हृदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति ब्रुवे।**
सर्वदानुभवामीह स्मरामीति त्रिधा भजे।।१७-६२।।

हूँ शुद्ध चिद्रूपी सदा मैं, वचन तन मन से सतत।
बोलूँ करूँ वेदन करूँ, स्मरण त्रय नित एक यह।।६२।।

अन्वयार्थ : अहं=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शुद्ध चिद्रूप (हूँ); **इति**=ऐसा; **वाचा**=वचनों द्वारा; **अंगेन**=शरीर द्वारा; **हृदा**=मन द्वारा; **ब्रुवे**=कहता रहता हूँ; **इह**=यहाँ; (उसी का) **सर्वदा**=हमेशा; **अनुभवामि**=अनुभव करता हूँ; **स्मरामि**=स्मरण करता हूँ; **इति**=इस प्रकार; **त्रिधा**=तीन प्रकार से; **भजे**=भजता हूँ।।६२।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप के विषय में सदा यह विचार करते रहना चाहिए कि 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसा मन-वचन-काय से सदा कहता हूँ तथा अनुभव और स्मरण करता हूँ।

भावार्थ : 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा प्रति-समय कहने से, अनुभव और स्मरण करने से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रवृत्ति होती चली जाती है, उत्साह कम नहीं होता; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए अवश्य विद्वानों को ऐसा करते रहना चाहिए।।६२।।

अब, क्रियाओं के संबंध में स्याद्वाद शैली को स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुभूतां क्रियां भजेत्।**
सुधीः कांचिच्च पूर्वं तद्ध्याने सिद्धे तु तां त्यजेत्।।१८-६३।।

सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतुभूत कुछ क्रिया भले।
पहले करें पर ध्यान सिद्धि बाद विज्ञ उन्हें तजें।।६३।।

अन्वयार्थ : सुधी:=सम्यग्ज्ञानी; **शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यान-हेतु-भूतां**=शुद्ध-चिद्रूप के समीचीन ध्यान में कारणभूत; **पूर्वं**=पूर्व-कालीन; **क्रियां**=क्रिया को; **भजेत्**=स्वीकार करे; **च**=और; **तु**=वास्तव में; **तत्+ध्याने**=उस ध्यान के; **सिद्धे**=सिद्ध हो जाने पर; **तां**=उस क्रिया को; **त्यजेत्**=छोड़ दे।।६३।।

अर्थ : जब तक शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान सिद्ध न हो सके, तब तक विद्वान को चाहिए कि उसके कारणरूप क्रिया का अवश्य आश्रय लें; परन्तु उस ध्यान के सिद्ध होते ही उस क्रिया का सर्वथा त्याग कर दें।

भावार्थ : जिस प्रकार चित्र-कला सीखने का अभिलाषी मनुष्य पहले रद्दी कागजों पर चित्र बनाना सीखता है, पश्चात् चित्र-कला में प्रवीण हो जाने पर रद्दी कागजों पर चित्र खींचना छोड़ उत्तम कागजों पर खींचने लग जाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य प्रथम ही प्रथम शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करता है, उसका मन स्थिर नहीं रह सकता; इसलिए उसे ध्यान की सिद्धि के लिए भगवान की प्रतिमा आदि सामने रख लेनी चाहिए; परन्तु जिस समय ध्यान सिद्ध हो जाय, उस समय उनकी कोई आवश्यकता नहीं, सर्वथा उनका त्याग कर देना चाहिए।।६३।।

अब, उदाहरण पूर्वक शुद्ध चिद्रूप के स्मरण की विधि बताते हैं—

अनुष्टुप् : **अंगस्यावयवैरंगमंगुल्याद्यै: परामृशेत्।**
मत्याद्यै: शुद्धचिद्रूपावयवैस्तं तथा स्मरेत्।।१९-६४।।

ज्यों देह अवयव अंगुली, आदि से तन स्पर्श हो।
त्यों शुद्ध चिद्रूप अंश मति आदि से उसका ध्यान हो।।६४।।

अन्वयार्थ : (यथा) **अंगस्य**=शरीर के; **अंगुल+आद्यै:**=अंगुली आदि; अवयवै:=अवयवों से; **अंगं**=शरीर का; **परामृशेत्**=स्पर्श किया जाता है; **तथा**=उसी प्रकार; **मति+आद्यै:**=मति ज्ञान आदि; **शुद्ध-चित्-रूप+अवयवै:**=शुद्ध चिद्रूप के अवयवों द्वारा; **तं**=उसका; **स्मरेत्**=स्मरण करना चाहिए।।६४।।

अर्थ : जिस प्रकार शरीर के अवयव अंगुली आदि से शरीर का स्पर्श किया जाता है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप के अवयव जो मति-ज्ञान आदि हैं, उनसे उनका स्मरण करना चाहिए।।६४।।

अब, आत्मा की प्राप्ति का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञेये दृश्ये यथा स्वे स्वे चित्तं ज्ञातरि दृष्टरि।**
दद्याच्चेन्ना तथा विंदेत्परं ज्ञानं च दर्शनम्।।२०-६५।।

पर ज्ञेय दृश्यों में यथा, मन लगाता त्यों लगा ले।
यदि ज्ञान दर्शन स्वयं में, तो आत्म वेदन नियम से।।६५।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **ना**=मनुष्य; **स्वे**=अपने; **ज्ञेये**=ज्ञेय में; **स्वे**=अपने; **दृश्ये**=दृश्य में; **चित्तं**=मन को; **दद्यात्**=लगाता है; **तथा**=उसी प्रकार; **चेत्**=यदि; **ज्ञातरि**=ज्ञाता में; **दृष्टरि**=दृष्टा में; **चित्तं**=मन को; **दद्यात्**=लगाता है (तो); **परं**=उत्कृष्ट; **ज्ञानं**=ज्ञान; **च**=और; **दर्शनं**=दर्शन को; **विन्देत्**=प्राप्त हो जाता है।।६५।।

अर्थ : मनुष्य जिस प्रकार घट-पट आदि ज्ञेय और दृश्य पदार्थों में अपने चित्त को लगाता है; उसी प्रकार यदि वह शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए ज्ञाता और दृष्टा आत्मा में अपना चित्त लगावे तो उसे स्व स्वरूप का शुद्ध दर्शन और ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाये।।६५।।

अब, शुद्ध-चित्-रूप के इच्छुक की विचार-धारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **उपाय-भूतमेवात्र, शुद्ध-चिद्रूप-लब्धये।**
यत् किंचित्तत् प्रियं मेऽस्ति, तदर्थित्वान्न चापरम्।।२१-६६।।

जो शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति के, कारण मुझे वे प्रिय सभी।
मैं शुद्ध चिद्रूपार्थि ही, इसके विरोधी प्रिय नहीं।।६६।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-लब्धये=शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति के लिए; **अत्र**=यहाँ; **यत्**=जो; **किंचित्**=कुछ; **उपाय-भूतं**=कारण-भूत; **एव**=ही (है); **तत्+अर्थित्वात्**=उसका इच्छुक होने से; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **प्रियं**=प्रिय/अनुकूल; **अस्ति**=है; **च**=और; **अपरं**=अन्य दूसरे; **न**=(उस रूप) नहीं हैं।।६६।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को सदा ऐसा विचार करते रहना चाहिए कि जो पदार्थ शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में कारण है, वह मुझे प्रिय है; क्योंकि मैं शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी हूँ और जो पदार्थ उसकी प्राप्ति में कारण नहीं है, उससे मेरा प्रेम भी नहीं है।।६६।।

अब, अति संक्षेप में मोक्ष के कारण को व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे।**
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्धेन निरूपितः।।२२-६७।।

पर से पृथक् चिद्रूप केवल, शुद्ध आनन्दमयी मैं।
जिन देशना इस अर्ध पद में, मुक्ति-हेतु ध्या इसे।।६७।।

अन्वयार्थ : चित्-रूपः=चैतन्य रूप; **केवलः**=केवल; **शुद्धः**=शुद्ध; **आनन्द+आत्मा**=आनन्द-स्वरूपी/आनन्दमय आत्मा (हूँ); **इति**=ऐसा; **अहं**=मैं; **स्मरे**=स्मरण करता हूँ; **मुक्त्यै**=मुक्ति के लिए; **सर्वज्ञ+उपदेशः**=सर्वज्ञ भगवान का उपदेश; **श्लोक+अर्धेन**=आधे श्लोक द्वारा; **निरूपितः**=निरूपित कर दिया है।।६७।।

अर्थ : यह चिद्रूप, अन्य द्रव्यों के संसर्ग से रहित केवल है, शुद्ध है और आनन्द-स्वरूप है - ऐसा मैं स्मरण करता हूँ; क्योंकि जो यह आधे श्लोक में कहा गया भगवान सर्वज्ञ का उपदेश है; वह ही मोक्ष का कारण है।।६७।।

अब, उदाहरण द्वारा शुद्ध चिद्रूप की वार्ता के अलाभ-लाभ को ६८ और ६९ - इन दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **बहिश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं वृथा।**
अन्धस्य नर्तनं गानं, बधिरस्य यथा भुवि।।२३-६८।।

अंतश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं हितम्।
बुभुक्षिते पिपासार्तेऽन्नं जलं योजितं यथा।।२४-६९।।युग्मं।।

ज्यों अन्ध हेतु नृत्य, बहरे हेतु गाना व्यर्थ है।
त्यों शुद्ध चिद्रूप वार्ता, बहिःवृत्ति हेतु व्यर्थ है।।६८।।

ज्यों क्षुधित को भोजन, तृषित को जल परम हितकर लगे।
त्यों शुद्ध चिद्रूप वार्ता, अन्तर्मुखी हर्षित करे।।६९।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **भुवि**=पृथ्वी पर; **अन्धस्य**=अन्धे के समक्ष; **नर्तनं**=नृत्य; **बधिरस्य**=बहरे के समक्ष; **गानं**=गाना; **वृथा**=व्यर्थ (है); (उसी प्रकार) **बहिः-चितः**= बहिरात्मा के; **पुरः**=आगे/समक्ष; **शुद्ध-चित्-रूप-आख्यानकं**=शुद्ध चिद्रूप का आख्यान; **वृथा**=व्यर्थ (है)।।६८।।

यथा=जैसे; **बुभुक्षिते**=भूखे के समक्ष; **अन्नं**=अन्न/भोजन; **पिपासा+आर्ते**=प्यास से पीड़ित के समक्ष; **जलं**=जल को; **योजितं**=लाना; **हितं**=लाभ-दायक (है); (उसी प्रकार) **अन्तः-चितः**=अन्तरात्मा के; **पुरः**=आगे/समक्ष; **शुद्ध-चित्-रूप-आख्यानकं**= शुद्ध चित् रूप का आख्यान; **हितं**=लाभ-दायक (है)।।६९।।

अर्थ : जिस प्रकार अंधे के सामने नाचना और बहिरे के सामने गीत गाना, व्यर्थ है; उसी प्रकार बहिरात्मा के सामने शुद्ध-चिद्रूप की कथा भी कार्य-कारी नहीं है; परन्तु जिस प्रकार भूखे के लिए अन्न और प्यासे के लिए जल, हितकारी है; उसी प्रकार अन्तरात्मा के सामने किया गया शुद्ध-चिद्रूप का उपदेश भी परम हित प्रदान करनेवाला है।।६८-६९।।

अब, शुद्ध-चित्-रूप को प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय, ध्यान है; इस तथ्य को दृढ़ता से स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **उपाया बहवः संति शुद्धचिद्रूपलब्धये।**
तद्ध्यानेन समो नाभूदुपायो न भविष्यति।।२५-७०।।

इस शुद्ध चिद्रूप लब्धि के यद्यपि उपाय अनेक हैं।
पर ध्यान सम कोई नहीं, यों ध्यान नित कर्तव्य है।।७०।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-लब्धये=शुद्ध-चित्-रूप की प्राप्ति के लिए; **बहवः**=अनेकों; **उपायाः**=उपाय; **सन्ति**=हैं; (परन्तु) **तत्**=उसके; **ध्यानेन**=ध्यान के; **समः**=समान; **उपायः**=उपाय; **न**=न तो; **अभूत्**=हुआ है; (और) **न**=न ही; **भविष्यति**= होगा।।७०।।

अर्थ : अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि शुद्ध–चिद्रूप की प्राप्ति के बहुत से उपाय हैं; तथापि उनमें ध्यानरूप उपाय की तुलना करनेवाला न कोई उपाय हुआ है, न है और न होगा; इसलिए जिन्हें शुद्ध–चिद्रूप की प्राप्ति की अभिलाषा हो उन्हें चाहिए कि वे सदा उसका ही नियम से ध्यान करें।।७०।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान–तरंगिणी में ''शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का उपाय'' वर्णन करनेवाला, ४६ से ७० पर्यन्त २५ पद्योंवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।।३।।

चौथा अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में सुगमता का वर्णन

कुछ भी कष्ट-दाई नहीं होने पर भी और अनेक फलों की प्राप्ति होने पर भी; ज्ञानी, शुद्ध चिद्रूप के स्मरण में आदर क्यों नहीं करते हैं? अब, ऐसा आश्चर्य व्यक्त करते हैं —

शार्दूल-विक्रीड़ित : **न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना,**
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीडा परस्यापि न।
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि,
चिद्रूपस्मरणे फलं बहु कथं तन्नाद्रियंते बुधाः।।१-७१।।

नहिं कष्ट धन व्यय नहीं, देशान्तर गमन नहिं प्रार्थना।
नहिं शक्तिक्षय नहिं भय, नहीं पर क्लेश नहिं पर सुश्रुषा।।
सावद्य नहिं नहिं रोग, जन्म मरण नहीं चिद्रूप के।
स्मरण में फल उत्तमोत्तम, विज्ञ क्यों नहिं आदरें।।७१।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-स्मरणे=शुद्ध चित्-रूप के स्मरण में; **क्लेशः**=कष्ट; **न**=नहीं है; **धन-व्ययः**=धन का व्यय/खर्च; **न**=नहीं है; **देश+अन्तरे**=अन्य देश में; **गमनं**=जाना; **न**=नहीं है; **प्रार्थना**=प्रार्थना/विनती; **न**=नहीं है; **केषांचित्**=किसी भी प्रकार के; **बल-क्षयः**=बल का क्षय; **न**=नहीं है; **भयं**=डर; **न**=नहीं है; **परस्य**=दूसरों की; **अपि**=भी; **पीडा**=पीड़ा; **न**=नहीं है; **सावद्यं**=पाप; **न**=नहीं है; **रोग-जन्म-पतनं**=रोग, जन्म, मरण; **न**=नहीं है; **अन्य-सेवा**=दूसरों की सेवा; **न+एव**=नहीं ही है; **हि**=वास्तव में; (इनसे विपरीत) **फलं**=फल/लाभ; **बहुः**=अनेकों हैं; (तब फिर) **बुधाः**=ज्ञानी; **तत्**=उसमें; **कथं**=कैसे/क्यों; **न+आद्रियन्ते**=आदर नहीं करते हैं? (इसका मुझे आश्चर्य है)।।७१।।

अर्थ : इस परम पावन चिद्रूप का स्मरण करने में न किसी प्रकार का क्लेश उठाना पड़ता है; न धन का व्यय, देशान्तर में गमन और दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है। किसी प्रकार की शक्ति का क्षय, भय, दूसरों को पीड़ा, पाप, रोग, जन्म-मरण और दूसरे की सेवा का दु:ख भी नहीं भोगना पड़ता; जबकि अनेक उत्तमोत्तम फलों की प्राप्ति भी होती है; अत: इस शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने में हे विद्वानो! तुम क्यों उत्साह और आदर नहीं करते? यह नहीं जान पड़ता।

भावार्थ : संसार में बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति में अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं; धन-व्यय, दूसरे देश में गमन, दूसरे से प्रार्थना, शक्ति का क्षय, भय, दूसरों को पीड़ा, नाना प्रकार के पाप, रोग, जन्म, मरण और अन्य सेवा आदि निकृष्ट कार्यों का भी सामना करना पड़ता है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में उपर्युक्त किसी बात का दु:ख भोगना नहीं पड़ता; इसलिए आत्मिक-सुख के अभिलाषी विद्वानों को चाहिए कि वे अचिंत्य-सुख प्रदान करनेवाले इस शुद्ध-चिद्रूप का अवश्य स्मरण करें।।७१।।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति अत्यधिक सुगम है; इसे अब, सकारण ७२ और ७३ - इन दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **दुर्गमा भोग-भू: स्वर्ग-भूमिर्विद्याधरावनि:।**
नागलोकधरा चाति-सुगमा शुद्धचिद्धरा।।२-७२।।
तत्साधने सुखं ज्ञानं मोचनं* जायते समम्।
निराकुलत्वमभयं सुगमा तेन हेतुना।।३-७३।।युग्मं।।

है भोग भू सुरलोक, विद्याधर धरा अहिलोक को।
पाना कठिन अति सुलभता से शुद्ध चिद्रूप प्राप्त हो।।७२।।
क्योंकि सुसाधन में हि होते, जाते सुख मोचन सदा।
सद्ज्ञान अभय निराकुलत्व, अत: चिद्रूप ध्या सदा।।७३।।

अन्वयार्थ : भोग-भू:=भोग-भूमि; **स्वर्ग-भूमि:**=स्वर्ग-लोक; **विद्याधर-अवनि:**=विद्याधर-निवास; **नाग-लोक-धरा**=नाग-लोक/धरणेन्द्र-निवास; **दुर्गमा**=प्राप्त

* मोचने - इति पाठ:।

करना, कठिन है; **च**=और/परन्तु; **शुद्ध-चित्-धरा**=शुद्ध चित् रूपी भूमि; **अति-सुगमा**=प्राप्त करना, अति सरल है।।७२।।

तत्=उसका; **साधने**=साधन करने पर; **सुखं**=सुख; **ज्ञानं**=ज्ञान; **मोचनं**=छुटकारा; **निराकुलत्वं**=निराकुलता; **अभयं**=अभय; **समं**=एक साथ; **जायते**=व्यक्त होते जाते हैं; **तेन**=उस; **हेतुना**=कारण से; **सुगमा**=(उसकी प्राप्ति) सरल है।।७३।।

अर्थ : संसार में भोग-भूमि, स्वर्ग-भूमि, विद्याधर-लोक और नाग-लोक की प्राप्ति तो दुर्गम-दुर्लभ है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति अति सरल है; क्योंकि चिद्रूप के साधन में सुख, ज्ञान, मोचन, निराकुलता और भय का नाश - ये साथ-साथ होते चले जाते हैं और भोग-भूमि आदि के साधन में बहुत काल के बाद दूसरे जन्म में होते हैं।

भावार्थ : भोग-भूमि, स्वर्ग-भूमि, विद्याधर-लोक और नाग-लोक की प्राप्ति संसार में अति कष्ट-साध्य है। हर एक मनुष्य भोग-भूमि आदि की प्राप्ति कर नहीं सकता और जो कर भी सकते हैं; वे तप आदि आचरण करने से बहुत दिनों के बाद, पर-जन्म में कर सकते हैं और तभी वे वहाँ का सुख भोग सकते हैं; परन्तु जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण और ध्यान करनेवाले हैं; वे विना ही किसी कष्ट के साथ ही साथ उसका सुख भोग लेते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान अवश्य करें।।७२-७३।।

अब, ७४ और ७५ - इन दो पद्यों द्वारा आत्मा का निश्चय करने की पद्धति उदाहरण पूर्वक प्रतिपादित है —

शार्दूल-विक्रीड़ित : **अन्नाश्मागुरु-नागफेनसदृशं स्पर्शेन तस्यांशतः,**
कौमाराम्र-कसीस-वारिसदृशं स्वादेन सर्वं वरम्।
गंधेनैव घृतादि-वस्त्रसदृशं दृष्ट्या च शब्देन च,
कर्कर्यादि च मानसेन च यथा शास्त्रादि निश्चीयते।।४-७४।।

स्मृत्या दृष्टनगाब्धिभूरुह-पुरीतिर्यग्नराणां तथा,
सिद्धांतोक्त-सुराचलह्रदनदीद्वीपादि-लोकस्थितेः।

खार्थानां कृतपूर्वकार्यविततेः कालत्रयाणामपि,
स्वात्मा केवलचिन्मयोंऽशकलनात् सर्वोऽस्य निश्चीयते।।५-७५।।युग्मं।।

अफीम पत्थर अन्न अगरु, आदि जानें अंश के।
स्पर्श से ईलायची जल, आम आदि स्वाद से।।
घृत आदि जानें गन्ध से, वस्त्रादि जानें आँख से।
नित शब्द सुनने से हि जानें, झालरादि चित्त से।।
शास्त्रादि जानें तथाहि, देखे हुए पर्वत जलधि।
नगरी पशु नर वृक्ष आदि, शास्त्र जानें ह्रद नदी।।
द्वीपादि मेरु लोक स्थिति, पूर्व भोगे इन्द्रियों।
के विषय तीनों काल के, पहले किए कुछ कार्यों।।
इत्यादि के स्मरण मय, अंशों से पूरा आत्मा।
चिन्मय सदा शाश्वत सकल, ज्ञाता निरन्तर जानना।।७४-७५।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **अन्न**=धान्य; **अश्म**=पाषाण; **अगुरु**=अगरु-चन्दन; **नागफेन**=अफीम; **सदृशं**=समान (पदार्थों का); **तस्य**=उसके; **अंशतः**=अंश से/किसी भाग के; **स्पर्शेन**=स्पर्श द्वारा; **कौमार**=इलायची; **आम्र**=आम्र-फल; **कसीस**=कसीस; **वारि**=जल; **सदृशं**=समान (पदार्थों का); **सर्वं वरं**=सर्वोत्तम (ज्ञान); स्वादेन=स्वाद द्वारा; **घृत+आदि**=घी आदि का; **गन्धेन+एव**=गन्ध द्वारा ही; **वस्त्र-सदृशं**=वस्त्र/कपड़ा के समान (पदार्थों का); **दृष्ट्या**=नेत्र द्वारा; **च**=और; **शास्त्र+आदि**=शास्त्र आदि का; **मानसेन**=मन द्वारा; **निश्चीयते**=निश्चय किया जाता है।।७४।।

तथा=उसी प्रकार; **दृष्ट**=पहले देखे हुए; **नग**=पर्वत; **अब्धि**=समुद्र; **भूरुह**=वृक्ष; **पुरी**=नगरी; **तिर्यक्**=तिर्यंच; **नराणां**=मनुष्यों की; **स्मृत्या**=स्मृति द्वारा; **सिद्धान्त+उक्त**= शास्त्रों में कहे गए; **सुर+अचल**=मेरु; **ह्रद**=तालाब; **नदी**=नदी; **द्वीप+आदि**=द्वीप आदि; **लोक-स्थितेः**=लोक की स्थिति का; **ख+अर्थानां**=इन्द्रियों के विषयों का; **कृत-पूर्व-कार्य-विततेः**=पहले किए गए कार्यों के समूह से; **काल-त्रयाणां+अपि**=तीनों कालों के भी; **अंश-कलनात्**=अंशों के ज्ञान से; **सर्वः**=सम्पूर्ण; **स्व+आत्मा**=अपना

आत्मा; **केवल-चित्-मयः**=मात्र चैतन्यरूप है; (इस प्रकार से) **अस्य**=उसका; **निश्चीयते**=निश्चय हो जाता है।।७५।।

अर्थ : जिस प्रकार अन्न, पाषाण, अगरु और अफीम के समान पदार्थ के कुछ भाग का स्पर्श करने से; इलायची, आम, कसीस और जल के समान पदार्थ के कुछ अंश के स्वाद से; घी आदि के समान पदार्थ के कुछ अंश को सूँघने से; वस्त्र सरीखे पदार्थ के किसी अंश को आँख से देखने से; कर्करी (झालर) आदि के शब्द श्रवण से और मन से शास्त्र आदि के समस्त स्वरूप का निश्चय कर लिया जाता है। उसी प्रकार पहले देखे हुए पर्वत, समुद्र, वृक्ष, नगरी, गाय, भैंस आदि तिर्यंच और मनुष्यों के; शास्त्रों से जाने गये मेरु, ह्रद, तालाब, नदी और द्वीप आदि लोक की स्थिति के; पहले अनुभूत इन्द्रियों के विषय और किये गये कार्यों के एवं तीनों कालों के स्मरण आदि कुछ अंशों से अखण्ड चैतन्य-स्वरूप के पिण्ड-स्वरूप इस आत्मा का भी निश्चय कर लिया जाता है।

भावार्थ : जिस प्रकार पाषाण, इलायची, घी, झालर आदि पदार्थों के समान पदार्थों में पाषाण आदि के समान ही स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुण रहते हैं; इसलिए उनके स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द आदि किसी अंश से उनके समस्त स्वरूप का निश्चय कर लिया जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी मति-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि चेतनाओं के पिण्ड-स्वरूप है; क्योंकि इसे पहले देखे पर्वत, समुद्र, वृक्ष आदि पदार्थों का स्मरण होता है।

शास्त्र में वर्णन किये मेरु ह्रद, नदी आदि के स्वरूप को यह जानता है। पहले अनुभूत इन्द्रियों के विषय और किये गये कामों का भी इसे स्मरण रहता है; भूत, भविष्य व वर्तमान - तीनों कालों को भी भले प्रकार जानता है; इसलिए स्मरण आदि कुछ अंशों के निश्चय से इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि समस्त स्वरूप का निश्चय हो जाता है; क्योंकि स्मृति आदि अंश सिवा इसके दूसरे किसी पदार्थ में नहीं रहते।।७४-७५।।

अब, ७६ और ७७ - इन दो पद्यों द्वारा शुद्ध चिद्रूप-प्राप्ति में कारणभूत सामग्री-संबंधी स्याद्वाद-शैली को स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **द्रव्यं क्षेत्रं च कालं च, भावमिच्छेत् सुधीः शुभम्।**
शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्ति-हेतु-भूतं निरंतरम्।।६-७६।।

न द्रव्येण न कालेन, न क्षेत्रेण प्रयोजनम्।
केनचिन्नैव भावेन, लब्धे शुद्धचिदात्मके।।७-७७।।युग्मं।।

नित शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति हेतु भूत चाहे भले ही।
शुभ द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव, सुधी सुआश्रय लें यही।।७६।।

पर शुद्ध चिद्रूप लब्धि होने, पर नहीं कुछ प्रयोजन।
है द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव से, अत: निष्पृह प्रवर्तन।।७७।।

अन्वयार्थ : सुधी:=ज्ञानी जन; **शुद्ध-चित्-रूप-सम्प्राप्ति-हेतुभूतं**=शुद्ध चिद्रूप की भली-भाँति प्राप्ति में कारणभूत; **शुभं**=पवित्र; **द्रव्यं**=द्रव्य, **क्षेत्रं**=क्षेत्र; **कालं**=काल; **च**=और; **भावं**=भाव को; **निरन्तरं**=सदा; **इच्छेत्**=चाहे/उनका आश्रय ले।।७६।।

शुद्ध-चित्+आत्मके=शुद्ध चैतन्य स्वरूप की; **लब्धे**=प्राप्ति हो जाने पर; **न**=न तो; **द्रव्येन**=द्रव्य से; **न**=न; **कालेन**=काल से; **न**=न; **क्षेत्रेण**=क्षेत्र से; **न+एव**=और न ही; **भावेन**=भाव से; **केनचित्**=किसी भी प्रकार का; **प्रयोजनं**=प्रयोजन रह जाता है/किसी से कुछ भी संबंध नहीं रहता है।।७७।।

अर्थ : जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे उसकी प्राप्ति के अनुपम कारण शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सदा आश्रय करें; परन्तु जिस समय शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाय; उस समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ : कोलाहल-पूर्ण और अशुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के आश्रय से कभी भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए उसके इच्छुक विद्वानों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए शुभ, किन्तु अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का आश्रय करें। हाँ, जब शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाय; तब शुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं।।७६-७७।।

अब, शुद्ध चिद्रूप के पर्याय-वाची नाम बताते हैं—

अनुष्टुप् : **परमात्मा परंब्रह्म, चिदात्मा सर्वदृक् शिव:।**
नामानीमान्यहो शुद्धचिद्रूपस्यैव केवलम्।।८-७८।।

परमात्मा परब्रह्म शिव, हैं सकलदृष्टा चिदात्मा।
इत्यादि बहुविध नाम शुद्ध चिद्रूप के ही जानना।।७८।।

अन्वयार्थ : अहो!=आश्चर्य-कारक; **परमात्मा**=सर्वोत्तम आत्मा; **परं ब्रह्म**=उत्कृष्ट ब्रह्म/व्यापक; **चित्-आत्मा**=चैतन्य-स्वरूप; **सर्व-दृक्**=सब कुछ देखनेवाला; **शिवः**= कल्याण; **इमानि**=ये; **नामानि**=नाम; **केवलं**=मात्र; **शुद्ध-चित्-रूपस्य**=शुद्ध चित् रूप के; **एव**=ही (हैं)।।७८।।

अर्थ : परमात्मा, परं-ब्रह्म, चिदात्मा, सर्व-दृष्टा और शिव; अहो! ये समस्त नाम उसी शुद्ध-चिद्रूप के हैं।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप समस्त कर्मों से रहित हो गया है; इसलिए वह परमात्मा और परं-ब्रह्म है; ज्ञान-दर्शन आदि चेतनाओं का पिण्ड-स्वरूप है, इसलिए चिदात्मा/चैतन्य-स्वरूप है; समस्त पदार्थों को देखनेवाला है, इसलिए सर्व-दृक्/सर्व-दृष्टा है और कल्याण-स्वरूप है, इसलिए शिव है।।७८।।

अब, यह शुद्ध-चिद्रूप ही ग्राह्य है; इसे स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **मध्ये श्रुताब्धेः परमात्मनाम-रत्न-व्रजं वीक्ष्य मया गृहीतम्।**
सर्वोत्तमत्वादिदमेव शुद्ध-चिद्रूप-नामाति-महार्घ्य-रत्नम्।।९-७९।।

अपार सागर रूप जिनश्रुत में अनेकों नाममय।
हैं रत्न परमात्मामयी, चिद्रूप शुद्ध अति उत्तम।।७९।।

अन्वयार्थ : श्रुत+अब्धेः=श्रुतरूपी समुद्र के; **मध्ये**=बीच में; **परमात्म-नाम-रत्न-व्रजं**=परमात्मा नामक रत्नों के समूह को; **वीक्ष्य**=देखकर; **सर्वोत्तमत्वात्**=सर्वोत्तम होने के कारण; **इदं**=यह; **एव**=ही; **शुद्ध-चित्-रूप-नाम+अति-महा+अर्घ्य-रत्नं**=शुद्ध-चिद्रूप नामक अति महा-मूल्यवान रत्न; **मया**=मेरे द्वारा; **गृहीतं**=ग्रहण किया गया है।।७९।।

अर्थ : जैन-शास्त्र एक अपार सागर है। उसमें परमात्मा के नामरूपी अनन्त रत्न भरे हुए हैं, उनमें से भले प्रकार परीक्षा कर और सभी में अमूल्य उत्तम मान, यह शुद्ध-चिद्रूप का नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है।

भावार्थ : जिस प्रकार रत्नाकर-समुद्र में अनन्त रत्न विद्यमान रहते हैं और उनमें से किसी एक सार व उत्तम रत्न को ग्रहण कर लिया जाता है। उसी प्रकार जैन-शास्त्र में भी परमात्मा के परं-ब्रह्म, परमात्मा, शुद्ध-चिद्रूप आदि अगणित नाम उल्लेखित हैं। उनमें से मैंने 'शुद्ध-चिद्रूप' - इस नाम को उत्तम और परम प्रिय मान ग्रहण किया है और इसी नाम का मनन व ध्यान करना उत्तम समझा है।।७९।।

अब, इसमें ही लीनता को सहेतुक स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **नाहं किंचिन्न मे किंचित्, शुद्धचिद्रूपकं विना।**
तस्मादन्यत्र मे चिंता, वृथा तत्र लयं भजे।।१०-८०।।

मैं शुद्ध चिद्रूपी विना नहिं अन्य कुछ मेरा नहीं।
यों जान चिन्ता व्यर्थ, सबकी छोड़ मैं स्थिर यहीं।।८०।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूपकं=शुद्ध चिद्रूप स्वभाव से; **विना**=अतिरिक्त; **अहं**=मैं; **किंचित्**=कुछ भी; **न**=नहीं हूँ; **मे**=मेरा; **किंचित्**=कुछ भी; **न**=नहीं है; **तस्मात्**=इसलिए; **तत्र**=वहाँ; **मे**=मेरी; **चिन्ता**=सोच; **वृथा**=व्यर्थ है; (अत: शुद्ध-चिद्रूप में) **लयं**=लीनता को; **भजे**=प्राप्त होता हूँ।।८०।।

अर्थ : संसार में सिवाय शुद्ध-चिद्रूप के न तो मैं कुछ हूँ और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप से अन्य किसी पदार्थ में मेरा चिन्ता करना, वृथा है; अत: मैं शुद्ध-चिद्रूप में ही लीन होता हूँ।

भावार्थ : मैं शुद्ध चैतन्य-स्वरूप हूँ। मुझसे अन्य समस्त पदार्थ, जड़ हैं। जड़ और चेतन में अति भेद है। जड़, कभी चेतन नहीं हो सकता और चेतन, जड़ नहीं हो सकता; इसलिए मुझे जड़ को अपनाना और उसकी चिन्ता करना, वृथा है; अत: मैं मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूप में ही तल्लीन होता हूँ, एकाग्र होता हूँ।।८०।।

आत्मा सर्व-ज्ञ, सर्व-दर्शी है; यह तथ्य अनुभव से सिद्ध है; इसे अब, स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **अनुभूय मया ज्ञातं, सर्वं जानाति पश्यति।**
अयमात्मा यदा कर्मप्रतिसीरा न विद्यते।।११-८१।।

कर्मावरण जब हटे तब, यह आत्मा सब जानता।
सब देखता ऐसा मुझे, है ज्ञात अनुभव से सदा।।८१।।

अन्वयार्थ : यदा=जब; **कर्म-प्रतिसीरा**=कर्म रूपी परदा; **न**=नहीं; **विद्यते**=रहता है; (तदा=तब) **अयं+आत्मा**=यह आत्मा; **सर्वं**=सभी को; **जानाति**=जानता है; **पश्यति**=देखता है; (यह) **अनुभूय**=अनुभव कर; **मया**=मुझे; **ज्ञातं**=ज्ञात हुआ है।।८१।।

अर्थ : जिस समय कर्मरूपी परदा इस आत्मा के ऊपर से हट जाता है, उस समय यह समस्त पदार्थों को साक्षात् जान-देख लेता है। यह बात मुझे अनुभव से मालूम पड़ती है।

भावार्थ : यह आत्मा अनादि काल से संसार में रुल रहा है और कर्मों से आवृत होने के कारण इसे बहुत ही अल्प ज्ञान होता है; परन्तु जिस समय कर्मों का आवरण हट जाता है, उस समय यह समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान स्पष्टरूप से देख जान लेता है - यह बात अनुभव-सिद्ध है।।८१।।

कहाँ रहने का क्या फल है? अब, यह बताते हैं —

अनुष्टुप् : **विकल्प-जालजंबालान्निर्गतोऽयं सदा सुखी।**
आत्मा तत्र स्थितो दुःखीत्यनुभूय प्रतीयताम्।।१२-८२।।

विकल्पमय शेवाल में फस, दुःख भोगे नित्य ही।
तज उन्हें होता आत्मस्थिर, सदा सुख अनुभूति ही।।८२।।

अन्वयार्थ : अनुभूय=अनुभव करने पर; **इति**=इस प्रकार; **प्रतीयतां**=प्रतीति होती है कि; **विकल्प-जाल-जंबालात्**=विकल्प-जालों के कीचड़ से; **निर्गतः**=निकला हुआ; **अयं**=यह; **आत्मा**=स्वयं; **सदा**=हमेशा; **सुखी**=सुखी रहता है; (और) **तत्र**=उनमें; **स्थितः**=स्थित; **दुःखी**=दुखी रहता है।।८२।।

अर्थ : जब तक आत्मा नाना प्रकार के संकल्प-विकल्परूपी शेवाल (काई) में फँसा रहता है, तब तक यह सदा दुःखी बना रहता है, क्षण भर के लिए भी इसे सुख-शान्ति नहीं मिलती; परन्तु जब इसके संकल्प-विकल्प छूट जाते हैं, उस समय यह सुखी हो जाता है, निराकुलतामय सुख का अनुभव करने लग जाता है - ऐसा स्वानुभव से निश्चय होता है।।८२।।

अब, अनन्त बल-शालिता की भी अनुभव-गोचरता को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **अनुभूत्या मया बुद्धमयमात्मा महाबली।**
लोकालोकं यत: सर्वमंतर्नयति केवल:।।१३-८३।।

अनुभूत है यह मुझे केवल आत्मा है महाबली।
सम्पूर्ण लोकालोक अपने में समा लेता सभी।।८३।।

अन्वयार्थ : मया=मुझे; **अनुभूत्या**=अनुभूति से; **बुद्धं**=ज्ञात हुआ है; (कि) **अयं+आत्मा**=यह आत्मा/स्वयं; **महा-बली**=अनन्त बल-शाली है; **यत:**=क्योंकि; **केवल:**=मात्र यह अकेला ही; **सर्वं**=सम्पूर्ण; **लोक+अलोकं**=लोक और अलोक को; **अन्त:-नयति**=अन्दर ले लेता है/जान लेता है।।८३।।

अर्थ : यह शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा अचिन्त्य शक्ति का धारक है, ऐसा मैंने भले प्रकार अनुभवकर जान लिया है; क्योंकि यह अकेला ही समस्त लोक-अलोक को अपने में प्रविष्ट कर लेता है।

भावार्थ : जिसके ज्ञान में अनन्त-प्रदेशी लोक-अलोक - दोनों प्रविष्ट हो जाते हैं, जो लोकाकाश-अलोकाकाश - दोनों को स्पष्टरूप से जानता है, ऐसा यह आत्मा है; इसलिए यह अचिन्त्य शक्ति का धारक है। अन्य किसी पदार्थ में ऐसी सामर्थ्य नहीं, जिससे इस आत्मा की तुलना कर सकें।।८३।।

आत्मा कर्म से आच्छादित है; इसे अब, ८४ और ८५ - इन दो पद्यों द्वारा सतर्क सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप् : **स्मृतिमेति यतो नादौ, पश्चादायाति किंचित्*।**
कर्मोदयविशेषोऽयं, ज्ञायते हि चिदात्मन:।।१४-८४।।

विस्फुरेन्मानसे पूर्वं, पश्चान्नायाति चेतसि।
किंचिद्वस्तु विशेषोऽयं, कर्मण: किं न बुध्यते।।१५-८५।।युग्मं।।

स्मरण करने पर नहीं, तत्काल होती स्मृति।
पश्चात् कुछ स्मरण चिन्मय के दशा कर्मोदयी।।८४।।

*किंचन - इति पाठ:।

स्मृत हुआ विस्मृत पुनः हो, पुनः स्मृत हो नहीं।
यह कर्म की ही तीव्रता, यों आत्मा है बँधा ही।।८५।।

अन्वयार्थ : यतः=क्योंकि; **आदौ**=प्रारम्भ में; **स्मृतिं**=स्मरण; **न**=नहीं; **एति**=होता है; **पश्चात्**=बाद में; **किंचित्**=कुछ; **आयाति**=(स्मरण) आ जाता है; **हि**=वास्तव में इससे; **अयं**=यह; **ज्ञायते**=जाना जाता है; (कि) **चित्+आत्मनः**=चैतन्य-स्वरूपी आत्मा के; **कर्म+उदय-विशेषः**=कर्म के उदय का विशेष/आधिक्य है।।८४।।

पूर्वं=पहले; **मानसे**=मन में; **विस्फुरेत्**=कुछ प्रगट हो जाता है; **पश्चात्**=बाद में; **चेतसि**=मन में; **न**=नहीं; **आयाति**=आता है; (इससे) **कर्मणः**=कर्म की; **अयं**=यह; **किंचित्**=कुछ; **विशेषः**=विशिष्ट; **वस्तु**=दशा है; (ऐसा) **किं**=क्या; **बुध्यते न**=ज्ञात नहीं होता है (अपितु होता ही है)।।८५।।

अर्थ : यदि यह चैतन्य-स्वरूप आत्मा किसी पदार्थ का स्मरण करता है तो पहले वह पदार्थ उसके ध्यान में जल्दी प्रविष्ट नहीं होता; परन्तु एकाग्र हो जब यह बार-बार ध्यान करता है, तब उसका कुछ-कुछ स्मरण हो आता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह आत्मा कर्मों से आवृत है तथा पहले पहल यदि किसी पदार्थ का स्मरण भी हो जाय तो उसके जरा ही विस्मरण हो जाने पर फिर बार-बार स्मरण करने पर भी उसका स्मरण नहीं आता, इसलिए आत्मा पर कर्मों की माया जान पड़ती है अर्थात् आत्मा कर्म के उदय से आवृत/ढका है - यह स्पष्ट जान पड़ता है।

भावार्थ : यदि शुद्ध-निश्चय-नय से देखा जाय तो भूत, भविष्य व वर्तमान - तीनों काल की पर्यायों को हाथ की रेखा के समान देखना-जानना, इस आत्मा का स्वभाव है; तथापि यह देखने में आता है कि यह बहुत थोड़े पदार्थों को जानता-देखता है एवं पहले देखे-सुने किसी एक पदार्थ का स्मरण कर सकता है और किसी एक का नहीं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कोई न कोई विरोधी पदार्थ अवश्य इसकी शक्ति को रोकनेवाला है और वह शुभ-अशुभ कर्म ही है।।८४-८५।।

अब, सर्वाधिक सरल और सर्वोत्तम फल-दाई कार्य को बताते हैं —

अनुष्टुप् : **सर्वेषामपि कार्याणां, शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनम्।**
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादिहामुत्र सौख्यकृत्।।१६-८६।।

स्वाधीन होने से सभी कार्यों में शुद्ध चिद्रूप का।
ही ध्यान सहज सुसाध्य, इह पर-लोक सुख साधन सदा।।८६।।

अन्वयार्थ : सर्वेषां+अपि=सभी; **कार्याणां**=कार्यों में; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तनं**=शुद्ध चित् रूप का चिन्तन; **निज+अधीनत्वात्**=अपने अधीन होने से; **सुख-साध्यं**=सरलता पूर्वक सिद्ध हो जाता है; (तथा) **इह+अमुत्र**=इस-लोक और पर-लोक में; **सौख्य-कृत्**=सुख-कारक है।।८६।।

अर्थ : संसार के समस्त कार्यों में शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन, मनन व ध्यान करना ही सुख-साध्य/सुख से सिद्ध होनेवाला है; क्योंकि यह निजाधीन है। इसकी सिद्धि में अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती और इससे इस-लोक और पर-लोक - दोनों लोकों में निराकुलतामय सुख की प्राप्ति होती है।।८६।।

अब, पुनः इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां, कामिन्यां रमते च हृत्।**
तथा यदि स्वचिद्रूपे, किं न मुक्तिः समीपगा।।१७-८७।।

ज्यों मोह-वश धन स्त्री आदि में रमता मन सदा।
त्यों स्वयं के चिद्रूप में रम, शीघ्र ही मुक्ति दशा।।८७।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **मोहात्**=मोह के कारण; **प्रोद्यत्**=अत्यधिक उन्मत्त; **हृत्**=मन; **लक्ष्म्यां**=लक्ष्मी में; **च**=और; **कामिन्यां**=कामिनी में; **रमते**=रमण करता है; **तथा**=उसी प्रकार; यदि; **स्व-चित्-रूपे**=अपने चित् रूप में; (रमण करे) **किं**=तो क्या; **मुक्तिः**=मोक्ष; **समीपगा न**=पास में नहीं आएगा? (अवश्यमेव शीघ्र ही मोक्ष हो जाएगा)।।८७।।

अर्थ : मोह के उदय से मत्त जीव का मन जिस प्रकार सम्पत्ति और स्त्रियों में रमण करता है; उसी प्रकार यदि वही मन (उनसे उपेक्षा कर) शुद्ध-चिद्रूप की ओर झुके - उससे प्रेम करे, तो देखते-देखते ही इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ : मन चाहता तो यह है कि मुझे सुख मिले; परन्तु सुख का उपाय कुछ नहीं करता; उल्टा महा-बलवान मोहनीय कर्म के फंदे में फँसकर कभी धन उपार्जन करता है और

कभी स्त्रियों के साथ रमण करता फिरता है। यदि यह शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता करे तो बहुत ही शीघ्र इसे मोक्ष-सुख मिल जाय।।८७।।

अब, इस कार्य को नहीं करनेवालों के लिए उलाहना देते हैं—

अनुष्टुप् : **विमुच्य शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनं ये प्रमादिनः।**
अन्यत् कार्यं च कुर्वंति, ते पिबंति सुधां विषम्।।१८-८८।।

निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान तज, जो प्रमादी अन्य कार्य को।
करते वे पीते हैं जहर, जिवनार्थ तजकर सुधा को।।८८।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **प्रमादिनः**=प्रमादी; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तनं**=शुद्ध-चित् रूप के चिन्तन को; **विमुच्य**=छोड़कर; **अन्यत्**=अन्य; **कार्यं**=कार्य को; **कुर्वन्ति**=करते हैं; **ते**=वे; **सुधां**=अमृत को; **च**=और; (छोड़कर) **विषं**=विष को; **पिबन्ति**=पीते हैं।।८८।।

अर्थ : जो आलसी मनुष्य सुख-दुःख और उनके कारणों को भले प्रकार जानकर भी प्रमाद के उदय से शुद्ध-चिद्रूप की चिन्ता छोड़ अन्य कार्य करने लग जाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुःख-दायी विष-पान करते हैं; इसलिए तत्त्वज्ञों को शुद्ध-चिद्रूप का सदा ध्यान करना चाहिए।।८८।।

किसका क्या फल है? अब, इसका निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **विषयानुभवे दुःखं, व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।**
निराकुलत्वतः शुद्ध-चिद्रूपानुभवे सुखम्।।१९-८९।।

नित आकुलित हो विषय सेवन में सदा दुख भोगता।
नित निराकुलता से सुखी, चिद्रूपवेदी भोगता।।८९।।

अन्वयार्थ : सतां=सज्जनों को; **विषय+अनुभवे**=पंचेंद्रिय विषयों के अनुभव में; **व्याकुलत्वात्**=व्याकुलता होने के कारण; **दुःखं**=दुःख; **भवेत्**=होता है; (और) **शुद्ध-चित् रूप+अनुभवे**=शुद्ध चिद्रूप के अनुभव में; **निराकुलत्वतः**=निराकुलता होने के कारण; **सुखं**=सुख (होता है)।।८९।।

अर्थ : इन्द्रियों के विषय भोगने में जीवों का चित्त सदा व्याकुल बना रहता है;

इसलिए उन्हें अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं। शुद्ध-चिद्रूप के अनुभव में किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती; इसलिए उसकी प्राप्ति से जीवों का परम कल्याण होता है।।८९।।

रागादि नष्ट हुए विना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं होता है; अब, यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **रागद्वेषादिजं दुःखं, शुद्धचिद्रूपचिंतनात्।**
याति तच्चिंतनं न स्याद्, यतस्तद्गमनं विना।।२०-९०।।

नित शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, दुख राग द्वेषादिज मिटें।
वे क्योंकि नष्ट हुए विना, चिद्रूप ध्यान न हो सके।।९०।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तनात्=शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से; **राग-द्वेष+आदि-जं**=राग, द्वेष आदि के कारण उत्पन्न; **दुःखं**=कष्ट; **याति**=समाप्त हो जाता है; **यतः**=क्योंकि; **तत्-गमनं**=उन रागादि के नष्ट हुए; **विना**=विना; **तत्-चिन्तनं**=उस शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन; **न**=नहीं; **स्यात्**=होता है।।९०।।

अर्थ : राग-द्वेष आदि के कारण से जीवों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करते ही वे पल-भर में नष्ट हो जाते हैं, ठहर नहीं सकते; क्योंकि विना रागादि के दूर हुए शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान ही नहीं हो सकता।।९०।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन का फल बताते हैं—

अनुष्टुप् : **आनन्दो जायतेऽत्यन्तः*, शुद्धचिद्रूपचिंतने।**
निराकुलत्वरूपो हि, सतां यत्तन्मयोऽस्त्यसौ।।२१-९१।।

हो शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, आनन्द अति ही निराकुल।
ध्याता को क्योंकि वह सदा, स्व भाव से ही निराकुल।।९१।।

अन्वयार्थ : सतां=सज्जनों को; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तने**=शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन में; **निराकुलत्वरूपः**=निराकुलतारूप; **अत्यन्तः**=अत्यधिक; **आनन्दः**=आनन्द; **जायते**=उत्पन्न होता है; **यत्**=क्योंकि; **हि**=वास्तव में; **असौ**=वह; (उससे) **तत्-मयः**=तन्मय/अभिन्न; **अस्ति**=है।।९१।।

अर्थ : निराकुलतारूप (किसी प्रकार की आकुलता न होना) आनन्द है और इस

* यन्तं - इति पाठः।

आनन्द की प्राप्ति सज्जनों को शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से ही हो सकती है; क्योंकि यह शुद्ध-चिद्रूप आनन्दमय है; आनन्दमय पदार्थ इससे भिन्न नहीं है।।९१।।

अब, उदाहरण पूर्वक कारण के अनुसार कार्य होने को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **तं स्मरन् लभते ना तमन्यदन्यच्च केवलम्।**
याति यस्य पथा पांथस्तदेव लभते पुरम्।।२२-९२।।

जिस मार्ग चलता पथिक, वह उस नगर को ही प्राप्त हो।
त्यों आत्मध्यान से आत्मा, धन आदि से धन प्राप्त हो।।९२।।

अन्वयार्थ : (जैसे) **यस्य**=जिसका; **पथा**=मार्ग है; **पान्थः**=उस पर चलनेवाला; **तदेव**=उसी; **पुरं**=नगर को; **लभते**=प्राप्त होता है; (उसी प्रकार) **ना**=मनुष्य; **तं**=उस/शुद्ध-चिद्रूप का; **स्मरन्**=स्मरण करते हुए; **केवलं**=मात्र; **तं**=उसे; **लभते**=प्राप्त हो जाता है; **च**=और; **अन्यत्**=अन्य में (उलझने से); **अन्यत्**=(भाग्यानुसार) अन्य की प्राप्ति होती है।।९२।।

अर्थ : जिस प्रकार पथिक मनुष्य जिस गाँव के मार्ग को पकड़कर चलता है, वह उसी गाँव में पहुँच जाता है; अन्य गाँव के मार्ग से चलनेवाला अन्य गाँव में नहीं। उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है, वह शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थों की आराधना करता है, वह उनकी प्राप्ति करता है; परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि अन्य पदार्थों का ध्यान करे और शुद्ध-चिद्रूप को पा जाय।।९२।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति किसे होती है? अब, इसका वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोऽगिनाम्।**
तज्जयेऽत्यंत-सुगमा स्यात् क्रियाकांडविमोचनात्।।२३-९३।।

है मोहिओं को महा दुर्लभ, शुद्ध चिद्रूप भोगना।
पर मोह-विजयी तपादि बिन भी उसे ही भोगता।।९३।।

अन्वयार्थ : मोहतः=मोह के कारण; **अंगिनां**=प्राणिओं को; **शुद्ध-चित्-रूप-सं-प्राप्तिः**=शुद्ध चिद्रूप की सम्यक् प्राप्ति; **दुर्गमा**=महा दुर्लभ है; **तत्-जये**=उसे

जीत लेने पर; **क्रिया-काण्ड-वि-मोचनात्**=क्रियाओं के समूह के विना भी; **अत्यन्त-सुगमा**=अत्यधिक सरल; **स्यात्**=है।।९३।।

अर्थ : यह मोहनीय कर्म महा बलवान है। जो जीव इसके जाल में जकड़े हैं, उन्हें शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति दु:साध्य है और जिन्होंने इसे जीत लिया है, उन्हें तप आदि क्रियाओं के विना ही सुलभता से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है।।९३।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित
तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति सुगम''
बतलानेवाला, ७१ से ९३ पर्यंत २३ पद्योंवाला
चौथा अध्याय समाप्त हुआ।।४।।

पाँचवाँ अध्याय

पहले कभी भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हुई - इसका वर्णन

पहले क्या-क्या किया है? और क्या-क्या नहीं किया है? अब, इसका निरूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **रत्नानामौषधीनां, वसन-रस-रुजामन्नधातूपलानां,**
स्त्रीभाश्वानां नराणां, जलचरवयसां, गोमहिष्यादिकानाम्।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान्, विशदमतितया, ज्ञातवान् प्रायशोऽहं,
शुद्धचिद्रूपमात्रं, कथमहह निजं, नैव पूर्वं कदाचित्।।१-९४।।

सब रत्न औषधि वस्त्र अन्न रोग धातु घृतादि रस।
पाषाण स्त्री पशु नर, जलचर खगादि गो महिष।।
इत्यादि बहुविध पदार्थों के, नाम काम प्रयोजन।
सब प्राप्ति स्थल विशद धी से, ज्ञात प्राय: मुझे सब।।
ये सभी जानें पूर्व में, पर शुद्ध चिद्रूप मात्र ही।
जो नित्य आत्मिक स्वयं ही, उसको नहीं जाना कभी।।९४।।

अन्वयार्थ : अहं=मैंने; **प्रायश:**=अनेकों बार; **विशद-मतितया**=स्पष्ट बुद्धि से; **रत्नानां**=रत्नों के; **औषधीनां**=औषधिओं के; **वसन**=वस्त्र; **रस**=(स्निग्ध आदि) रस; **रुजां**=रोगों के; **अन्न**=धान्य; **धातु**=(सुवर्ण आदि) धातु; **उपलानां**=पाषाणों के; **स्त्री**=महिला; **इभ**=हाथी; **अश्वानां**=घोड़ों के; **नराणां**=मनुष्यों के; **जलचर**=जल में रहनेवाले प्राणिओं; **वयसां**=पक्षिओं के; **गो**=गाय; **महिषी+आदिकानां**=भैंस आदि के; **नाम+उत्पत्ति+अर्घता+अर्थान्**=नाम, उत्पत्ति, मूल्य, प्रयोजनों को; **ज्ञातवान्**=जाना है; (परन्तु)

अहह=आश्चर्य है कि; **पूर्वं**=पहले; **कदाचित्**=कभी भी; **शुद्ध-चित्-रूप-मात्रं**=शुद्ध-चिद्रूप मात्र; **निजं**=स्वयं को; **कथं**=कैसे?; **न-एव**=नहीं जाना/क्यों नहीं जान पाया।।९४।।

अर्थ : मैंने पहले कई बार रत्न, औषधि, वस्त्र, घी आदि रस, रोग, अन्न, सोना-चाँदी आदि धातु, पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोड़े, मनुष्य, मगर-मच्छ आदि जल के जीव, पक्षी, गाय, भैंस आदि पदार्थों के नाम, उत्पत्ति, मूल्य और प्रयोजन भले प्रकार अपनी विशद-बुद्धि से जान-सुन लिये हैं; परन्तु जो निज शुद्ध-चिद्रूप नित्य है, आत्मिक है, उसे आज तक कभी पहले नहीं जाना है।

भावार्थ : मैं अनादि काल से इस संसार में घूम रहा हूँ। मुझसे संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं बचा, जिसका मैंने नाम न जाना हो, उसकी उत्पत्ति के कारण, मूल्य और प्रयोजन न पहिचाने हों; परन्तु एक निज शुद्ध-चिद्रूप नाम का पदार्थ ऐसा बच गया है, जिसका न मैंने कभी नाम सुना, न इसकी प्राप्ति के उपाय सोचे और न इसका प्रयोजन ही पहिचाना; इसलिए यह मेरे लिए अपूर्व पदार्थ है।।९४।।

उपर्युक्त कार्य नहीं कर पाने का अब कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **पूर्वं मया कृतान्येव, चिंतनान्यप्यनेकशः।**
न कदाचिन्महामोहात्, शुद्धचिद्रूपचिंतनम्।।२-९५।।

सब पूर्व में मैंने किया, बहुबार चिन्तन अन्य का।
पर मोह-वश नहिं कर सका, इक ध्यान शुध चिद्रूप का।।९५।।

अन्वयार्थ : मया=मेरे द्वारा; **अनेकशः**=अनेकों बार; **पूर्वं**=पहले; **चिन्तनानि+अपि**=चिन्तन भी; **कृतानि+एव**=किया गया ही है; (तथापि) **महा-मोहात्**=मोह की तीव्रता से; **कदाचित्**=कभी भी; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तनं**=शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन; **न**=नहीं किया गया है।।९५।।

अर्थ : पहले मैंने अनेक बार अनेक पदार्थों का मनन, ध्यान किया है; परन्तु पुत्र, स्त्री आदि के मोह से मूढ़ हो, शुद्ध-चिद्रूप का कभी आज तक चिन्तवन न किया।।९५।।

मरण-काल में भी इसका स्मरण नहीं किया है; अब ऐसा प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **अनन्तानि कृतान्येव, मरणानि मयापि न।**
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतम्।।३-९६।।

मैंने अनन्तों बार मरण, अनन्त भव में हैं किए।
'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' नहीं ध्याया मरण के काल में।।९६।।

अन्वयार्थ : मया+अपि=मेरे द्वारा भी; **अनन्तानि**=अनन्त; **मरणानि**=मरण; **कृतानि+एव**=किए ही गए हैं; (परन्तु) **कुत्रचित्**=किसी भी; **मरणे**=मरण समय में; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शुद्ध-चिद्रूप हूँ; **इति**=ऐसा; **स्मृतं**=स्मरण; **न**=नहीं किया है।।९६।।

भावार्थ : मैं अनन्त बार अनन्त भवों में मरा; परन्तु मृत्यु के समय 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण कर कभी न मरा।।९६।।

इस शुद्ध-चिद्रूप को आज तक प्राप्त नहीं किया है; अब, यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **सुरद्रुमा निधानानि, चिंतारत्नं द्युसद्गवी।**
लब्धा च न परं पूर्वं, शुद्धचिद्रूपसंपदः।।४-९७।।

चिन्तामणि सुरतरु सुरधेनु निधान विविध विभव।
पाए परन्तु नहीं पाया, शुद्ध चिद्रूपी विभव।।९७।।

अन्वयार्थ : पूर्वं=पहले; **सुरद्रुमा**=कल्पवृक्ष; **निधानानि**=वैभव; **चिन्ता-रत्नं**=चिन्तामणि; **च**=और; **द्युसद्-गवी**=कामधेनु; **लब्धा**=प्राप्त की हैं; **परं**=परन्तु; **शुद्ध-चित्-रूप-सम्पदा**=शुद्ध चिद्रूपमय सम्पत्ति; **न**=नहीं प्राप्त की है।।९७।।

अर्थ : मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु आदि लोकोत्तर अनन्त विभूतियाँ प्राप्त कर लीं; परन्तु अनुपम शुद्ध-चिद्रूप नाम की सम्पत्ति आज तक कभी नहीं पायी।।९७।।

अब, इसी अप्राप्ति पर पुनः खेद व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **द्रव्यादिपंचधा पूर्वं, परावर्ता अनन्तशः।**
कृतास्तेष्वेकशो न स्वं, स्वरूपं लब्धवानहम्।।५-९८।।

द्रव्यादि पाँचों परावर्तन, किए पूरे अनन्तों।
पर स्व स्वरूपोपलब्धि की नहिं कभी अत्याश्चर्य हो।।९८।।

अन्वयार्थ : पूर्वं=पहले; **अनन्तशः**=अनन्त बार; **द्रव्य+आदि-पंच-धा**=द्रव्य आदि पाँच प्रकार के; **परावर्ता**=परिवर्तन; **कृताः**=किए; **तेषु**=उनमें; **एकशः**=एक बार भी; **अहं**=मैंने; **स्वं**=अपने; **स्वरूपं**=स्वरूप को; **न**=नहीं; **लब्धवान्**=प्राप्त किया है।।९८।।

अर्थ : मैंने अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण किया। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव नामक पाँचों परिवर्तन भी अनेक बार पूरे किये; परन्तु स्व-स्वरूप शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति मुझे आज तक एक बार भी न हुई।।९८।।

अब, इसे ही पुनः स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **इन्द्रादीनां पदं लब्धं, पूर्वं विद्याधरेशिनाम्।**
अनन्तशोऽहमिंद्रस्य, स्वस्वरूपं न केवलम्।।६-९९।।

पाए अनेकों बार विद्याधरेशों इन्द्रादि के।
अहमिन्द्र के पद भी परन्तु स्व स्वरूप न पा सके।।९९।।

अन्वयार्थ : (मैंने) **पूर्वं**=पहले; **अनन्तशः**=अनन्त बार; **इन्द्र+आदीनां**=इन्द्र आदि के; **विद्याधर+ईशिनां**=विद्याधर-स्वामिओं के; **अहमिन्द्रस्य**=अहमिन्द्र का; **पदं**=पद/स्थान; **लब्धं**=प्राप्त किया है; **केवलं**=एक मात्र; **स्व-स्वरूपं**=अपना स्वरूप; **न**=प्राप्त नहीं किया है।।९९।।

अर्थ : मैंने पहले अनेक बार इन्द्र, नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये। अनन्त बार विद्याधरों का स्वामी और अहमिन्द्र भी हुआ; परन्तु आत्मिकरूप, शुद्ध-चिद्रूप का लाभ न कर सका।।९९।।

मोह-शत्रु को आज तक नहीं जीता है; अब, यह स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मध्ये चतुर्गतीनां च, बहुशो रिपवो जिताः।**
पूर्वं न मोहप्रत्यर्थी, स्वस्वरूपोपलब्धये।।७-१००।।

बहु बार चारों गति के, बहु रिपु जीते पर नहीं।
जीता स्वरूपोपलब्धि-घातक, मोह को मैंने कभी।।१००।।

अन्वयार्थ : च=और; **पूर्वं**=पहले; **बहुशः**=अनेकों बार; **चतुर्गतीनां**=चारों गतिओं के; **मध्ये**=बीच में; **बहुशः**=अनेकों प्रकार के; **रिपवः**=शत्रु; **जिताः**=जीते हैं; (परन्तु) **स्व-स्वरूप+उपलब्धये**=अपने स्वरूप की पूर्णतया प्राप्ति के लिए; **मोह-प्रत्यर्थी**=मोहरूपी शत्रु; **न**=नहीं जीता है।।१००।।

अर्थ : नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देव - इन चारों गतियों में भ्रमणकर मैंने अनेक बार अनेक शत्रुओं को जीता; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उसके विरोधी महा बलवान मोहरूपी बैरी को कभी नहीं जीता।।१००।।

अब, शुद्ध चिद्रूप की अस्वीकृति को व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **मया निःशेषशास्त्राणि, व्याकृतानि श्रुतानि च।**
तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं, स्वीकृतं तीव्रमोहिना।।८-१०१।।

बहु शास्त्र भी बहुबार समझे, सुने, विश्लेषित किए।
अति मोह-वश पर नहीं माना, शुद्धरूप वहीं कहे।।१०१।।

अन्वयार्थ : मया=मेरे द्वारा; **निःशेष-शास्त्राणि**=सम्पूर्ण शास्त्रों का; **व्याकृतानि**=व्याख्यान किया गया; **च**=और; **श्रुतानि**=(वे सभी) सुने गए; (परन्तु) **तेभ्यो**=उनमें से; **शुद्ध-चित्-रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **तीव्र-मोहिना**=तीव्र मोह के कारण; **न**=नहीं; **स्वीकृतं**=स्वीकार किया गया है।।१०१।।

अर्थ : मैंने संसार में अनन्त बार कठिन से कठिन भी सम्पूर्ण शास्त्रों का व्याख्यान किया, अर्थ किया और बहुत से शास्त्रों का श्रवण भी किया; परन्तु उनमें जो शुद्ध-चिद्रूप का वर्णन है, उसे मोह से मूढ़ हो कभी स्वीकार न किया।।१०१।।

अब, इसी की अप्राप्ति को पुनः बताते हैं—

अनुष्टुप् : **वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थितः।**
न लब्धं शुद्धचिद्रूपं, तत्रापि भ्रमतो निजम्।।९-१०२।।

बहु वृद्ध सेवा की, रहा विद्वद सभाओं में सदा।
घूमा वहाँ पर शुद्ध चिद्रूप, को नहीं मैं पा सका।।१०२।।

अन्वयार्थ : (मैंने) **वृद्ध-सेवा**=वृद्धों की सेवा; **कृता**=की; **विद्वत्-महतां**=विद्वानों की विशाल; **सदसि**=सभाओं में (भी मैं); **स्थितः**=बैठा; (परन्तु) **तत्र+अपि**=वहाँ भी; **भ्रमतः**=घूमते हुए; **निजं**=अपने; **शुद्ध-चित्-रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **न**=नहीं; **लब्धं**=प्राप्त किया है।।१०२।।

अर्थ : इस संसार में भ्रमण कर मैंने कई बार वृद्धों की सेवा की व विद्वानों की बड़ी-बड़ी सभाओं में भी बैठा; परन्तु अपने निज शुद्ध-चिद्रूप को कभी मैंने प्राप्त नहीं किया।।१०२।।

अब, इसे ही पुनः स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मानुष्यं बहुशो लब्धमार्ये खंडे च सत्कुलम्।**
आदिसंहननं शुद्धचिद्रूपं न कदाचन।।१०-१०३।।

बहुबार उत्तम संहनन, नर, आर्य खण्ड कुलीन भी।
हो नहीं पाया शुद्ध चिद्रूप, एक स्वयं स्वभाव ही।।१०३।।

अन्वयार्थ : आर्ये=आर्य; **खण्डे**=खण्ड में; **बहुशः**=अनेकों बार; **मानुष्यं**=मनुष्यता; **सत्कुलं**=समीचीन कुल; **च**=और; **आदि-संहननं**=पहले/बज्र-वृषभ-नाराच संहनन को; **लब्धं**=प्राप्त किया है; (परन्तु) **कदाचन**=कभी; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **न**=नहीं प्राप्त किया है।।१०३।।

अर्थ : मैं आर्य-खण्ड में बहुत बार मनुष्य हुआ, कई बार उत्तम कुल में जन्म पाया; बज्र-वृषभ-नाराच संहनन भी कई बार पाया; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की मुझे कभी भी प्राप्ति न हुई।।१०३।।

शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-विना मैंने क्या-क्या धारण किया; अब, इसे बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शौचसंयमशीलानि, दुर्धराणि तपांसि च।**
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतरा धृतवानहम्।।११-१०४।।

बहु बार संयम शौच, दुर्धर तपादि शीलादि भी।
धारे नहीं ध्याया यही, चिद्रूप शुध बस एक ही।।१०४।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूप-सत्-ध्यानं=शुद्ध-चिद्रूप के समीचीन ध्यान के;

अन्तरा=विना; **अहं**=मैंने; **शौच**=निर्लोभता; **संयम**=सीमित होना; **शीलानि**=शील; **च**=और; **दुर्धराणि**=कठिनतम; **तपांसि**=तप; **धृतवान्**=धारण किए।।१०४।।

अर्थ : मैंने अनन्त बार शौच, संयम व शीलों को धारण किया, भाँति-भाँति के घोर तप भी तपे; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप का कभी ध्यान नहीं किया।।१०४।।

सभी प्रकार की पर्यायों को धारण कर भी इस शुद्ध-चिद्रूप को नहीं जाना; अब, ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

अनुष्टुप् : **एकेन्द्रियादिजीवेषु, पर्याया: सकला धृता:।**
अजानता स्वचिद्रूपं, परस्पर्शादि जानता।।१२-१०५।।

इस जीव ने एकेन्द्रियादि, सभी पर्यायें धरीं।
स्पर्श आदि अन्य के, जाने न जाना चिन्मयी।।१०५।।

अन्वयार्थ : एक+इन्द्रिय+आदि-जीवेषु=एक इन्द्रिय आदि जीवों में; **सकल**=सम्पूर्ण; **पर्याया:**=पर्यायों को; **आधृता:**=धारण किया; **पर**=अन्य के; **स्पर्श+आदि**=स्पर्श आदि को; **जानता**=जानता हुआ (भी); **स्व-चित्-रूपं**=अपने चिद्रूप को; **अजानता**=नहीं जान पाया।।१०५।।

अर्थ : मैं अनेक बार एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हुआ। एकेन्द्रिय आदि में वृक्ष आदि अनन्त पर्यायों को धारण किया; दूसरे के स्पर्श, रस, गन्ध आदि को भी जाना; परन्तु स्व स्वरूप चिद्रूप को आज तक न पाया, न पहिचाना।।१०५।।

अब, पुन: खेदित चित्त से इसे ही व्यक्त करते हैं —

अनुष्टुप् : **ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं, सचेतनमचेतनम्।**
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं, न कदाचिच्च केवलम्।।१३-१०६।।

सब अचेतन चेतन सभी, जाने हैं देखे पर कभी।
स्वकीय शुद्ध चिद्रूप केवल, एक जाना है नहीं।।१०६।।

अन्वयार्थ : मया=मेरे द्वारा; **सचेतनं**=सचेतन; **अचेतनं**=अचेतन; **सर्वं**=सभी को; **ज्ञातं**=जाना गया; **च**=और; **दृष्टं**=देखा गया; **केवलं**=एक-मात्र; **स्वकीयं**=अपने; **शुद्ध-चित्-रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **कदाचित्**=कभी भी; **न**=नहीं देखा-जाना है।।१०६।।

अर्थ : मैंने संसार में चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को भले प्रकार देखा-जाना; परन्तु केवल शुद्ध-चिद्रूप नामक एक पदार्थ को मैंने कभी न जाना, न देखा।।१०६।।

अब, इसे ही विस्तार से पुष्ट करते हैं—

मन्दाक्रान्ता: **लोकज्ञाति-श्रुतसुरनृपति श्रेयसां भामिनीनां,**
यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां, ज्ञातवान् प्रायशोऽहम्।
क्षेत्रादीनामशकलजगतो, वा स्वभावं च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा, संसृतौ तीव्रमोहात्।।१४-१०७।।

सब लोक ज्ञाति शास्त्र सुर, नरपति विभव कल्याण भी।
मुनि आदि नारी प्रवृत्ति, नदि क्षेत्र पर्वत आदि भी।।
सम्पूर्ण जगत स्वभाव, अंशों की अनेकों विविधता।
जानी न जाना मोह से, 'चिद्रूप ध्रुव मैं' यथार्थता।।१०७।।

अन्वयार्थ : **अहं**=मैंने; **प्रायश:**=अनेकों बार; **लोक**=विश्व; **ज्ञाति**=जाति; **श्रुत**=शास्त्र; **सुर**=देव; **नृपति**=राजाओं की; **श्रेयसां**=विभूतिओं/कल्याणों को; **भामिनीनां**=स्त्रिओं को; **यति+आदीनां**=मुनि आदि के; **अखिलां**=सम्पूर्ण; **व्यवहृतिं**=व्यवहारों को; **क्षेत्र+आदीनां**=क्षेत्र आदि को; **वा**=अथवा; **च**=और; **अशकल-जगत:**=सम्पूर्ण लोक के; **स्वभावं**=स्वभाव को; **ज्ञातवान्**=जाना; (परन्तु इस) **संसृतौ**=संसार में; **तीव्र-मोहात्**=तीव्र मोह के कारण; **कदा**=कभी; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूप:**=शुद्ध-चिद्रूप; **ध्रुवं**=ध्रुव (हूँ); **इति**=ऐसा; **न**=नहीं (जाना है)।।१०७।।

अर्थ : संसार में लोक, ज्ञाति, शास्त्र, देव और राजाओं की विभूतियों को; कल्याण, स्त्रियों और मुनि आदि के समस्त व्यवहार को कई बार मैंने जाना; क्षेत्र, नदी, पर्वत आदि खण्ड और समस्त जगत के स्वभाव को भी पहिचाना; परन्तु मोह की तीव्रता से 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' इस बात को मैं निश्चयरूप से कभी न जान पाया।

भावार्थ : देखने में आता है कि संसार में प्राय: मनुष्य लोक की विभूति और जाति आदि के गौरव को उत्तम समझते हैं और उसी को हित-कारी मान, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। मैंने इन सबको भले प्रकार जान, देख और प्राप्त कर लिया; किन्तु अभी तक मुझे केवल शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति कभी नहीं हुई।।१०७।।

मैं कहाँ-कहाँ बैठा? पर कहाँ नहीं बैठ पाया? अब, यह बताते हैं —

अनुष्टुप् : **शीतकाले नदीतीरे, वर्षाकाले तरोरधः।**
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे, स्थितो न स्वे चिदात्मनि।।१५-१०८।।

अति शीत में सर तीर, तरुतल बहुत वर्षा में रहा।
अति ग्रीष्म पर्वत चोटिओं पर, नहिं चिदातम में रहा।।१०८।।

अन्वयार्थ : शीत-काले=शीत काल/ठण्ड में; **नदी-तीरे**=नदी के किनारे; **वर्षा-काले**=वर्षा काल में; **तरोः+अधः**=वृक्ष के नीचे; **ग्रीष्मे**=गर्मी में; **नग-शिरः-देशे**=पर्वत की चोटिओं पर; **स्थितः**=बैठा; (परन्तु) **स्वे**=अपने; **चित्+आत्मनि**=चैतन्य स्वभाव में; **न**=स्थित नहीं हो सका।।१०८।।

अर्थ : बहुत बार मैं शीत काल में नदी के किनारे, वर्षा काल में वृक्ष के नीचे और ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटियों पर स्थित हुआ; परन्तु अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा में मैंने कभी स्थिति न की।।१०८।।

शुद्ध स्वरूप को नहीं जानने के कारण मैंने क्या-क्या किया? अब, इसे स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **विहितो विविधोपायैः, कायक्लेशो महत्तमः।**
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं, स्वस्वरूपमजानता।।१६-१०९।।

स्वर्गादि इच्छा से किए, बहुविध प्रयत्नों से महा।
नित काय क्लेश स्वरूप, शुध चिद्रूप निज नहिं जानता।।१०९।।

अन्वयार्थ : स्व=अपने; **शुद्धं**=शुद्ध; **स्वरूपं**=स्वभाव को; **अजानता**=नहीं जानते हुए; **स्वर्ग+आदि-कांक्षया**=स्वर्ग आदि की इच्छा से; (मैंने) **विविध+उपायैः**=अनेक प्रकार के उपायों द्वारा; **विहितः**=कहा गया; **महत्तमः**=घोरतम; **काय-क्लेशः**=काय-क्लेश; (किया)।।१०९।।

अर्थ : 'मुझे स्वर्ग आदि सुख की प्राप्ति हो' इस अभिलाषा से मैंने अनेक प्रयत्नों से घोरतम भी काय-क्लेश तप तपे; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की ओर जरा भी ध्यान न दिया। स्वर्ग, चक्रवर्ती आदि के सुख के सामने मैंने शुद्ध-चिद्रूप के सुख को तुच्छ समझा।।१०९।।

अब, पुनः इसी का विशेष प्रतिपादन करते हैं —

अनुष्टुप् : **अधीतानि च शास्त्राणि, बहुवारमनेकशः।**
मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकम्।।१७-११०।।

बहुबार बहुविध शास्त्र भी, पढ़ लिए पर अति मोह से।
'मैं शुद्ध चिद्रूपी' निरूपक, शास्त्र नहीं कभी पढ़े।।११०।।

अन्वयार्थ : (मैंने) **बहु-वारं**=अनेकों बार; **अनेकशः**=अनेक प्रकार के; **शास्त्राणि**=शास्त्र; **अधीतानि**=पढ़े; **च**=और/परन्तु; **मोहतः**=मोह के कारण; **शुद्ध-चित्-रूप-प्रतिपादकं**=शुद्ध-चिद्रूप का प्रतिपादन करनेवाला (शास्त्र); **कदा**=कभी; **न**=नहीं पढ़ा।।११०।।

अर्थ : मैंने बहुत बार अनेक शास्त्रों को पढ़ा; परन्तु मोह से मत्त हो, शुद्ध-चिद्रूप का स्वरूप समझानेवाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया।।११०।।

इसे बतानेवाले गुरु भी नहीं मिले; अब, ऐसा निरूपण करते हैं —

अनुष्टुप् : **न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः।**
लब्धो मन्ये कदाचित्तं विनाऽसौ लभ्यते कथम्।।१८-१११।।

स्व रूप चिद्रूप शुद्ध प्रतिपादक गुरु भी नहिं मिले।
यह मान उनके विना कैसे, स्व स्वरूप मुझे मिले?।।१११।।

अन्वयार्थ : (मुझे) **शुद्ध-चित्-रूप-स्व-रूप-प्रतिपादकः**=शुद्ध-चिद्रूप के स्वभाव का प्रतिपादन करनेवाले; **गुरुः**=गुरु; **न**=नहीं; **लब्धः**=मिले; **मन्ये**=(मैं ऐसा) मानता हूँ (कि); **तं**=उनके; **विना**=अभाव में; **कदाचित्**=कभी भी; **असौ**=वह; **कथं**=कैसे; **लभ्यते**=प्राप्त हो सकता है?।।१११।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले आज तक मुझे कोई गुरु नहीं मिले और जब गुरु ही कभी नहीं मिले, तब शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो ही कैसे सकती थी? अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप के मर्मज्ञ गुरु के विना शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति सर्वथा दुःसाध्य है।।१११।।

मैंने अभी तक क्या किया? इसे अब, स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **सचेतने शुभे द्रव्ये, कृता प्रीतिरचेतने।**
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया।।१९-११२।।

अति मोह से चेतन अचेतन, द्रव्य शुभ में प्रीति की।
स्वकीय चिद्रूप शुद्ध में, पर नहीं प्रीति की कभी।।११२।।

अन्वयार्थ : मया=मैंने; **मोहिना**=मोह के कारण; **सचेतने**=जीव-सहित; **अचेतने**=जीव-रहित; **शुभ-द्रव्ये**=शुभ द्रव्य में; **प्रीति**=प्रकृष्ट रति (तो); **कृता**=की; (परन्तु) **स्वकीये**=अपने; **शुद्ध-चित्-रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **पूर्वं**=पहले कभी; **न**=प्रीति नहीं की है।।११२।।

अर्थ : अतिशय मोही होकर मैंने सजीव व अजीव शुभ-द्रव्यों में प्रीति की; परन्तु आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में कभी प्रेम न किया।

भावार्थ : मुनि आदि शुभ चेतन-द्रव्यों में और भगवान की प्रतिमा आदि शुभ अचेतन द्रव्यों में मैंने गाढ़ प्रेम किया; परन्तु ये पर-द्रव्य होने से मेरी अभीष्ट-सिद्धि न कर सके; क्योंकि मेरे अभीष्ट की सिद्धि आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में प्रेम करने से ही हो सकती थी, सो उसमें मैंने कभी प्रेम न किया।।११२।।

शुद्धात्मा का चिन्तन भी मैंने पहले नहीं किया है; अब, इस तथ्य को दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **दुष्कराण्यपि कार्याणि, हा शुभान्यशुभानि च।**
बहूनि विहितानीह, नैव शुद्धात्मचिंतनम्।।२०-११३।।

दुष्कर शुभाशुभ कार्य मैंने, किए बहुविध पर कभी।
नहिं किया शुद्ध चिद्रूप चिन्तन, नहीं उसका ध्यान भी।।११३।।

अन्वयार्थ : हा=हाय!; (मैंने); **इह**=इस-लोक में; **शुभानि**=शुभ/अच्छे, पुण्यरूप; **च**=और; **अशुभानि**=अशुभ/बुरे, पापरूप; **दुष्कराणि+अपि**=कठिन से कठिन भी; **बहूनि**=अनेक प्रकार के; **विहितानि**=कहे गए; **कार्याणि**=कार्य; (किए); (परन्तु) **शुद्ध+आत्म-चिन्तनं**=शुद्ध आत्मा का चिन्तन; **न+एव**=कभी नहीं किया है।।११३।।

अर्थ : इस संसार में मैंने कठिन से कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये; परन्तु आज तक शुद्ध-चिद्रूप की कभी चिन्ता न की।।११३।।

पूर्व कृत सभी कार्य अब मुझे कैसे लग रहे हैं? इस तथ्य का निरूपण करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **पूर्वं या विहिता क्रिया किल महामोहोदयेनाखिला,**
मूढत्वेन मयेह तत्र महतीं प्रीतिं समातन्वता।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मन्दमोहस्य मे,
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतो धिग् विमोहोदयम्।।२१-११४।।

हैं महा मोहोदय-वशी हो, महा प्रीतिकर किए।
मैंने यहाँ सब मूढ़ता से, जहर वत् अब लगें वे।।
चिद्रूप में रत मन्द मोही, सभी में अब निष्पृही।
इस मोह उदयी दशा को धिक्कारता मन नित्य ही।।११४।।

अन्वयार्थ : महा-मोह-उदयेन=तीव्र मोह की प्रगटता से; **मूढ़त्वेन**=मूढ़ता के कारण; **भया**=भय-भीत हो; **इह**=यहाँ/इस-लोक में; **महतीं**=अत्यधिक; **प्रीतिं**=विशिष्ट रति पूर्वक; **पूर्वं**=पहले; **विहिता**=कही गई; **किल**=वास्तव में; **या**=जो; **अखिला**=सम्पूर्ण; **क्रिया**=क्रियाएं की गई हैं; **सा**=वे सभी; **मन्द-मोहस्य**=मोह की मन्दता-युक्त; **चित्-रूप-अभिरतस्य**=चिद्रूप में लीन; **मे**=मुझे; **विष-वत्**=जहर के समान; **भाति**=लग रही हैं; (क्योंकि) **अधुना**=इस समय; **सर्वस्मिन्**=उन सभी में (मैं); **निः+ईह-मनसः**=इच्छा से रहित मनवाला (हूँ); **अतः**=इसलिए; **वि-मोह-उदयं**=विशिष्ट मोह के उदय को; **धिक्**=धिक्कार है।।११४।।

अर्थ : सांसारिक बातों में अतिशय प्रीति को करानेवाले मोहनीय कर्म के उदय से मूढ़ बन जो मैंने पहले समस्त कार्य किये हैं, वे इस समय मुझे विष-सरीखे दुःख-दायी जान पड़ रहे हैं; क्योंकि इस समय मैं शुद्ध-चिद्रूप में लीन हो गया हूँ। मेरा मोह मन्द हो गया है और सब बातों से मेरी इच्छा हट गयी है; इसलिए इस मोहनीय कर्म के उदय के लिये सर्वथा धिक्कार है।

भावार्थ : जब तक मैं मूढ़ था, हित और अहित को जरा भी नहीं पहिचानता था;

तब तक मोह के उदय से मैं जिस काम को करता था, उसे बहुत अच्छा मानता था; परन्तु मैं शुद्ध-चिद्रूप में लीन हुआ, मेरा मोह मन्द हुआ और समस्त ऐहिक पदार्थों से मेरी इच्छा हटी तो मोह के उदय से किये वे समस्त कार्य मुझे विष-सरीखे मालूम होने लगे; जरा भी उनमें मेरा प्रेम नहीं रहा; इसलिए इस मोहनीय कर्म को सर्वथा धिक्कार है।।११४।।

ऐसा क्यों हुआ; अब, इसका कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां, वृन्दैरापूरितो भृशम्।**
लब्धस्तेनावकाशो न, शुद्धचिद्रूप-चिंतने।।२२-११५।।

अव्यक्त व्यक्त विकल्प बहुविध से सहित मुझको कभी।
इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतु, समय भी मिलता नहीं।।११५।।

अन्वयार्थ : भृशं=बारम्बार; **व्यक्त-अव्यक्त-विकल्पानां**=प्रगट-अप्रगट-विकल्पों के; **वृन्दैः**=समूह से; **आपूरितः**=घिरा रहा; **तेन**=उस कारण; **शुद्ध-चित्-रूप-चिन्तने**= शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन में/हेतु (मुझे); **अवकाशः**=अवसर ही; **लब्धः न**=प्राप्त नहीं हुआ।।११५।।

अर्थ : व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के विकल्पों से मैं सदा भरा रहा; इसलिए आज तक मुझे शुद्ध-चिद्रूप के चिंतवन करने का कभी भी अवकाश नहीं मिला।।११५।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित
तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की पहले प्राप्ति न होने''
का वर्णन करनेवाला, ९४ से ११५ पर्यंत २२ पद्योंवाला
पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।५।।

छठवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में निश्चलता का वर्णन

अन्य मुझे कैसा देखते हैं और मैं कैसा हूँ? अब, इस तथ्य का प्ररूपण करते हैं —

शार्दूल-विक्रीड़ित: **जानंति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा,**
मग्नं भूरि-परीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितम्।
मृत्यासन्नतया गतं विकृतितां चेद् भ्रांतिमन्तं परे,
चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचनं जानंतु मामंगिन:।।१-११६।।

सब समझ पागल ग्रह पिशाचों से ग्रसित रोगी विकल।
बहु परिषहों से जरा युत, आसन्नमरणी ज्ञान बिन।।
नित भ्रमित सब मानों भले, पर मैं नहीं ऐसा कभी।
मैं शुद्ध चिद्रूपी श्रुति के, दृढ़ वचन मानूँ यही।।११६।।

अन्वयार्थ : परे=अन्य जन; **मामंगिन:**=मुझे; **ग्रहलं**=बावला; **ग्रह-गणै:**=ग्रहों के समूह से; **हतं**=पीड़ित; **पिशाचै:**=पिशाचों से; **ग्रस्तं**=ग्रस्त/ग्रसा गया; **रुजा**=रोग से; **मग्नं**=घिरा हुआ; **भूरि**=अनेक प्रकार के; **परीषहै:**=परिषहों से; **विकलतां**=विकलता को; **नीतं**=प्राप्त; **जरा-चेष्टितं**=वृद्धावस्था की चेष्टा-युक्त; **मृत्यु+आसन्नतया**=मृत्यु की निकटता के कारण; **विकृतितां**=विकार को; **गतं**=प्राप्त; **भ्रान्तिमन्तं**=भ्रमित बुद्धिवाला; **चेत्**=यदि; **जानन्ति**=जानते हैं (तो); **जानन्तु**=जानें; (परन्तु) **स्मृति-प्रवचनं**=स्मृति और प्रवचन (के अनुसार); **अहं**=मैं; **चित्-रूप:**=चिद्रूप (हूँ); **इति**=ऐसा ही (स्वयं को जानता हूँ)।।११६।।

अर्थ : चिद्रूप की चिन्ता में लीन मुझे अनेक मनुष्य बावला, खोटे ग्रहों से और पिशाचों से ग्रस्त, रोगों से पीड़ित, भाँति-भाँति के परिषहों से विकल, बुड्ढा, बहुत जल्दी

मरनेवाला होने के कारण विकृत और ज्ञान-शून्य हो घूमनेवाला जानते हैं, सो जानो; परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ; क्योंकि मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ।

भावार्थ : मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ - ऐसा पूर्ण निश्चय हो जाने से जब मैं उसकी प्राप्ति के लिए उपाय करता हूँ और ऐहिक कृत्यों से सम्बन्ध छोड़ देता हूँ; उस समय बहुत से मनुष्य मुझे उदासीन जान पागल कहते हैं। कोई कहता है इस पर खोटे ग्रहों ने कोप किया है। बहुत से कहते हैं यह किसी पिशाच की झपट में आ गया है। अनेक कहते हैं इसे कुछ रोग हो गया है। बहुत से कहते हैं परिषह सहते-सहते यह व्याकुल हो गया है। एक कहता है, अजी! यह बुड्ढा हो गया है, इसलिए इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। दूसरा कहता है अभी इसकी मृत्यु बिल्कुल समीप है, इसलिए इसे कुछ विकार हो गया है और अनेक कहते हैं यह व्यर्थ मुँह उठाये घूमता-फिरता है; परन्तु ऐसा कहने से मेरा कोई नुकसान नहीं होता; क्योंकि ये मनुष्य अज्ञानी हैं; हित-अहित को जरा भी न पहिचाननेवाले हैं। मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप हूँ।।११६।।

भेद-विज्ञान हो जाने पर यह जगत कैसा लगने लगता है? अब, यह बताते हैं —

स्रग्धरा : **उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं, गतनयनयुगं, दिग्विमूढं च सुप्तं,**
निश्चिंतं प्राप्तमूर्छं, जलवहनगतं, बालकावस्थमेतत्।
स्वस्याधीनं कृतं वा, ग्रहिलगतिगतं, व्याकुलं मोहधूर्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भिर्रहितमपि जगद्, भाति भेदज्ञचित्ते।।२-११७।।

भेदज्ञ मन में लगे सब, शुद्धात्म दृष्टि हीन जग।
उन्मत्त भ्रान्तियुक्त अन्धा दिग्विमूढ़ी बालवत्।।
हो सुप्त मूर्छित जल प्रवाह, बहे पराधिन बावला।
मोह धूर्त से व्याकुल सतत, सेवक बना पीड़ित महा।।११७।।

अन्वयार्थ : भेद-ज्ञ-चित्ते=भेद को जाननेवाले के हृदय में; **शुद्धात्म-दृग्भिः**= शुद्धात्मा की दृष्टि से; **रहितं**=शून्य; **अपि**=भी; **एतत्**=यह; **सर्वं**=सम्पूर्ण; **जगत्**=लोक; **उन्मत्तं**=उन्मत्त/पागल; **भ्रान्ति-युक्तं**=भ्रान्ति से सहित; **गत-नयन-युगं**=अन्धा; **दिग्विमूढं**=दिग्भ्रान्त; **च**=और; **सुप्तं**=सोया हुआ; **निश्चिन्तं**=निश्चिन्त; **प्राप्त-मूर्छं**=

मूर्छित; **जल-वहन-गतं**=जल के प्रवाह में बहता हुआ; **बालक+अवस्थं**=बाल्यावस्था-वाला/अज्ञानी; **वा**=अथवा; **मोह-धूर्तैः**=मोहरूपी धूर्तों द्वारा; **स्वस्य+अधीनं**=अपने अधीन; **कृतं**=किया गया; **ग्रहिल-गति-गतं**=ग्रहों से ग्रसित; **व्याकुलं**=व्याकुल; **भाति**=प्रतिभासित होता है।।११७।।

अर्थ : जिस समय स्व और पर का भेद-विज्ञान हो जाता है, उस समय शुद्धात्म-दृष्टि से रहित यह जगत चित्त में ऐसा जान पड़ने लगता है, मानों उन्मत्त और भ्रान्त है, इसके दोनों नेत्र बन्द हो गये हैं, यह दिग्विमूढ़ हो गया है, गाढ़ निद्रा में सो रहा है, मन-रहित असैनी मूर्छा से बेहोश और जल के प्रवाह में बहा चला जा रहा है, बालक के समान अज्ञानी है, मोहरूपी धूर्तों ने व्याकुल बना दिया है, बावला और अपना सेवक बना लिया है।

भावार्थ : यदि शुद्धात्म-दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में यह जगत उन्मत्त, भ्रान्त, मूर्छित, सुप्त और आकुलित आदि है और स्व-पर का ज्ञान होने पर यह ऐसा ही भासने लगता है सो ठीक भी है; क्योंकि भेद-विज्ञानी का लक्ष्य शुद्ध-चिद्रूप की ओर रहता है और संसार अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्य को लेकर काम करता है, आपस में दोनों का विरोध है; इसलिए भेद-विज्ञानी को संसार की स्थिति अवश्य ही विपरीत जान पड़नी चाहिए।।११७।।

सर्वाधिक प्रिय शुद्ध-चिद्रूप को अब उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

स्रग्धरा : **स्त्रीणां भर्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो,**
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः।
कासाराद्यब्धराणाममृतमिव नृणां वा निजौकः सुराणां
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा।।३-११८।।

ज्यों सती को नित पति, बलभद्र को हरी भू भूपति।
स्व वत्स धेनु, मेघ चातक, चक्रवाकों को रवि।।
नित जलचरों को सर मनुज को सुधा सुर को स्वर्ग घर।
अति रोगिओं को वैद्य, अतिप्रिय मुझ मनस्थ चिद्रूप यह।।११८।।

अन्वयार्थ : स्त्रीणां=स्त्रिओं को; **अतुलः**=सर्वाधिक; **प्रिय**=प्यारा; **भर्ता**=पति; **बलानां**=बलभद्रों को; **हरयः**=हरि/नारायण; **इव**=समान; **भूपतीनां**=राजाओं को; **धरा**=भूमि; **धेनूनां**=गायों को; **स्व-वत्सः**=अपना बछड़ा; **चक्रवाक्यां**=चकविओं को; **दिनपतिः**

=सूर्य; **चातकानां**=चातकों को; **घनार्णः**=बादलों का जल; **अब्धराणां**=जलचरों को; **कासार+आदि**=तालाब आदि; **नृणां**=मनुष्यों को; **अमृतं+इव**=अमृत के समान; **सुराणां**=देवों को; **निज+औकः**=अपना घर/विमान; **रोग+आतुराणां**=रोग से पीड़ित को; **वैद्यः**=वैद्य (सर्वाधिक प्रिय के समान); **मे**=मेरे; **हृदि**=हृदय में; **शुद्ध-चित्-रूप-नामा**=शुद्ध-चिद्रूप का नाम (सर्वाधिक प्रिय है)।।११८।।

अर्थ : जिस प्रकार स्त्रियों को अपना स्वामी, बलभद्रों को नारायण, राजाओं को पृथ्वी, गौओं को बछड़े, चकवियों को सूर्य, चातकों को मेघ का जल, जलचर आदि जीवों को तालाब आदि, मनुष्यों को अमृत, देवों को स्वर्ग और रोगिओं को वैद्य अधिक प्यारा लगता है; उसी प्रकार मुझे शुद्ध-चिद्रूप का नाम परम प्रिय मालूम होता है; इसलिए मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्ध-चिद्रूप सदा मेरे हृदय में विराजमान रहे।।११८।।

शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के समय मुझ पर किसी भी प्रसंग का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है; अब, यह निरूपित करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं वधं ताडनं,**
छेदं भेदगदादिहास्यदहनं निंदाऽऽपदापीडनम्।
पव्यग्न्यब्ध्यग-पंक-कूप-वनभूक्षेपापमानं भयं,
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरमब्रम्हस्मृतावन्वहम्।।४-११९।।

मैं जब परम ब्रम्ह शुद्ध, चिद्रूप लीन तब कोई नहीं।
मेरा बुरा कर सके कोई, श्राप वध ताड़न नहीं।।
वस्तु हरण, भेदन व छेदन, रोग आदि हास्य भी।
निन्दा विपत्ति कष्ट कोई, बज्र अग्नि जलनिधि।।
कीचड़ कुँआ वन पर्वतादि फेक कर अपमान भय।
पैदा करें पर नहीं कुछ भी बुरा हो चिन्मय स्वयं।।११९।।

अन्वयार्थ : (जिस समय) **अहं**=मैं; **शुद्ध-परम-ब्रम्ह-स्मृतौ**=शुद्ध परम ब्रम्ह की स्मृति में; **अनु**=लीन; **कलयन्तु**=होऊँ; (उस समय) **चेत्**=यदि; **केचित्**=कोई; **शापं**=श्राप; **वा**=अथवा; **वस्तु-हरणं**=वस्तु का हरण; **चूर्णं**=चूर्ण करें; **वधं**=मारें; **ताडनं**=कष्ट दें; **छेदं**=छेदन करें; **भेद-गद-आदि-हास्य-दहनं**=भेदन करें, रोग आदि उत्पन्न करें,

हँसी उड़ाएँ, जलाएं; **निन्दा+आपदा-पीडनं**=निन्दा करें, आपत्ति में डालें, पीड़ा दें; **पवि+अग्नि+ अब्धि+अग-पंक-कूप-वन-भू-क्षेप+अपमानं**=(मेरे ऊपर) **पवि**=वज्र फेकें, आग फेकें, (मुझे) समुद्र में, पर्वत पर, कीचड़ में, कुएं में, वन में, जमीन पर फेकें, अपमानित करें; **भयं**=भय-भीत; **कलयन्ति**=करते हैं (तो करें, उस समय मैं इन सभी से पूर्णतया अप्रभावित रहता हूँ)।।११९।।

अर्थ : जिस समय मैं शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तवन में लीन होऊँ, उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरन्तर शाप देवें, दो; मेरी चीज चुरायें, चुराओ; मेरे शरीर के टुकड़े करें, ताड़ें, छेदें, मेरे रोग उत्पन्न करें, हँसी करें, जलावें, निन्दा करें, आपत्ति और पीड़ा करें, करो; सिर पर बज्र डालें, डालो; अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कुँआ, वन और पृथ्वी पर फैंकें, फैंको; अपमान और भय करें, करो; मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता अर्थात् वे मेरे आत्मा को किसी प्रकार भी हानि नहीं पहुँचा सकते।।११९।।

किसके समान मुझे भी शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण सतत रहो; अब, यह भावना व्यक्त करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **चंद्रार्कभ्रमवत्सदा सुरनदी-धारौघसंपातवत्,**
लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद् द्रव्यस्य पर्यायवत्।
लोकाधस्तलवातसंगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्,
चिद्रूपस्मरणं निरंतरमहो भूयाच्छिवाप्त्यै मम।।५-१२०।।

शिव-प्राप्ति-हेतु मैं सदा, चिद्रूप स्थिर रहूँ ही।
ज्यों चन्द्र सूर्य भ्रमें सतत, गंगा बहे घंटा घड़ी।।
व्यवहार काल सदैव बदले, द्रव्य की पर्यायवत्।
नित अधस्तल जग तीन वायु भ्रमें कमलोत्पत्ति सर।।१२०।।

अन्वयार्थ : सदा=हमेशा; **चन्द्र+अर्क-भ्रमवत्**=चन्द्रमा और सूर्य के परिभ्रमण के समान; **सुर-नदी-धारा-औघ-सम्पातवत्**=गंगा नदी की धारा के समूह के निरन्तर प्रवाह के समान; **अस्मिन्**=इस (लोक में); **व्यवहार-काल-गति-वत्**=व्यवहार काल की गति के समान; **द्रव्यस्य**=द्रव्य की; **पर्यायवत्**=पर्याय के समान; **लोक+अधः+तल-वात-संगमन-वत्**=लोक के नीचे तल भागवर्ती वायु के परिभ्रमण के समान;

पद्म+आदिक+उद्भूति-वत्=पद्म/कमल आदि की उत्पत्ति के समान; **शिव+आप्त्यै**=मोक्ष की प्राप्ति के लिए; **मम**=मुझे; **अहो!**=आश्चर्य-कारी; **चिद्रूप-स्मरणं**=चिद्रूप का स्मरण; **निरन्तरं**=सतत; **भूयात्**=रहो।।१२०।।

अर्थ : जिस प्रकार संसार में सूर्य-चन्द्रमा निरन्तर घूमते रहते हैं, गंगा नदी की धार निरन्तर बहती रहती है; घण्टा, घड़ी, पल आदि व्यवहार काल का भी सदा हेर-फेर होता रहता है; द्रव्यों की पर्यायें सदा पलटती रहती हैं; लोक के अधोभाग में घनवात, तनुवात और अंबुवात - ये तीनों वातें सदा घूमती रहती हैं और तालाब आदि में पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते हैं; अहो! उसी प्रकार मेरे मन में भी सदा शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण बना रहे, जिससे मेरा कल्याण हो।।१२०।।

अब, पुनः अपनी इसी भावना को दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु।**
द्रव्यतो भावतस्तावद्, यावदंगे स्थितिर्मम।।६-१२१।।

मुझ द्रव्य से या भाव से, जब तक है तन में स्थिति।
'मैं शुद्ध चिद्रूपी हि हूँ', यह रहे मन में नित्य ही।।१२१।।

अन्वयार्थ : यावत्=जब तक; **द्रव्यतः**=द्रव्य से; **भावतः**=भाव से; **अंगे**=इस शरीर में; **मम**=मेरी; **स्थितिः**=विद्यमानता है; **तावद्**=तब तक; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चित्-रूपः**=शुद्ध-चिद्रूप हूँ; **इति**=ऐसा; **हि**=वास्तव में; **हृत्कमले**=हृदय-कमल में/उपयोग में; **तिष्ठतु**=रहे।।१२१।।

अर्थ : जब तक मैं (आत्मा) द्रव्य या भाव, किसी रीति से इस शरीर में मौजूद हूँ; तब तक मेरे हृदय-कमल में शुद्ध-चिद्रूपोऽहं (मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ) यह बात सदा स्थित रहे।।१२१।।

अब, अपनी परिणति का विश्लेषण करते हैं—

अनुष्टुप् : **दृश्यंतेऽतीव निःसाराः, क्रिया वागंगचेतसाम्।**
कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता।।७-१२२।।

मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ सदा, इस ध्यान से कृतकृत्यता।
से लगे तन मन वचन की, सब क्रिया में निःसारता।।१२२।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चित्-रूपं=शुद्ध चिद्रूप को; **भजता-सता**=भजते हुए; **कृत-कृत्यत्वत:**=करने-योग्य कार्य कर लिया होने के कारण; **वाक्-अंग-चेतसां**=वचन, शरीर, मन की; **क्रिया**=प्रवृत्ति; **अतीव**=सर्वाधिक; **नि:-सारा**=सार-रहित/व्यर्थ; **दृश्यन्ते**= प्रतीत होती हैं।।१२२।।

अर्थ : मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ, संसार में मुझे करने के लिए कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है; क्योंकि मैं शुद्ध-चिद्रूप के चिंतवन में दत्त-चित्त हूँ; इसलिए मन, वचन और शरीर की अन्य समस्त क्रियायें मुझे अत्यन्त निस्सार मालूम पड़ती हैं; उनमें कोई सार दृष्टि-गोचर नहीं होता।।१२२।।

अब, इसे ही प्रति-समय नमन करने का कारण स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **किंचित्कदोत्तमं क्वापि, न यतो नियमान्नम:।**
तस्मादनंतश: शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणम्।।८-१२३।।

इस शुद्ध चिद्रूप से अधिक, कोई कहीं कुछ भी नहीं।
यों मान प्रतिक्षण नमन करता, अनन्तों नित उसे ही।।१२३।।

अन्वयार्थ : यत:=क्योंकि; **नियमात्**=नियम से; **किंचित्**=कुछ; **कदा**=कभी; **क्व+अपि**=कहीं भी; **उत्तमं**=इससे उत्तम; **न**=नहीं है; **तस्मात्**=उस कारण; **प्रति-क्षणं**=प्रति क्षण; **शुद्ध-चित्-रूपाय**=शुद्ध चिद्रूप के लिए; **अनन्तश:**=अनन्त बार; **नम:**=नमन करता हूँ।।१२३।।

अर्थ : किसी काल और देश में शुद्ध-चिद्रूप से बड़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं हैं - ऐसा मुझे पूर्ण निश्चय है; इसलिए मैं इस शुद्ध-चिद्रूप के लिए प्रति-समय अनन्त बार नमस्कार करता हूँ।।१२३।।

शेष सभी कुछ क्षणिक हैं; अत: ध्रुव चिद्रूप का ही स्मरण करो; अब, यह प्रेरणा देते हैं —

स्रग्धरा : **बाह्यांत: संगमगं, नृसुरपतिपदं, कर्मबन्धादिभावं,**
विद्याविज्ञान-शोभाबलभवखसुखं, कीर्तिरूपप्रतापम्।
राज्यागाख्यागकालास्रवकुपरिजनं, वाग्मनोयानधीद्धा-
तीर्थेशत्वं ह्यनित्यं, स्मर परमचलं, शुद्धचिद्रूपमेकम्।।९-१२४।।

सब बाह्य अन्तः संग नर, सुरपती पद बन्धादि सब।
कर्मों के शोभा बल वचन, विज्ञान विद्या विषय सुख।।
यश रूप राज्य प्रताप पर्वत, वृक्ष नाम समय हृदय।
आस्रव धरा परिवार वाहन, बुद्धि दीप्ति तीर्थकर।।
इत्यादि बहुविध वस्तुएं, संयोग आदि क्षणिक हैं।
यह एक शुद्ध चिद्रूप परम अचल सुखी ध्या नित्य मैं।।१२४।।

अन्वयार्थ : **हि**=वास्तव में; **बाह्य+अन्तः**=बहिरंग और अन्तरंग; **संगं**=परिग्रह; **अंगं**=शरीर; **नृ-सुर-पति-पदं**=नरपति/चक्रवर्ती, सुरपति/देवेन्द्र-पद; **कर्म-बन्ध-आदि-भावं**=कर्मों के बन्ध आदि भाव; **विद्या**=विद्या/विशिष्ट ज्ञान; **विज्ञान**=यथार्थ ज्ञान; **शोभा**=सुन्दरता; **बल**=शक्ति; **भव**=संसार; **ख-सुखं**=इन्द्रियों के सुख; **कीर्ति**=यश; **रूप**=सुरूप/सुडोल; **प्रतापं**=प्रताप; **राज्य**=राज्य; **अग**=पर्वत; **आख्य**=नाम; **अग**=वृक्ष; **काल**=समय; **आस्रव**=विकार; **कु**=पृथ्वी; **परिजनं**=परिवार-कुटुम्बी; **वाक्**=वचन; **मनो**=मन; **यान**=गाड़ी आदि यान/वाहन; **धीत्**=अध्ययन; **धा**=दीप्ति; **तीर्थ+ईश-त्वं**=तीर्थंकरपना; **अनित्यं**=अनित्य है; (अतः) **परमं**=सर्वोत्तम; **अचलं**=चलित नहीं होनेवाला/स्थाई; **एकं**=एक; **शुद्ध-चित्-रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप का; **स्मर**=स्मरण करो।।१२४।।

अर्थ : बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह, शरीर, सुरेन्द्र और नरेन्द्र का पद, कर्म-बन्ध आदि भाव, विद्या, विज्ञान, कला-कौशल, शोभा, बल, जन्म, इन्द्रियों का सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, नाम, वृक्ष, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन, वाहन, बुद्धि, दीप्ति, तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं; परन्तु केवल शुद्ध-चिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है; इसलिए सब पदार्थों का ध्यान छोड़कर इसी का ध्यान करो।

भावार्थ : जो पदार्थ सदा अपने साथ रहे, उसी का ध्यान करना, आवश्यक है और उचित है; विनाशीक पदार्थों का ध्यान करने से क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो अपनी अवधि के अन्त में नियम से नष्ट हो जायेंगे; इसलिए उनका ध्यान करना व्यर्थ है और शुद्ध-चिद्रूप नित्य, अविनाशी है; इसलिए उसी का ध्यान करना कार्य-कारी है।।१२४।।

करने-योग्य कार्य क्या है? अब, उसका मार्ग-दर्शन देते हैं—

अनुष्टुप् : **रागाद्या न विधातव्याः, सत्यसत्यपि वस्तुनि।**
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं, तत्र तिष्ठ निराकुलः।।१०-१२५।।

वस्तु नहीं अच्छी बुरी, यों करो रागादि नहीं।
निज शुद्ध चिद्रूप जान, उसमें निराकुल रह लीन भी।।१२५।।

अन्वयार्थ : सति+असति+अपि=विद्यमान, अविद्यमान भी; **वस्तुनि**=वस्तुओं में; **राग+आद्या**=राग आदि; **न**=नहीं; **विधातव्याः**=करना चाहिए; **स्व-शुद्ध-चित्-रूपं**=अपने शुद्ध-चिद्रूप को; **ज्ञात्वा**=जानकर; **तत्र**=उसमें; **निराकुलः**=निराकुल हो; **तिष्ठ**=स्थिर रहो।।१२५।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भले-बुरे किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष आदि न करो; सबमें समता भाव रखो और निराकुल हो अपने आत्मा में स्थिति करो।।१२५।।

अब, सम्पूर्ण जिनागम का सार बताते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः।**
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे।।११-१२६।।

मैं शुद्ध चिद्रूपी अतः, यह देख हूँ नित ही सुखी।
यह जिनागम का सार, हो भव नाश यह हित शिवमयी।।१२६।।

अन्वयार्थ : सः=वह; **चित्-रूपः**=चिद्रूप; **अहं**=मैं हूँ; **ततः**=उससे; **मे**=मुझे; **सुखी**=सुख की प्राप्ति होती है; **भव-क्षितिः**=संसार का नाश; **हितं-मुक्तिः**=हित-कारक मोक्ष (इससे) ही होता है — ऐसा; **जिनागमे**=जिनागम में; **अयं**=यह; **निर्यासः**=निष्कर्ष बताया गया है; **तस्मात्**=उस कारण; **तं**=उसे; **पश्यामि**=देखता हूँ।।१२६।।

अर्थ : 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' इसलिए मैं उसको देखता हूँ और उसी से मुझे सुख मिलता है। जैन-शास्त्र का भी यही निचोड़ है। उसमें भी यही बात बतलायी है कि शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से संसार का नाश और हित-कारी मोक्ष प्राप्त होता है।।१२६।।

अब, 'स्वस्थ' की परिभाषा बताते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपे केवले शुद्धे, नित्यानंदमये सदा।**
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं*, कथ्यते परमार्थतः।।१२-१२७।।

* स्वस्थः - इति पाठः।

जब शुद्ध नित्यानन्दमय, चिद्रूप में स्थिर रहे।
तब स्वस्थ है वह एक ही, नित यों कहें परमार्थ से।।१२७।।

अन्वयार्थ : यदा=जब; **केवले**=मात्र; **शुद्धे**=शुद्ध/पर से पूर्ण निरपेक्ष; **नित्य+आनन्दमये**=सदा आनन्दमय; **स्वे**=अपने; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **तिष्ठति**=स्थित रहता है; **तदा**=तब; **परमार्थतः**=वास्तव में; **स्वस्थं**=स्वस्थ; **कथ्यते**=कहा जाता है।।१२७।।

अर्थ : आत्मा स्वस्थ स्वरूप उसी समय कहा जाता है, जबकि वह सदा आनन्दमय केवल अपने शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति करता है।

भावार्थ : स्वस्थ का अर्थ (स्वस्मिन् तिष्ठतीति) अपने में स्थित रहनेवाला होता है। संसार में सिवाय शुद्ध-चिद्रूप के अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा का अपना 'स्व' नहीं, इसलिए सदा आनन्दमय केवल शुद्ध-चिद्रूप में स्थित रहना ही स्वस्थपना है; किन्तु स्वर्ग-देवेन्द्र आदि पदों में विद्यमान आत्मा को स्वस्थ नहीं कह सकते।।१२७।।

अब, इस संबंध में अपनी भावना को व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **निश्चलः परिणामोऽस्तु, स्वशुद्धचिति मामकः।**
शरीरमोचनं यावदिव भूमौ सुराचलः।।१३-१२८।।

भू पर अचल नित मेरु सम, निज शुद्ध चिन्मय में अचल।
जब तक न छूटे तन, रहे परिणति मेरी सुनिश्चल।।१२८।।

अन्वयार्थ : यावत्=जब तक; **शरीर-मोचनं**=शरीर से छुटकारा; (नहीं हो जाता, तब तक); **भूमौ**=पृथ्वी में; **सुर+अचलः**=मेरु पर्वत (के); **इव**=समान; **मामकः**=मेरा; **परिणामः**=परिणाम; **स्व-शुद्ध-चिति**=अपने शुद्ध-चेतन में; **निश्चलः**=पूर्ण स्थिर; **अस्तु**=रहे।।१२८।।

अर्थ : जिस प्रकार पृथ्वी में मेरु पर्वत निश्चलरूप से गड़ा हुआ है; जरा भी उसे कोई हिला-चला नहीं सकता; उसी प्रकार मेरी भी यही कामना है कि जब तक इस शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता, तब तक इसी आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में मेरा भी परिणाम निश्चलरूप से स्थित रहे, जरा भी इधर-उधर न भटके।।१२८।।

अपनी उसी भावना को अब, पुनः व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **सदा परिणतिर्मेऽस्तु, शुद्धचिद्रूपकेऽचला।**
अष्टमीभूमिकामध्ये, शुभा सिद्धशिला यथा।।१४-१२९।।

ज्यों आठवीं भू में सुशुभ, सिद्धी शिला मुझ परिणति।
निज शुद्ध चिद्रूप में रहे निश्चल सुथिर संतुष्ट भी।।१२९।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **अष्टमी-भूमिका-मध्ये**=आठवीं पृथ्वी के बीच में; **शुभा**=कल्याणमय; **सिद्ध-शिला**=सिद्ध-शिला; (अचल स्थित है, उसी प्रकार) **मे**=मेरी; **परिणति**=पर्याय/दशा; **सदा**=हमेशा; **शुद्ध-चिद्रूपके**=शुद्ध-चिद्रूप में; **अचला**=पूर्ण स्थिर; **अस्तु**=रहे।।१२९।।

अर्थ : जिस प्रकार आठवीं पृथ्वी मोक्ष में, अत्यन्त शुभ सिद्ध-शिला निश्चलरूप से विराजमान है; उसी प्रकार मेरी परिणति भी इस शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थित रहे।।१२९।।

अब, यथार्थ मुनिराजों की परिणति का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **चलंति सन्मुनींद्राणां, निर्मलानि मनांसि न।**
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात्, सिद्धक्षेत्राच्छिवा यथा।।१५-१३०।।

ज्यों हितमयी सिद्ध क्षेत्र से, नहिं चलें सिद्ध मुनीन्द्र का।
निर्मल हृदय निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान से अविचल तथा।।१३०।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **सिद्ध-क्षेत्रात्**=सिद्ध-लोक से; **शिवा**=शिव/मुक्त जीव; **चलन्ति न**=विचलित नहीं होते हैं; (उसी प्रकार) **सत्+मुनीन्द्राणां**=वास्तविक मुनिराजों के; **निर्मलानि**=पवित्र; **मनांसि**=मन/उपयोग; **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यानात्**=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान से; **चलन्ति न**=विचलित नहीं होते हैं।।१३०।।

अर्थ : जिस प्रकार कल्याण-कारी सिद्ध-क्षेत्र से सिद्ध भगवान किसी रीति से चलायमान नहीं होते; उसी प्रकार उत्तम मुनियों के निर्मल मन भी शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से कभी चल-विचल नहीं होते।।१३०।।

अब, मुनिराजों की दृढ़ परिणति का कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **मुनीश्वरैस्तथाभ्यासो, दृढः सम्यग्विधीयते।**
मानसं शुद्धचिद्रूपे, यथाऽत्यंतं स्थिरीभवेत्।।१६-१३१।।

'मैं शुद्ध चिद्रूप' में सदा, अभ्यास करते मुनीश्वर।
अत्यन्त स्थिर दृढ़ अचल मन से यही ध्या नहिं अथिर।।१३१।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूपे=शुद्ध-चिद्रूप में; **मानसं**=मन; **यथा**=जिस प्रकार से; **अत्यन्तं**=पूर्ण रूप से; **स्थिरी-भवेत्**=स्थिर हो जाए; **तथा**=उस प्रकार से; **मुनीश्वरैः**=मुनीश्वरों द्वारा; **सम्यक्**=भली-भाँति; **दृढ़ः**=अडिग; **अभ्यासः**=अभ्यास; **विधीयते**=किया जाता है।।१३१।।

अर्थ : मुनि-गण इस रूप से शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान का दृढ़ अभ्यास करते हैं कि उनका मन शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में सदा निश्चलरूप से स्थित बना रहे; जरा भी इधर-उधर चल-विचल न हो सके।।१३१।।

सभी प्रसंगों में अपनी चिद्रूप-भावना को अब, व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **सुखे दुःखे महारोगे, क्षुधादीनामुपद्रवे।**
चतुर्विधोपसर्गे च, कुर्वे चिद्रूपचिंतनम्।।१७-१३२।।

सुख दुःख भूखादि उपद्रव, महा रोगों चतुर्था।
उपसर्ग में चिद्रूप चिन्तन, अचल होऊँ इसे ध्या।।१३२।।

अन्वयार्थ : सुखे=सुख/अनुकूलता में; **दुःखे**=दुःख/प्रतिकूलता में; **महा-रोगे**=बड़े रोग में; **क्षुधादीनां**=भूख आदि की; **उपद्रवे**=बाधा में; **च**=और; **चतुर्विध+उपसर्गे**=चार प्रकार के उपसर्ग में; **चिद्रूप-चिन्तनं**=चिद्रूप का चिन्तन; **कुर्वे**=करता रहूँ।।१३२।।

अर्थ : सुख-दुःख, उग्र रोग और भूख-प्यास आदि के भयंकर उपद्रवों में तथा मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चारों प्रकार के उपसर्गों में मैं शुद्ध-चिद्रूप का ही चिन्तवन करता रहूँ; मुझे उनके उपद्रव से उत्पन्न वेदना का जरा भी अनुभव न हो।।१३२।।

अब, अपनी अनादि-कालीन प्रवृत्ति और उसके फल पर खेद व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे।**
चिद्रूपे तेन सोढानि महादुखान्यहो मया।।१८-१३३।।

नित अनादि से घूमते, भव में नहीं मैंने किया।
चिद्रूप में मन अचल, इससे घोर दु:खों को सहा।।१३३।।

अन्वयार्थ : अहो!=आश्चर्य है कि; **मया**=मेरे द्वारा; **अनादौ**=अनादि से; **भवे**=संसार में; **भ्रमतो**=घूमते हुए; **चित्तं**=चित्त/मन/उपयोग को; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **निश्चलं**=स्थिर; **न**=नहीं; **कृतं**=किया गया; **तेन**=उस कारण; **महा-दु:खानि**=अनन्त दु:ख; **सोढानि**=सहन किए हैं।।१३३।।

अर्थ : इस संसार में मैं अनादि काल से घूम रहा हूँ। हाय! मैंने कभी भी शुद्ध-चिद्रूप में अपना मन निश्चलरूप से न लगाया; इसलिए मुझे अनन्त दु:ख भोगने पड़े अर्थात् यदि मैं संसार के कार्यों से अपना मन हटाकर शुद्ध-चिद्रूप में लगाता तो क्यों मुझे अपार वेदना सहनी पड़ती।।१३३।।

अब, दृढ़ता पूर्वक मोक्ष-प्राप्ति के उपाय का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **ये याता यांति यास्यंति, निर्वृतिं पुरुषोत्तमा:।**
मानसं निश्चलं कृत्वा, स्वे चिद्रूपे न संशय:।।१९-१३४।।

जो श्रेष्ठ नर शिव गए, जा रहे जाएंगे संशय नहीं।
निज शुद्ध चिद्रूप में अचल, मन कर यही बस हेतु ही।।१३४।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **पुरुषोत्तमा:**=श्रेष्ठ पुरुष; **निर्वृत्तिं**=मुक्ति को; **याता**=गए हैं; **यान्ति**=जा रहे हैं; **यास्यन्ति**=जाएंगे; (वे) **स्वे**=अपने; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **मानसं**=मन/उपयोग को; **निश्चलं**=स्थिर; **कृत्वा**=करके; (इसमें) **संशय:**=सन्देह; **न**=नहीं है।।१३४।।

अर्थ : जो पुरुषोत्तम-महात्मा मोक्ष गये या जा रहे हैं और जावेंगे; इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपना मन शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में निश्चलरूप से लगाया, लगाते हैं और लगावेंगे।

भावार्थ : विना शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में चित्त लगाये, मोक्ष कदापि नहीं मिल सकता; इसलिए जिन्होंने शुद्ध-चिद्रूप में अपना मन लगाया, वे मोक्ष गये; मन लगा रहे हैं, वे जा रहे हैं और जो मन लगावेंगे, वे अवश्य जावेंगे; इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।।१३४।।

अब, भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **निश्चलोंऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ।**
तदैव भावमुक्तिः स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग्।।२०-१३५।।

मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा ही अचल मन से भाव शिव।
तत्क्षण हुआ फिर यथाक्रम से यहीं रह हो द्रव्य शिव।।१३५।।

अन्वयार्थ : अहं=मैं; **शुद्ध-चिद्रूपः**=शुद्ध-चिद्रूप (हूँ); **इति**=ऐसा; **निश्चलः**=स्थिर; **अंगी**=मन/उपयोग पूर्वक; **यदा**=जब; **स्मृतौ**=स्मरण किया जाता है; **तदा+एव**=तभी; **भाव-मुक्तिः**=भाव-मोक्ष; **स्यात्**=हो जाता है; **क्रमेण**=क्रम से; **द्रव्य-मुक्ति-भाग्**=द्रव्य-मोक्ष का पात्र (हो जाता है)।।१३५।।

अर्थ : जिस समय निश्चल मन से यह स्मरण किया जाता है कि 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ', भाव-मोक्ष उसी समय हो जाता है और द्रव्य-मोक्ष क्रमशः होता चला जाता है।

भावार्थ : स्व और पर पदार्थों का भेद-विज्ञान होना, भाव-मोक्ष है और शरीर आदि से सर्वथा रहित हो सिद्ध-शिला पर आत्मा का जा विराजना, द्रव्य-मोक्ष है। जिस समय संसार से सर्वथा उदासीन हो 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा निश्चल स्मरण किया जाता है, भाव-मोक्ष उसी समय हो जाता है और ज्यों-ज्यों कर्मों का नाश, शरीर आदि से रहितपना होता जाता है, त्यों-त्यों द्रव्य-मोक्ष होता चला जाता है।।१३५।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने की निश्चलता'' को बतलानेवाला, ११६ से १३५ पर्यंत २० पद्योंवाला छठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।६।।

सातवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में नयों के अवलम्बन का वर्णन

अब, व्यवहार-नय के अवलम्बन की मर्यादा का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **न यामि शुद्धचिद्रूपे, लयं यावदहं दृढम्।**
न मुंचामि क्षणं तावद्, व्यवहारावलंबनम्।।१-१३६।।

इस शुद्ध चिद्रूप में मगन, दृढ़ नहीं होता जानता।
व्यवहार अवलम्बन तभी तक, मैं कभी नहिं छोड़ता।।१३६।।

अन्वयार्थ : यावत्=जब तक; **अहं**=मैं; **दृढं**=दृढ़ता-पूर्वक; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **लयं**=लीन/स्थिर; **न**=नहीं; **यामि**=हो जाता हूँ; **तावत्**=तब तक के; **क्षणं**=समय पर्यंत; **व्यवहार+अवलम्बनं**=व्यवहार का आश्रय; **न**=नहीं; **मुंचामि**=छोड़ता हूँ।।१३६।।

अर्थ : जब तक मैं दृढ़रूप से शुद्ध-चिद्रूप में लीन न हो जाऊँ, तब तक मैं व्यवहार-नय का सहारा नहीं छोड़ूँ।।१३६।।

अब, व्यवहार और निश्चय-नय का विषय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **अशुद्धं किल चिद्रूपं, लोके सर्वत्र दृश्यते।**
व्यवहारनयं श्रित्वा, शुद्धं बोधदृशा क्वचित्।।२-१३७।।

अशुद्ध है चिद्रूप जग में, दिखाता व्यवहार ही।
निश्चय दिखाए सर्वदा, मैं शुद्ध चिद्रूप एक ही।।१३७।।

अन्वयार्थ : व्यवहार-नय=व्यवहार-नय का; **श्रित्वा**=आश्रय लेकर; **लोके**=लोक में; **सर्वत्र**=सब जगह; **किल**=वास्तव में; **चिद्रूपं**=चिद्रूप; **अशुद्धं**=अशुद्ध/रागादिमय; **दृश्यते**=दिखाई देता है; **बोध-दृशा**=ज्ञान-दृष्टि से/निश्चय-नय से; **क्वचित्**=कहीं; **शुद्धं**=शुद्ध/रागादि से रहित (दिखाई देता है)।।१३७।।

अर्थ : व्यवहार-नय के अवलम्बन से सर्वत्र संसार में अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टि-गोचर होता है; निश्चय-नय से शुद्ध तो कहीं किसी आत्मा में दिखता है।

भावार्थ : व्यवहार-नय के अवलम्बन से चिद्रूप कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता; किन्तु शुद्ध-निश्चय के अवलम्बन से ही वह शुद्ध हो सकता है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को चाहिए कि वे शुद्ध-निश्चय-नय की ओर विशेषरूप से अपनी दृष्टि को लगावें।।१३७।।

अब, चिद्रूप में विशुद्धि प्रगट होने की प्रक्रिया का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपे तारतम्येन, गुणस्थानाच्चतुर्थतः।**
मिथ्यात्वाद्युदयाद्याख्य-मलापायाद् विशुद्धता।।३-१३८।।

मिथ्यात्व आदि के उदय मय, मलों के सु विनाश से।
चिद्रूप में तारतम्य से, हो विशुद्धि गुण चतुर्थ से।।१३८।।

अन्वयार्थ : चतुर्थतः=चौथे/अविरत सम्यक्त्व नामक; **गुणस्थानात्**=गुणस्थान से; **तारतम्येन**=तरतमता पूर्वक; **मिथ्यात्व+आदि+उदय+आदि+आख्य+मल+अपायात्**=मिथ्यात्व आदि के उदय आदि नामक मलिनता का अभाव हो जाने से; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **विशुद्धता**=विशेष/प्रगट शुद्धता हो जाती है।।१३८।।

अर्थ : गुणस्थानों में चड़नेवाले जीवों को चौथे गुणस्थान से मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मलों का ज्यों-ज्यों नाश होता जाता है, वैसा ही वैसा चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है। विना मिथ्यात्व आदि मलों के नाश किये चिद्रूप कभी विशुद्ध नहीं हो सकता।।१३८।।

अब, उदाहरण पूर्वक मोक्ष और स्वर्ग के मार्ग/उपाय की पृथक्ता सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप् : **मोक्षस्वर्गार्थिनां पुंसां, तात्त्विकव्यवहारिणाम्।**
पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव।।४-१३९।।

ज्यों पृथक्-पृथक् नगर गमन के पथ पृथक् ही हों सदा।
तात्त्विक शिवार्थी स्वर्ग अर्थी, अतात्त्विक पथ पृथक्ता।।१३९।।

अन्वयार्थ : नागर+आगारिणां=नगर को जानेवालों के; **पन्थाः**=मार्ग; **पृथक्-**

पृथक्-रूपः=भिन्न-भिन्न दिशाओं के; **इव**=समान; **मोक्ष-स्वर्ग+अर्थिनां**=मोक्ष और स्वर्ग के इच्छुक (क्रमशः); **तात्त्विक-व्यवहारिणां**=तात्त्विक और व्यवहारी; **पुंसां**=व्यक्तिओं के (मार्ग पृथक्-पृथक् होते हैं)।।१३९।।

अर्थ : जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नगर को जानेवाले पथिकों के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं; उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक तात्त्विक पुरुषों का व स्वर्ग के इच्छुक अतात्त्विक पुरुषों का मार्ग भिन्न-भिन्न है।।१३९।।

अब, व्यवहार और निश्चय मार्ग की तुलना करते हुए व्यवहार को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **चिंताक्लेश-कषायशोकबहुले देहादिसाध्यात्परा-**
धीने कर्मनिबंधनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते।
व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वा व्रजात्मन् सदा,
शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते।।५-१४०।।

चिन्ता क्लेश कषाय शोक बहुल तनादि साध्य से।
परतन्त्र कर्म निबन्धनी, अति विषम आशा भयों से।।
परिपूर्ण व्यामोही दशा, व्यवहार को तज ग्रहण कर।
नित सुखद दोषों से रहित, यह शुद्ध निश्चय का विषय।।१४०।।

अन्वयार्थ : चिन्ता-क्लेश-कषाय-शोक-बहुले=चिन्ता, कष्ट, कषाय, दुःख की अधिकतावाले; **देह+आदि-साध्यात्**=शरीर आदि से साध्य होने के कारण; **पराधीने**=परतन्त्र; **कर्म-निबन्धने**=कर्म-बन्ध के कारणभूत; **अति-विषमे**=अत्यधिक कठिन; **भय+आशा+अन्विते**=भय/डर, आशा/इच्छा से सहित; **व्यामोहे**=मोहित करनेवाले; **व्यवहार-नामानि**=व्यवहार नामवाले; **मार्गे**=मार्ग में; **गतिं**=गमन को; **हित्वा**=छोड़कर; **आत्मन्**=हे आत्मा!; **सदा**=नित्य; **शुद्धे**=शुद्ध; **इह**=इस लोक में; **अमुत्र+अपि**=पर-लोक में भी; **सुखदे**=सुख देनेवाले; **दोष+उज्झिते**=दोषों से रहित; **निश्चय-नामनि**=निश्चय-नामवाले; (मार्ग में) **व्रज**=गमन करो।।१४०।।

अर्थ : हे आत्मन्! यह व्यवहार-मार्ग चिन्ता, क्लेश, कषाय और शोक से जटिल है, देह आदि द्वारा साध्य होने से पराधीन है, कर्मों के लाने में कारण है; अत्यन्त विकट,

भय और आशा से व्याप्त है और व्यामोह करानेवाला है; परन्तु शुद्ध-निश्चय-नयरूप मार्ग में यह कोई विपत्ति नहीं है, इसलिए तुम व्यवहार-नय का त्यागकर शुद्ध-निश्चय-नयरूप मार्ग का अवलम्बन करो; क्योंकि यह इस-लोक की क्या बात? पर-लोक में भी सुख का देनेवाला है और समस्त दोषों से रहित निर्दोष है।

भावार्थ : व्यवहार-नयरूप मार्ग में गमन करने से नाना प्रकार की चिन्ताओं का; भाँति-भाँति के क्लेश, कषाय और शोकों का सामना करना पड़ता है। उसमें देह, इन्द्रियाँ और मन आदि की आवश्यकता पड़ती है; इसलिए वह पराधीन है। शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्म भी व्यवहार-नय के अवलम्बन से ही आते हैं। अत्यन्त विषम हैं। उसके अनुयायी पुरुषों को नाना प्रकार के भय और आशाओं से उत्पन्न दु:ख भोगने पड़ते हैं और भ्रान्त होना पड़ता है; परन्तु शुद्ध निश्चय-नयरूप मार्ग में गमन करने से चिन्ता, क्लेश आदि नहीं भोगने पड़ते, वह स्वाधीन है, उसमें शरीर आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके अवलम्बन से किसी प्रकार के कर्म का भी आस्रव नहीं होता। वह विकट भय और आशा-जन्य दु:ख भी नहीं भुगाता एवं व्यामुग्ध भी नहीं करता - इस प्रकार भी दोनों लोक में सुख देनेवाला और निर्दोष है, इसलिए ऐसे व्यवहार-मार्ग का त्याग कर सर्वोत्तम निश्चय-मार्ग से ही गमन करना चाहिए।।१४०।।

अब, अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

उपजाति : **न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यै:।**
न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं, विशुद्धचित्यस्तु लय: सदैव।।६-१४१।।

नहिं भक्त गण से प्रयोजन, नहिं शिष्य पुस्तक तनादि।
नहिं कार्य कुछ करना मुझे, मैं लीन शुध चिद्रूप ही।।१४१।।

अन्वयार्थ : **मम**=मेरा; **न**=न तो; **भक्त-वृन्दै:**=भक्त-समूह से; **न**=न तो; **शिष्य-वर्गै:**=शिष्य-समूह से; **च**=और; **न**=न तो; **पुस्तक+आद्यै:**=पुस्तक आदि से; **न**=न तो; **देह-मुख्यै:**=शरीर आदि से; **च**=और; **न**=न तो; **कर्मणा**=कर्म से; **केन**=किसी प्रकार का; **कार्यं**=कार्य/प्रयोजन; **अस्ति**=है; (अत: मेरी) **सदैव**=नित्य ही; **विशुद्ध-चिति**=विशुद्ध चैतन्य में; **लय:**=स्थिरता; **अस्तु**=हो।।१४१।।

अर्थ : मेरा मन शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उत्सुक है; इसलिए न तो संसार में

मुझे भक्तों की आवश्यकता है; न शिष्य-वर्ग, पुस्तक, देह आदि से ही कुछ प्रयोजन है एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है। केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्ध-चिद्रूप में ही लीन रहे। सिवाय शुद्ध-चिद्रूप से बाह्य किसी पदार्थ में जरा भी न जाय।।१४१।।

अब, पुनः अपनी भावना को अन्यरूप से स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **न चेतसा स्पर्शमहं करोमि, सचेतनाचेतनवस्तुजाते।**
विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं, क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यम्।।७-१४२।।

निज शुद्ध चिद्रूप तत्त्व तज मैं कभी कुछ कैसे कहीं।
भी चेतनाचेतन पदार्थों का करूँ चिन्तन नहीं।।१४२।।

अन्वयार्थ : **हि**=वास्तव में; **अहं**=मैं; **शुद्धं**=रागादि-रहित; **निज-आत्म-तत्त्वं** =अपने आत्म-तत्त्व को; **विमुच्य**=छोड़कर; **अवश्यं**=निश्चित ही अथवा अन्य के अधीन नहीं हो; **सचेतन-अचेतन-वस्तु-जाते**=सचित्त-अचित्त वस्तुओं के समूह में से; **क्वचित्**=कहीं; **कदाचित्**=कभी; **कथं+अपि**=किसी भी प्रकार से/कैसे भी; (किसी का भी) **चेतसा**=मन/उपयोग द्वारा; **स्पर्शं**=स्पर्श/वेदन; **न**=नहीं; **करोमि**=करता हूँ।।१४२।।

अर्थ : मेरी यह कामना है कि शुद्ध-चिद्रूप नामक पदार्थ को छोड़कर मैं किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ का, किसी देश और किसी काल में, कभी भी अपने मन से स्पर्श न करूँ।

भावार्थ : मैं जब किसी पदार्थ का चिन्तवन करूँ तो शुद्ध-चिद्रूप का ही करूँ। शुद्ध-चिद्रूप से अतिरिक्त किसी पदार्थ का, चाहे वह चेतन-अचेतन कैसा भी हो, कभी किसी काल में भी न करूँ।।१४२।।

अब, व्यवहार पूर्वक निश्चय का फल बताते हैं—

अनुष्टुप् : **व्यवहारं समालंब्य येऽक्षिं कुर्वन्ति निश्चये।**
शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिस्तेषामेवेतरस्य न।।८-१४३।।

व्यवहार को अवलम्ब जो, दृष्टि करें निश्चय नियत।
निज शुद्ध चिद्रूप लब्धि उनको, नहीं पाते अन्य जन।।१४३।।

अन्वयार्थ : व्यवहारं=व्यवहार का; **समालम्ब्य**=आलम्बन लेकर; **ये**=जो; **अक्षिं**=अपनी दृष्टि को; **निश्चये**=निश्चय में; **कुर्वन्ति**=करते हैं; **तेषां**=उन्हें; **एव**=ही; **शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिः**=शुद्ध-चिद्रूप की भली-भाँति प्राप्ति होती है; **इतरस्य**=अन्य को; **न**=नहीं होती है।।१४३।।

अर्थ : व्यवहार नय का अवलम्बन कर जो महानुभाव अपनी दृष्टि को शुद्ध-निश्चय-नय की ओर लगाते हैं; उन्हें ही संसार में शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होती है। अन्य मनुष्यों को शुद्ध-चिद्रूप का लाभ कदापि नहीं हो सकता।।१४३।।

अब, नय की अपेक्षा चिद्रूप का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **संपर्कात् कर्मणोऽशुद्धं, मलस्य वसनं यथा।**
व्यवहारेण चिद्रूपं, शुद्धं तन्निश्चयाश्रयात्।।९-१४४।।

ज्यों वस्त्र मैला मलिनता से, कर्म बन्धन से अशुद्ध।
व्यवहार से चिद्रूप निश्चय की अपेक्षा पूर्ण शुद्ध।।१४४।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **मलस्य**=मल के; **संपर्कात्**=संपर्क/संयोग से; **वसनं**=वस्त्र; **अशुद्धं**=मलिन (दिखाई देता है); (उसी प्रकार) **व्यवहारेण**=व्यवहार की अपेक्षा; **कर्मणः**=कर्म के; **संपर्कात्**=संपर्क/संयोग से; **चिद्रूपं**=चिद्रूप; **अशुद्धं**=अशुद्ध (दिखाई देता है) (और) **निश्चय+आश्रयात्**=निश्चय की अपेक्षा; **तत्**=वह/चिद्रूप; **शुद्धं**=शुद्ध (दिखाई देता है)।।१४४।।

अर्थ : जिस प्रकार निर्मल वस्त्र भी मैल से मलिन, अशुद्ध हो जाता है; उसी प्रकार व्यवहार नय से कर्म के सम्बन्ध से शुद्ध-चिद्रूप भी अशुद्ध है; परन्तु शुद्ध-निश्चय-नय की दृष्टि से वह शुद्ध ही है।।१४४।।

अब, इन्हीं नय-विवक्षाओं को अन्य उदाहरण द्वारा दो पद्यों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **अशुद्धं कथ्यते स्वर्णमन्यद्रव्येण मिश्रितम्।**
व्यवहारं समाश्रित्य, शुद्धं निश्चयतो यथा।।१०-१४५।।
युक्तं तथाऽन्यद्रव्येणाशुद्धं चिद्रूपमुच्यते।
व्यवहारनयात् शुद्धं निश्चयात् पुनरेव तत्।।११-१४६।।युग्मं।।

व्यवहार दृष्टि से अशुद्ध, अन्य के संयोग से।
है स्वर्ण शुद्ध सदैव, एकाकी सुनिश्चय दृष्टि से।।१४५।।

त्यों कर्म बन्धन अपेक्षा, व्यवहार नय से अशुद्ध है।
चिद्रूप ही निश्चय अपेक्षा, पूर्ण शुद्ध प्रभु कहें।।१४६।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **व्यवहारं**=व्यवहार का; **समाश्रित्य**=आश्रय लेकर; **अन्य-द्रव्येण**=अन्य द्रव्य के साथ; **मिश्रितं**=मिला हुआ; **स्वर्णं**=सुवर्ण; **अशुद्धं**=अशुद्ध; **कथ्यते**=कहलाता है; **निश्चयतः**=निश्चय से; **शुद्धं**=शुद्ध; **तथा**=उसी प्रकार; **व्यवहार-नयात्**=व्यवहार-नय से; **अन्य-द्रव्येण**=अन्य द्रव्य के साथ; **युक्तं**=मिला हुआ; **चिद्रूपं**=चिद्रूप; **अशुद्धं**=अशुद्ध; **उच्यते**=कहा जाता है; **पुनः**=और; **तत्**=वह/चिद्रूप; **एव**=ही; **निश्चयात्**=निश्चय से; शुद्ध (कहलाता है)।।१४५-१४६।।

अर्थ : जिस प्रकार व्यवहार नय से शुद्ध सोना भी अन्य द्रव्य के मेल से अशुद्ध और वही निश्चय नय से शुद्ध कहा जाता है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप भी कर्म आदि निकृष्ट द्रव्यों के सम्बन्ध से व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध कहा जाता है और वही शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है।

भावार्थ : वस्तु जैसी होती है, वह वैसी ही रहती है; उसमें शुद्धता-अशुद्धता नहीं हो सकती; परन्तु व्यवहार से दूसरी वस्तु के मेल से वह अशुद्ध कही जाती है। जिस प्रकार सोना कभी शुद्ध-अशुद्ध नहीं हो सकता, वह वही रहता है; परन्तु किसी उसके मिलतऊ पदार्थ के मेल हो जाने से व्यवहार से उसे अशुद्ध कहते हैं और निश्चय नय से शुद्ध भी कहते हैं; उसी प्रकार चिद्रूप भी कर्म आदि के सम्बन्ध के कारण व्यवहार से अशुद्ध कहा जाता है; परन्तु वह वास्तव में शुद्ध ही है।।१४५-१४६।।

अब, चिद्रूप के शुद्ध होने का क्रम बताते हैं—

अनुष्टुप् : **बाह्यांतरन्यसंपर्को, येनांशेन वियुज्यते।**
तेनांशेन विशुद्धिः स्याद्, चिद्रूपस्य सुवर्णवत्।।१२-१४७।।

ज्यों बाह्य अन्तः मलिनता, जितनी मिटी है शुद्ध ही।
वह स्वर्ण त्यों चिद्रूप के, क्रमशः विशुद्धि व्यक्त ही।।१४७।।

अन्वयार्थ : सुवर्णवत्=सुवर्ण के समान; **बाह्य+अन्तः+अन्य+सम्पर्कः**=बहिरंग, अंतरंग अन्य पदार्थों का संयोग; **येन**=जितने; **अंशेन**=अंश द्वारा/अंश में; **वियुज्यते**=पृथक् हो जाता है; **तेन**=उतने; **अंशेन**=अंश द्वारा/अंश में; **चिद्रूपस्य**=चिद्रूप की; **विशुद्धिः**= विशिष्ट शुद्धि; **स्यात्**=हो जाती है।।१४७।।

अर्थ : जिस प्रकार स्वर्ण बाहर-भीतर जितने भी अंश में अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से छूट जाता है तो वह उतने अंश में शुद्ध कहा जाता है; उसी प्रकार चिद्रूप के भी जितने अंश से कर्म-मल का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, उतने अंश में वह शुद्ध कहा जाता है।।१४७।।

अब, व्यवहार के अवलम्बन की मर्यादा बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूप-सद्ध्यान-पर्वतारोहणं सुधीः।**
कुर्वन् करोति सुदृष्टिर्व्यवहारावलंबनम्।।१३-१४८।।
आरुह्य शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-पर्वतमुत्तमम्।
तिष्ठेद् यावत्त्यजेत्तावद्, व्यवहारावलंबनम्।।१४-१४९।।युग्मं।।

इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान रूपी, पर्वतारोहण समय।
व्यवहार अवलम्बन ग्रहें, सुदृष्टि विज्ञ विवेकमय।।१४८।।

पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान मय, उत्तम गिरी आरूढ़ हो।
व्यवहार अवलम्बन तजें, निज रूप में सन्तुष्ट हो।।१४९।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यान-पर्वत+आरोहणं=शुद्ध-चिद्रूप के समीचीन ध्यानरूपी पर्वत पर आरोहण; **कुर्वन्**=करता/चड़ता हुआ; **सुधीः**=बुद्धिमान; **सुदृष्टिः**= सम्यग्दृष्टि; **व्यवहार+अवलम्बनं**=व्यवहार का आश्रय; **करोति**=करता है; **उत्तमं**= सर्वोत्कृष्ट; **शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-पर्वतं**=शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानरूपी पर्वत पर; **आरुह्य**= चड़कर; **यावत्**=जब तक; **तिष्ठेत्**=(वहाँ) स्थिर रहता है; **तावत्**=तब तक के लिए; **व्यवहार+अवलम्बनं**=व्यवहार का आश्रय; **त्यजेत्**=छोड़ देता है।।१४८-१४९।।

अर्थ : विद्वान मनुष्य जब तक शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानरूपी विशाल पर्वत पर आरोहण करता है, तब तक तो व्यवहार-नय का अवलम्बन करता है; परन्तु ज्यों ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानरूपी विशाल पर्वत पर चड़कर वह निश्चलरूप से विराजमान हो जाता है, उसी समय व्यवहार-नय का सहारा छोड़ देता है।

भावार्थ : जब तक शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करे, तब तक व्यवहार नय का सहारा रखे; किन्तु जिस समय उसके ध्यान में पूर्णरूप से लीन हो जाय, चल-विचल परिणाम होने का भय न रहे, उस समय व्यवहार-नय का सहारा छोड़ दे।।१४८-१४९।।

अब, व्यवहार के आश्रय का अन्य कारण भी बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतादवरोहणम्।**
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबनम्।।१५-१५०।।

कुछ अन्य कारण वश यदि, चिद्रूप ध्यान गिरी गिरे।
तो पुनः उस व्यवहार को, अवलम्ब निज ध्याता बने।।१५०।।

अन्वयार्थ : यदा=जब; **अन्य-कृतये**=किसी दूसरे कार्य के लिए; **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यान-पर्वतात्**=शुद्ध-चिद्रूप के समीचीन ध्यानरूपी पर्वत से; **अवरोहणं**=उतरना; **कुर्यात्**=करता है; (ध्यान भंग हो जाता है) **तदा**=तब; **तस्य**=उस/व्यवहार का; **अवलम्बनं**=आश्रय लेता है।।१५०।।

अर्थ : यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजन के लिये शुद्ध-चिद्रूप के निश्चल ध्यानरूपी पर्वत से उतरना हो जाय, ध्यान करना छोड़ना पड़े तो उस समय भी व्यवहार-नय का अवलम्बन रखें।।१५०।।

अब, व्यवहार-निश्चय की मैत्री का निरूपण दो पद्यों द्वारा करते हैं—

अनुष्टुप् : **याता यांति च यास्यंति, ये भव्या मुक्तिसंपदम्।**
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्च निश्चयम्।।१६-१५१।।
कारणेन विना कार्यं, न स्यात्तेन विना नयम्।
व्यवहारं कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते।।१७-१५२।।युग्मं।।

जो प्राप्त हैं पा रहे पाएंगे विभव शिव सौख्यमय।
वे पूर्व में व्यवहार आलम्बन, पुनः निश्चय सतत।।१५१।।

नहिं कार्य कारण के विना, व्यवहार नय बिन कभी भी।
निश्चय प्रगट होता नहीं, यों मान ध्या चिद्रूप ही।।१५२।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **भव्या**=भव्य; **मुक्ति-संपदं**=मोक्ष रूपी सम्पत्ति को; **याता**=प्राप्त

हुए हैं; **यान्ति**=प्राप्त हो रहे हैं; **च**=और; **यास्यन्ति**=प्राप्त होंगे; **ते**=वे; **पूर्वं**=पहले; **व्यवहारं**=व्यवहार का; **आलम्ब्य**=आश्रय कर; **च**=और; **पश्चात्**=बाद में; **निश्चयं**=निश्चय को (प्राप्त हुए हैं); **कारणेन**=कारण के; **विना**=अभाव में; **कार्यं**=कार्य; **न**=नहीं; **स्यात्**=होता है; **तेन**=उससे; **व्यवहारं नयं विना**=व्यवहार-नय के विना; **निश्चयस्य**=निश्चय की; **उत्पत्तिः**=प्रगटता; **कदा**=कभी; **न**=नहीं; **जायते**=होती है।।१५१-१५२।।

अर्थ : जो महानुभाव मोक्षरूपी संपत्ति को प्राप्त हो गये, हो रहे हैं और होवेंगे; उन सबने पहले व्यवहार-नय का अवलंबन किया है; क्योंकि विना कारण के कार्य कदापि नहीं हो सकता। व्यवहार-नय कारण है और निश्चय-नय कार्य है; इसलिए विना व्यवहार के निश्चय भी कदापि नहीं हो सकता।।१५१-१५२।।

अब, निश्चय, व्यवहार की विधि का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च।**
निश्चयं व्यवहारं तन्नयं भज यथाविधिः।।१८-१५३।।

नित यथाविधि व्यवहार निश्चय नय समझ आश्रय करो।
जिससे जिनागम में रुचि, जिन आचरण में भक्ति हो।।१५३।।

अन्वयार्थ : तत्=उन; **निश्चयं**=निश्चय; **व्यवहारं**=व्यवहार; **नयं**=नय को; **यथाविधिः**=पद्धति के अनुसार; **भज**=भजो/अपनाओ; (जिससे) **जिनागमे**=जिन-शास्त्रों में; **च**=और; **जिनस्य**=जिनके; **आचरणे**=आचरण में (जिनेन्द्र-कथित चारित्र में); **अपि**=भी; **प्रतीतिः**=विश्वास; **स्यात्**=बना रहे।।१५३।।

अर्थ : व्यवहार और निश्चय-नय का जैसा स्वरूप बतलाया है, उसी प्रकार उसे जानकर उनका इस रीति से अवलम्बन करना चाहिए; जिससे कि जैन-शास्त्रों में विश्वास और भगवान जिनेन्द्र से उक्त चारित्र में भक्ति बनी रहे।।१५३।।

अब, मात्र एक नय के अवलम्बन का फल दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **व्यवहारं विना केचिन्नष्टा केवलनिश्चयात्।**
निश्चयेन विना केचित्, केवलव्यवहारतः।।१९-१५४।।

वे मात्र निश्चय से हुए हैं भ्रष्ट कुछ व्यवहार बिन।
व्यवहार केवल से हुए हैं भ्रष्ट कुछ परमार्थ बिन।।१५४।।

अन्वयार्थ : केचित्=कोई; **व्यवहारं**=व्यवहार के; **विना**=अभाव में; **केवल-निश्चयात्**=मात्र निश्चय से; **नष्टा**=नष्ट/मिथ्यादृष्टि (हैं); **केचित्**=कोई; **निश्चयेन**=निश्चय के; **विना**=अभाव में; **केवल-व्यवहारतः**=मात्र व्यवहार के कारण (नष्ट/मिथ्यादृष्टि हैं)।।१५४।।

अर्थ : अनेक मनुष्य तो संसार में व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्ध-निश्चय-नय के अवलम्बन से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और बहुत से निश्चय-नय को छोड़कर केवल व्यवहार का ही अवलम्बन कर नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : संसार में प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्नरूप से होती है। बहुत से मनुष्य तो केवल शुद्ध-निश्चयावलम्बी हो मन में यह दृढ़ संकल्प कर कि हमारा आत्मा सिद्ध-शुद्ध है, वह भला-बुरा कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है सो जड़ शरीर ही करता है और उससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं, भ्रष्ट हो जाते हैं और चारित्र को सर्वथा जलांजलि दे उन्मार्ग-गामी बन नाना प्रकार के अत्याचार करने लग जाते हैं तथा अनेक मनुष्य केवल व्यवहार-नय का ही अवलम्बन कर क्रिया-काण्डों में उलझे रह जाते हैं और निश्चय-नय की ओर झाँककर भी नहीं देखते, इसलिए मोक्ष के पात्र न होने से वे भी भ्रष्ट हो जाते हैं।।१५४।।

अब, इस संबंध में स्याद्वादिओं का मत बताते हैं—

अनुष्टुप् : **द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात्, सम्यग्द्रव्यावलोकनम्।**
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः।।२०-१५५।।

ज्यों भली-भाँति द्रव्य दिखते नहीं दोनों नेत्र बिन।
त्यों स्याद्वादी मानता, दोनों नयों से युत कथन।।१५५।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **द्वाभ्यां**=दोनों; **दृग्भ्यां**=नेत्रों के; **विना**=अभाव में; **द्रव्य-सम्यक्-अवलोकनं**=पदार्थ को भली-भाँति देखना; **न स्यात्**=नहीं हो पाता है; **तथा**=उसी प्रकार; **नयाभ्यां च**=दोनों नयों के संबंध में समझना चाहिए; **इति**=ऐसा; **स्याद्वाद-वादिभिः**=स्याद्वाद-वादिओं द्वारा; **उक्तं**=कहा गया है।।१५५।।

अर्थ : जिस प्रकार एक नेत्र से भले प्रकार से पदार्थों का अवलोकन नहीं होता, दोनों ही नेत्रों से पदार्थ भले प्रकार दिख सकते हैं; उसी प्रकार एक नय से कभी कार्य नहीं चल सकता। व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से ही निर्दोषरूप से कार्य हो सकता है - ऐसा स्याद्वाद मत के धुरंधर विद्वानों का मत है।।१५५।।

अब, इस संबंध में जैनी की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **निश्चयं क्वचिदालंब्य व्यवहारं क्वचिन्नयम्।**
विधिना वर्तते प्राणी जिनवाणीविभूषितः।।२१-१५६।।

हैं जिनागम से विभूषित विधि पूर्वक निश्चय कभी।
अवलम्ब लें अवलम्ब लें व्यवहारनय का कहिं कभी।।१५६।।

अन्वयार्थ : जिन-वाणी-विभूषितः=जिनेन्द्र भगवान की वाणी से सुसज्जित/जिनवाणी का श्रद्धालु; **प्राणी**=देह-धारी जीव; **विधिना**=विधि पूर्वक; **क्वचित्**=कहीं/प्रयोजन के अनुसार; **निश्चयं**=निश्चय का; **आलम्ब्य**=आश्रय लेकर; **क्वचित्**=कहीं; **व्यवहारं नयं**= व्यवहार-नय का (आश्रय लेकर); **वर्तते**=वर्तता है/प्रवृत्ति करता है।।१५६।।

अर्थ : जो जीव भगवान जिनेन्द्र की वाणी से भूषित हैं, उनके वचनों पर पूर्णरूप से श्रद्धान रखनेवाले हैं, वे कहीं व्यवहार-नय से काम चलाते हैं और कहीं निश्चय-नय का सहारा लेते हैं; अर्थात् जहाँ जैसा अवसर देखते हैं, वहाँ वैसा ही उसी नय का आश्रयकर कार्य करते हैं।।१५६।।

अब, इसी तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **व्यवहाराद्बहिः कार्यं, कुर्याद्विधिनियोजितम्।**
निश्चयं चांतरं धृत्वा तत्त्ववेदी सुनिश्चलम्।।२२-१५७।।

नित तत्त्ववेदी अन्तरंग में सुनिश्चल निश्चय ग्रहण।
कर बाह्य में व्यवहार से करते करम विधि पूर्वक।।१५७।।

अन्वयार्थ : तत्त्व-वेदी=तत्त्व के सम्यक् जानकार; **निश्चयं**=निश्चय को; **सुनिश्चलं**=भली-भाँति दृढ़ता पूर्वक; **अंतरं**=अन्तरंग में; **धृत्वा**=धारण कर; **च**=और/तत्पश्चात्; **विधि-नियोजितं**=विधि-पूर्वक; **व्यवहारात्**=व्यवहार से; **बहिः**=बाहर के/लौकिक; **कार्यं**=कार्य; **कुर्यात्**=करे।।१५७।।

अर्थ : जो महानुभाव तत्त्व-ज्ञानी हैं, भलेप्रकार तत्त्वों के जानकार हैं; वे अन्तरंग में भले प्रकार निश्चय-नय को धारण कर व्यवहार-नय से अवसर देखकर बाह्य में कार्य का संपादन करते हैं; अर्थात् दोनों नयों को काम में लाते हैं, एक नय से कोई काम नहीं करते।।१५७।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में नयों की भूमिका का ज्ञान कराते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यताम्।**
नयादिरहितं शुद्धचिद्रूपं तदनंतरम्।।२३-१५८।।

नित नयों के आधीन है, निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति।
पश्चात् देखो शुद्ध चिद्रूप, नयादि विरहित सभी।।१५८।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिः=शुद्ध-चिद्रूप की भली-भाँति प्राप्ति; **नय+अधीना**=नय के अधीन है; **तत्+अनन्तरं**=उसके/प्राप्ति होने के पश्चात्; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप; **नय+आदि-रहितं**=नय आदि से रहित है; **इति**=ऐसा; **पश्यतां**=देखो/स्वीकार करो।।१५८।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नयों के अधीन है। शुद्ध-चिद्रूप के प्राप्त हुए पश्चात् नयों के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ : जब तक शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती, तब तक नयों से काम है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के बाद कोई नय कार्य-कारी नहीं। उस समय नयों की अपेक्षा के विना ही शुद्ध-चिद्रूप प्रकाशमान रहता है।।१५८।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने के लिए नयों के आश्रय'' का वर्णन करनेवाला, १३६ से १५८ पर्यंत २३ पद्योंवाला सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।७।।

आठवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिये भेद-ज्ञान की आवश्यकता का वर्णन

अब, चिद्रूप को प्राप्त करने की पात्रता का प्ररूपण करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **छेत्रीसूचीक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूषयन्त्रै-**
स्तुल्या पाथः कतकफलबद्धंसपक्षिस्वभावा।
शस्त्रीजायुस्वधितिसदृशा टंकवैशाखवद्वा,
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धिः।।१-१५९।।

जिसकी मती छैनी सुई, आरा पवन सीसा अनल।
जल कोलु दाँता कतकफल, औषध छुरी वैशाखवत्।।
टाँकी मरालादि प्रकृतिवत्, भेद करना जानती।
परमार्थ निज पर वस्तु का, चिद्रूप प्राप्ति उसे ही।।१५९।।

अन्वयार्थ : यस्य=जिसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **छेत्री-सूची-क्रकच-पवनैः तुल्या**= छैनी, सुई, करवत, वायु के समान; **सीसक-अग्नि-ऊषयन्त्रैः तुल्या**=सीसा, आग, कोल्हू के समान; **पाथः**=पृथक् करनेवाले; **कतक-फल-वत्**=कतक फल के समान; **हंस-पक्षि-स्वभावा**=हंस नामक पक्षी के स्वभाव-समान; **शस्त्री-जायु-स्वधिति-सदृशा**=छुरी, जायु, दाँता के समान; **वा**=अथवा; **टंक-वैशाखवत्**=टाँकी, वैशाख/ मथानी के समान; **हि**=वास्तव में; **भिदे**=भेद करने में; **उद्भवति**=विशेषरूप से समर्थ हुई है; **तस्य**=उसे; **चिद्रूप**=लब्धिः=चिद्रूप की प्राप्ति होती है।।१५९।।

अर्थ : जिस महानुभाव की बुद्धि छैनी, सुई, आरा, पवन, सीसा, अग्नि, ऊष-यन्त्र (कोलू), कतक-फल (फिटकरी), हंस-पक्षी, छुरी, जायु, दाँता, टाँकी और वैशाख/ मथानी के समान जड़ और चेतन के भेद करने में समर्थ हो गयी है; उसी महानुभाव को चिद्रूप की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : जिस प्रकार छैनी, सुई, आरा, मिले हुए पदार्थ के दो टुकड़े कर देते हैं; पवन, गन्ध को जुदा उड़ाकर ले जाता है; सोने-चाँदी को सीसा शुद्ध कर देता है; सोना आदि को मैल से अग्नि शुद्ध कर देती है, ईख के रस को कोलू जुदा कर देता है और मिले हुए पदार्थ के टुकड़े-टुकड़े छुरी आदि से कर डालते हैं; उसी प्रकार जिस महानुभाव की बुद्धि ने भी अनादि काल से एकमेक जड़ और चेतन को जुदा-जुदा कर पहचान लिया है, वही चिद्रूप का लाभ कर सकता है, अन्य नहीं।।१५९।।

अब, आत्मा को शरीर से पृथक् करने के कार्य को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं —

स्रग्धरा : **स्वर्णं पाषाण-सूताद्वसनमिवमलात्ताम्र-रूप्यादि-हेम्नो,**
वा लोहादग्निरिक्षोः, रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात्।
ताम्रं तैलं तिलादेः, रजतमिव किलोपायतस्ताम्रमुख्यात्,
दुग्धान्नीरं घृतं च, क्रियत इव पृथक्, ज्ञानिनात्मा शरीरात्।।२-१६०।।

ज्यों स्वर्ण पत्थर से स्वर्ण मैल से पट स्वर्ण से।
नित ताम्र चाँदी आदि लोहे से अनल ताम्रादि से।।
ज्यों रजत जल घृत दूध से, इक्षु से रस मोर पंख से।
करते पृथक् ताँबा सु ज्ञानी निजातम को देह से।।१६०।।

अन्वयार्थ : इह=यहाँ/इस लोक में; **पाषाणसूतात्**=स्वर्ण-पाषाण से; **स्वर्णं**=स्वर्ण को; **मलात्**=मलिनता से; **वसनं+इव**=वस्त्र के समान; **हेम्नः**=सुवर्ण से; **ताम्र-रूप्य-आदि**=ताँबा, चाँदी आदि के (समान); **वा**=अथवा; **लोहात्**=लोहे से; **अग्निः**=आग के (समान); **इक्षोः**=गन्ने से; **रसः**=रस के (समान); **कर्दमात्**=कीचड़ से; **जलवत्**=जल के समान; **केकि-पक्षात्**=मोर के पंख से; **ताम्रं**=ताँबे (के समान); **तिल+आदेः**=तिल आदि से; **तैलं**=तेल (के समान); **ताम्र-मुख्यात्**=ताँबा आदि से; **रजतं+इव**=चाँदी के समान; **दुग्धात्**=दूध से; **नीरं च घृतं इव**=जल और घी के समान; **ज्ञानिना**=ज्ञानी के द्वारा; **आत्मा**=स्वयं जीव; **शरीरात्**=शरीर से; **किल**=वास्तव में; **उपायतः**=उपाय से; **पृथक्**=भिन्न; **क्रियते**=किया जाता है।।१६०।।

अर्थ : जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण से सोना भिन्न किया जाता है, मैल से वस्त्र, सोने से ताँबा-चाँदी आदि पदार्थ, लोहे से अग्नि, ईख से रस, कीचड़ से जल, केकी (मयूर) के

पंख से ताँबा, तिल आदि से तेल, ताँबा आदि धातुओं से चाँदी और दूध से जल एवं घी भिन्न कर लिया जाता है; उसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है, जड़-चेतन का वास्तविक ज्ञान रखता है, वह शरीर से आत्मा को भिन्न कर पहिचानता है।

भावार्थ : मोक्ष अवस्था के पहले आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनादि काल से है। ऐसा कोई भी अवसर प्राप्त न हुआ जिसमें शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हुए हों तथा अज्ञानियों को शरीर और आत्मा दोनों एक ही जान पड़ते हैं, उन्हें भेद दृष्टि-गोचर होता ही नहीं; परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में अवश्य भेद है; क्योंकि जिस प्रकार अनादि काल से मिले हुए सोने के पाषाण और सोने को, मैल और वस्त्र को, ताँबा और चाँदी-सोने को, लोह और अग्नि को, ईख और उसके रस को, कीचड़ और पानी को, मोर के पंख और ताँबे को, तिल और तेल को, ताँबा आदि धातु और चाँदी को और क्षीर और नीर व घी को सर्वथा भिन्न-भिन्न कर जान लिया जाता है; उसी प्रकार ज्ञानी भी शरीर और आत्मा को सर्वथा भिन्न-भिन्न कर पहिचानता है।।१६०।।

अब, पर को छोड़कर चिद्रूप की भावना करने का प्ररूपण करते हैं—

स्रग्धरा: **देशं राष्ट्रं पुराद्यं, [1]स्वजनवनधनं, वर्णपक्षं स्वकीय-**
ज्ञातिं सम्बन्धिवर्गं, कुलपरिजनकं, सोदरं पुत्रजाये।
देहं हृद्वाग्विभावान्, विकृतिगुणविधीन्, कारकादीनि [2]भित्वा,
शुद्धं चिद्रूपमेकं, सहजगुणनिधिं, निर्विभागं स्मरामि।।३-१६१।।

धन वन स्वजन नगरादि राष्ट्र, देश अपनी जाति तन।
मन वचन संबन्धी सहोदर, सुत तिया कुल परीजन।।
निज वर्ग पक्ष विभाव विकृति, कारकादि गुणविधि।
इत्यादि सब मुझसे पृथक्, यों मान इनसे पृथक् ही।।
इन सभी को नित कर पृथक्, मैं एक शुद्ध चिद्रूप ही।
अविभाग गुणनिधि सहज ध्याऊँ स्मरूँ मैं एक ही।।१६१।।

अन्वयार्थ : विकृति-गुण-विधीन्=विकृतिमय दशा को उत्पन्न करनेवाले;

१. यवनजनकुलं - इति पाठः। २. हित्वा - इति पाठः।

देशं=देश को; **राष्ट्रं**=राष्ट्र को; **पुराद्यं**=नगर आदि को; **स्व-जन-वन-धनं**=अपने व्यक्ति/परिवार, वन, धन को; **वर्ण-पक्षं**=वर्ण के पक्ष को; **स्वकीय-ज्ञातिं**=अपनी जाति को; **संबंधि-वर्गं**=संबंधिओं के समूह को; **कुल-परिजनकं**=कुल, कुटुम्ब को; **सोदरं**=सहोदर/भाई-बहिनों को; **पुत्र-जाये**=पुत्र, पत्नी को; **देहं**=शरीर को; **हृद्-वाग्-विभावान्**=हृदय, वचनमय विभावों को; **कारक+आदीनि**=कारक आदि को; **भित्वा**=भिन्न मानकर; **शुद्धं**=पर से पूर्ण निरपेक्ष; **एकं**=अद्वितीय; **सहज-गुण-निधिं**=स्वाभाविक गुणों के भण्डार; **निर्विभागं**=भेद से रहित/अखण्ड; **चिद्रूपं**=चिद्रूप का; **स्मरामि**=स्मरण करता हूँ।।१६१।।

अर्थ : देश, राष्ट्र, पुर-गाँव, स्व-जन-समुदाय, वन, धन, ब्राह्मण आदि वर्णों का पक्ष-पात, जाति, सम्बन्धी, कुल, परिवार, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय और वाणी - ये सब पदार्थ विकार के करनेवाले हैं; इनको अपना मानकर स्मरण करने से ही चित्त, शुद्ध-चिद्रूप की ओर से हट जाता है, चंचल हो उठता है तथा मैं कर्ता और कारण आदि हूँ इत्यादि कारकों के स्वीकार करने से भी चित्त में चल-विचलता उत्पन्न हो जाती है; इसलिए स्वाभाविक गुणों के भण्डार शुद्ध-चिद्रूप को ही मैं निर्विभागरूप से कर्ता-कारण का कुछ भी भेद न कर स्मरण, मनन, ध्यान करता हूँ।

भावार्थ : चित्त में किसी प्रकार की चंचलता न आना, परिणामों का आकुलतामय न होना ही परम-सुख है। मैं देखता हूँ जिस समय देश, राष्ट्र, पुर, कुल, जाति, परिवार आदि का विचार किया जाता है; उनके रहन-सहन पर ध्यान दिया जाता है तो मेरा चित्त आकुलतामय हो जाता है; परिणामों को रंच-मात्र भी शान्ति नहीं मिलती; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने से चित्त में किसी प्रकार की खट-खट नहीं होती, एक-दम शान्ति का संचार होने लग जाता है; इसलिए जगत के समस्त जंजाल को छोड़कर मैं शुद्ध-चिद्रूप का ही स्मरण करता हूँ, उसी से मेरा कल्याण होगा।।१६१।।

अब, दुःख नष्ट करने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं, विकल्पानपसार्य सत्।**
पिवति क्लेशनाशाय, जलं शैवालवत्सुधीः।।४-१६२।।

पीते सुधी काई पृथक् कर, जल तृषा को मिटाने।
सब विकल्पों को छोड़ शुद्ध, स्व आत्म ध्यानामृत पिएं।।१६२।।

अन्वयार्थ : (जैसे) **सुधी:**=बुद्धिमान; **क्लेश-नाशाय**=(प्यास का) दु:ख नष्ट करने के लिए; **शैवालवत्**=काईवाले जल में से काई को दूरकर; **जलं**=जल/पानी को; **पिबति**=पीता है; (उसी प्रकार ज्ञानी संसार के कष्ट को नष्ट करने के लिए) **विकल्पान्**=विकल्पों को; **अपसार्य**=हटाकर; **स्वच्छं**=अत्यंत निर्मल; **सत्**=विद्यमान; **स्व+आत्म-ध्यान+अमृतं**=अपने आत्मा के ध्यान रूपी अमृत जल को; पीता है।।१६२।।

अर्थ : जिस प्रकार क्लेश (पिपासा) की शान्ति के लिये जल के ऊपर पुरी हुई काई को अलग कर शीतल, सुरस, निर्मल जल पिया जाता है; उसी प्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, दु:खों से दूर होना चाहते हैं; वे संसार के समस्त विकल्प-जालों को छोड़कर आत्म-ध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृत-पान करते हैं, अपने चित्त को द्रव्य आदि की चिन्ता की ओर नहीं झुकने देते।।१६२।।

आत्म-ध्यान ही सब कुछ है; अब, यह प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **नात्मध्यानात्परं सौख्यं, नात्मध्यानात् परं तप:।**
नात्मध्यानात्परो मोक्ष-पथ: क्वापि कदाचन।।५-१६३।।

निज आत्म-ध्यान से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं तप भी नहीं।
नहिं अन्य कोई मोक्ष-पथ, यों करो आतम-ध्यान ही।।१६३।।

अन्वयार्थ : क्व+अपि=कहीं भी; **कदाचन**=कभी भी; **आत्म-ध्यानात्**=आत्मा के ध्यान से; **परं**=पृथक्/श्रेष्ठ; **सौख्यं**=सुख; **न**=नहीं है; **आत्म-ध्यानात्**=आत्म-ध्यान से; **परं**=पृथक्; **तप:**=तप; **न**=नहीं है; **आत्म-ध्यानात्**=आत्म-ध्यान से; **पर:**=पृथक्; **मोक्ष-पथ:**=मोक्ष का उपाय; **न**=नहीं है।।१६३।।

अर्थ : (क्योंकि) इस आत्म-ध्यान से बड़कर न तो कहीं किसी काल में कोई सुख है, न तप है और न मोक्ष ही है; अर्थात् जो कुछ है, सो यह आत्म-ध्यान ही है, इसलिए इसी को परम कल्याण का कर्ता समझना चाहिए।।१६३।।

अब, मोही और निर्मोही की रुचि का वर्णन करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित: **केचित्प्राप्य यश: सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं,**
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकम्।
मन्यंते सफलं स्वजन्म-मुदिता मोहाभिभूता नरा,
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिद: केवलम्।।६-१६४।।

सब मोह मोहित मती यश, इन्द्रियज सुख नृप सुत सुहृत्।
उत्तम तिया बल रूप वाहन, पण्डिताई प्राप्त कर।।
इत्यादि उत्तम वस्तुएं, पा नर जनम मानें सफल।
मैं मानता तन आत्मा के, भेद ज्ञान से नित सफल।।१६४।।

अन्वयार्थ : मोह+अभिभूता=मोह से अभिभूत/मोही; **केचित्**=कोई; **नरा**=व्यक्ति; **यश:**=यश/कीर्ति को; **सुखं**=लौकिक अनुकूलता को; **वर-वधूं**=श्रेष्ठ पत्नी को; **रायं**=धन को; **सुतं**=पुत्र को; **सेवकं**=सेवा करनेवाले को; **स्वामित्वं**=स्वामीपने को; **वर-वाहनं**=श्रेष्ठ सवारी को; **बल-सुहृत्पाण्डित्य-रूप-आदिकं**=शक्ति, मित्र, विद्वत्ता, रूप आदि को; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **मुदिता**=प्रसन्नता पूर्वक; **स्व-जन्म**=अपने जन्म को; **सफलं**=सार्थक; **मन्यन्ते**=मानते हैं; **च**=और/परन्तु; **अहं**=मैं; **केवलं**=एक-मात्र; **दु:-आपय-आत्मवपुषो:**= कठिनता से प्राप्त होनेवाले आत्मा और शरीर की; **भिद:**=भेद करनेवाली/पृथक्; **ज्ञप्त्या**=जानकारी से; (अपने जन्म को सार्थक) **मन्ये**=मानता हूँ।।१६४।।

अर्थ : मोह के मद में मत्त बहुत से मनुष्य कीर्ति प्राप्त होने से ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इन्द्रिय-जन्य-सुख, सुन्दर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम सवारियों की प्राप्ति से अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतों को बल, उत्तम मित्र, विद्वत्ता, मनोहररूप आदि की प्राप्ति से सन्तोष हो जाता है; परन्तु मैं आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से अपना जन्म सफल मानता हूँ।

भावार्थ : यह जीव अनादि काल से इस संसार में घूम रहा है। कई बार इसे कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन, पुत्र और सेवक प्राप्त हो चुके हैं। बहुत बार यह स्वामी, राजा भी हो गया है। इसे उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान, रूप आदि की भी अनेक बार प्राप्ति हो चुकी है; परन्तु मोह के जाल में फँसने के कारण इसे जरा भी होश नहीं होता और पुन: पुत्र आदि की प्राप्ति से अपने जन्म को कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझे संसार के चरित्र का भले प्रकार

ज्ञान होने से इनकी प्राप्ति से किसी प्रकार का सन्तोष नहीं होता; इसलिए मैं भेद-विज्ञान से ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूँ।।१६४।।

भेद-विज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाता है, अब, यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ, दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।**
भेदविज्ञानवज्रं न, यावत्पतति मूर्धनि।।७-१६५।।

हैं रहें नित चैतन्य भू पर, कर्म गिरि दुर्भेद्य मय।
जब तक पड़े नहिं भेद-ज्ञानमयी पवी उन शीश पर।।१६५।।

अन्वयार्थ : यावत्=जब तक; **मूर्धनि**=मस्तक पर; **भेद-विज्ञान-वज्रं**=भेद-विज्ञानरूपी बज्र; **न**=नहीं; **पतति**=गिरता/पड़ता है; **तावत्**=तब तक; **चित्-भूमौ**=आत्मा रूपी भूमि में; **दुः-भेद्याः**=कठिनता पूर्वक नष्ट होनेवाले; **कर्म-पर्वताः**=कर्मरूपी पर्वत; **तिष्ठन्ति**=स्थिर रहते हैं।।१६५।।

अर्थ : आत्मारूपी भूमि में कर्मरूपी अभेद्य पर्वत, तभी तक निश्चलरूप से स्थिर रह सकते हैं, जब तक भेद-विज्ञानरूपी बज्र इनके मस्तक पर पड़ कर इन्हें चूर्ण-चूर्ण नहीं कर डालता।

भावार्थ : जब तक भेद-विज्ञान नहीं होता, तभी तक कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं; परन्तु भेद-विज्ञान होते ही कर्म एक-दम नष्ट हो जाते हैं।।१६५।।

अब, उत्तरोत्तर दुर्लभता का प्रतिपादन दो पद्यों द्वारा करते हैं—

अनुष्टुप्: **दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये, चिद्रूपरुचिकारकः।**
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं, चिद्रूपप्रतिपादकम्।।८-१६६।।
ततोऽपि दुर्लभो लोके, गुरुस्तदुपदेशकः।
ततोऽपि दुर्लभं भेद-ज्ञानं चिंतामणिर्यथा।।९-१६७।।युग्मं।।

दुर्लभ यहाँ जग में सदा, चिद्रूप रुचि कारक कहे।
उनसे भि दुर्लभ शुद्ध चिद्रूप निरूपक नित शास्त्र हैं।।१६६।।

उन शास्त्र उपदेशक गुरु, उनसे भि दुर्लभ लोक में।
चिन्तामणि सम भेदमय, विज्ञान दुर्लभ उन्हीं से।।१६७।।

अन्वयार्थ : अत्र=यहाँ/इस; **जगत्-मध्ये**=जगत के मध्य में/लोक में; **चिद्रूप-रुचि-कारकः**=चिद्रूप से रुचि करानेवाले; **दुर्लभः**=सरलता से प्राप्त नहीं होते हैं; **चिद्रूप-प्रतिपादकं**=चिद्रूप का प्रतिपादन करनेवाले; **शास्त्रं**=शास्त्र; **ततः+अपि**=उनसे भी दुर्लभ हैं; **तत्+उपदेशकः**=उसका उपदेश देनेवाले; **गुरुः**=गुरु; **लोके**=लोक में; **ततः+अपि**=उनसे भी; **दुर्लभः**=दुर्लभ हैं; **यथा**=जैसे; **चिंतामणिः**=चिंतामणि (की प्राप्ति अत्यधिक दुर्लभ है, उसी प्रकार); **भेद-ज्ञानं**=स्व-पर का भेद-विज्ञान; **ततः+अपि**=उससे भी; **दुर्लभं**=दुर्लभ है।।१६६-१६७।।

अर्थ : जो पदार्थ चिद्रूप से प्रेम करानेवाला है, वह संसार में दुर्लभ है। उससे भी दुर्लभ चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त हो जाय तो चिद्रूप के स्वरूप का उपदेशक गुरु नहीं मिलता; इसलिए उससे गुरु की प्राप्ति दुर्लभ है। गुरु भी प्राप्त हो जाय तो भी जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है; उसी प्रकार भेद-विज्ञान की प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है।

भावार्थ : प्रथम तो चिद्रूप के ध्यान में रुचि नहीं होती; यदि रुचि हो जाय तो चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र नहीं मिलता; कदाचित् शास्त्र प्राप्त हो जाय तो उसका उपदेशक गुरु नहीं प्राप्त होता; गुरु की प्राप्ति हो जाय तो भेद-विज्ञान की प्राप्ति जल्दी नहीं होती; इसलिए भेद-विज्ञान की प्राप्ति सबसे दुर्लभ है।।१६६-१६७।।

अब, भेद-ज्ञान को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **भेदो विधीयते येन, चेतनाद्देहकर्मणोः।**
तज्जातविक्रियादीनां, भेदज्ञानं तदुच्यते।।१०-१६८।।

निज चेतनात्मक स्वयं से, तन कर्म तज्जन्य विक्रिया।
का भेद जिससे जानते, वह भेदज्ञान कहा गया।।१६८।।

अन्वयार्थ : येन= जिसके द्वारा; **चेतनात्**=चेतन से; **देह-कर्मणोः**=शरीर और कर्म का; **तत्-जात-विक्रिया+आदीनां**=उनसे उत्पन्न/व्यक्त विशिष्ट क्रियाओं/दशाओं आदि का; **भेदः**=भेद; **विधीयते**=जाना जाता है; **तत्**=उसे; **भेद-ज्ञानं**=भेद-संबंधी ज्ञान; **उच्यते**=कहते हैं।।१६८।।

अर्थ : जिसके द्वारा आत्मा से देह और कर्म का तथा देह एवं कर्म से उत्पन्न हुई विक्रियाओं का भेद जाना जाय, उसे भेद-विज्ञान कहते हैं।।१६८।।

भेद-ज्ञान के विना शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती है; अब ऐसा निरूपण करते हैं —

अनुष्टुप् : **स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं, भेदज्ञानं विना कदा।**
तपःश्रुतवतां मध्ये, न प्राप्तं केनचित् क्वचित्।।११-१६९।।

बहु तपस्वी शास्त्रज्ञ भी, निज शुद्ध चिद्रूप को सभी।
भेदज्ञान बिन कैसे कहीं भी, नहीं पा सकते कभी।।१६९।।

अन्वयार्थ : तपः-श्रुतवतां=तप और श्रुतवालों के; **मध्ये**=बीच में/तपस्वी और विशेष विद्वान होने पर भी; **केनचित्**=किसी के द्वारा; **क्वचित्**=कहीं भी; **कदा**=कभी भी; **भेद-ज्ञानं**=भेद-ज्ञान के; **विना**=अभाव में; **स्वकीयं**=अपने; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **न**=नहीं; **प्राप्तं**=प्राप्त किया गया है।।१६९।।

अर्थ : शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति, विना भेद-विज्ञान के कदापि नहीं हो सकती, इसलिए तपस्वी या शास्त्रज्ञ किसी महानुभाव ने विना भेद-विज्ञान के आज तक कहीं भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति न कर पाई और न कर ही सकता है। जिसने शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति की है, उसने भेद-विज्ञान से ही की है।।१६९।।

भेद-विज्ञान सभी कर्मों को समाप्त कर देता है; अब, यह बताते हैं —

अनुष्टुप् : **क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकम्।**
क्षणेन कर्मणां राशिं, तृणानां पावको यथा।।१२-१७०।।

तृण राशि को ज्यों आग क्षण में, भस्म कर देती सभी।
त्यों क्षय करे चिद्रूप-घातक, सभी को भेदज्ञ ही।।१७०।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **पावकः**=अग्नि; **तृणानां**=घास के; **राशिं**=समूह को; **क्षणेन**=क्षण भर में; **क्षयं नयति**=समाप्त कर देती है; (उसी प्रकार) **भेदज्ञः**=भेद को जाननेवाला; **चिद्रूप-प्रतिघातकं**=चिद्रूप की प्राप्ति में बाधक; **कर्मणां**=कर्मों के; **राशिं**=समूह को; (क्षण-भर में समाप्त कर देता है)।।१७०।।

अर्थ : जिस प्रकार अग्नि देखते-देखते तृणों के समूह को जलाकर खाक कर देती है; उसी प्रकार जो भेद-विज्ञानी है, वह शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का नाश करनेवाले कर्म-समूह को क्षण-भर में समूल नष्ट कर देता है।।१७०।।

अब, भेद-ज्ञान की भावना-हेतु प्रेरित करते हैं—

अनुष्टुप् : **अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः।**
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै, सर्वशास्त्रविशारदः।।१३-१७१।।

सब शास्त्र पारंगत सुधी, चिद्रूप प्राप्ति के लिए।
निर्बाध धारा से सतत, भेद-ज्ञान ही भाया करे।।१७१।।

अन्वयार्थ : सर्व-शास्त्र-विशारदः=सभी शास्त्रों में प्रवीण; **सुधीः**=बुद्धिमान; **शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्त्यै**=शुद्ध-चिद्रूप की भली-भाँति प्राप्ति के लिए; **अछिन्न-धारया**= अखण्ड धारा से; **भेद-बोधनं**=भेद के ज्ञान की; **भावयेत्**=भावना करें।।१७१।।

अर्थ : जो महानुभाव समस्त शास्त्रों में विशारद है और शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी है, उसे चाहिए कि वह एकाग्र हो भेद-विज्ञान की ही भावना करे; भेद-विज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ में ध्यान न लगाये।।१७१।।

अब, भेद-ज्ञान का फल बताते हुए उसकी भावना-हेतु प्रेरित करते हैं—

अनुष्टुप् : **संवरोऽनिर्जरा साक्षात्, जायते स्वात्मबोधनात्।**
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा।।१४-१७२।।

निज आतमा के ज्ञान से, साक्षात् संवर निर्जरा।
वह व्यक्त भेद-विज्ञान से, यों मुमुक्षु को भावना।।१७२।।

अन्वयार्थ : स्व+आत्म-बोधनात्=अपने आत्मा के विशिष्ट ज्ञान से; **साक्षात्**= वास्तविक; **संवरः**=कर्मों का रुक जाना; **निर्जरा**=कर्मों का खिर जाना; **जायते**= प्रगट होता है; **तत्**=वह/आत्म-ज्ञान; **भेद-ज्ञानतः**=भेद-ज्ञान से (होता है); **तस्मात्**= इसलिए; **तत्-च**=वह ही; **मुमुक्षुणा**=मोक्ष के अभिलाषी द्वारा; **भाव्यं**=भावना करने-योग्य है।।१७२।।

अर्थ : संवर (कर्मों के आवागमन का रुक जाना) और निर्जरा (क्रम-क्रम से अवशिष्ट कर्मों का क्षय होना) की प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। संवर और निर्जरा का

लाभ, आत्म-ज्ञान से होता है और आत्म-ज्ञान, भेद-ज्ञान से होता है; इसलिए मोक्षाभिलाषी को चाहिए कि वह भेद-विज्ञान को सबसे अधिक कार्य-कारी जान, उसी की भावना करे।।१७२।।

यह भेद-ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं हुआ; अब, यह स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **लब्धा वस्तुपरीक्षा च, शिल्पादि सकला कला।**
बह्वी शक्तिर्विभूतिश्च, भेदज्ञप्तिर्न केवला।।१५-१७३।।

वस्तु परीक्षा शिल्प आदि, बहु कलाएं शक्तिआँ।
वैभव विविध पाया, परन्तु भेद-ज्ञान न पा सका।।१७३।।

अन्वयार्थ : वस्तु-परीक्षा=वस्तुओं की परीक्षा/परख करना; **शिल्प+आदि-सकला**=शिल्प आदि सभी; **कला**=कला/योग्यताएं; **बह्वी**=अनेक प्रकार की; **शक्ति:**=सामर्थ्य; **च**=और; **विभूति:**=सम्पत्ति; **लब्धा**=प्राप्त कीं; **च**=और/परन्तु; **केवला**=एक-मात्र; **भेद-ज्ञप्ति:**=भेदरूपी जानकारी; **न**=प्राप्त नहीं की।।१७३।।

अर्थ : इस संसार के अन्दर अनेक पदार्थों की परीक्षा करना भी सीखा। शिल्प आदि अनेक प्रकार की कलायें भी हासिल कीं। बहुत सी शक्तियाँ और विभूतियाँ भी प्राप्त कीं; परन्तु भेद-विज्ञान का लाभ आज तक नहीं हुआ।।१७३।।

अब, पुन: भेद-ज्ञान का फल दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्न बुध्यते।**
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभंजनात्।।१६-१७४।।

तन आतमा में भेद के, विज्ञानमय तूफान से।
चिद्रूप-छादक मोह धूली, नष्ट हो जड़ मूल से।।१७४।।

अन्वयार्थ : शरीर-आत्म-भेद-ज्ञान-प्रभंजनात्=शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञानरूपी प्रलयंकर पवन से; **चिद्रूपच्छादक:**=चिद्रूप को ढ़कनेवाले; **मोह-रेणु-राशि:**=मोहरूपी रेणुओं का समूह; **क्व**=कहाँ; **याति**=चला जाता है; **इति**=यह (हम); **न**=नहीं; **बुध्यते**=जानते हैं।।१७४।।

अर्थ : शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञानरूपी महा-पवन से चिद्रूप के स्वरूप को ढ़कनेवाली मोह की रेणुएँ न मालूम कहाँ किनारा कर जाती हैं?

भावार्थ : जिस प्रकार जब तक बलवान पवन नहीं चलता, तभी तक धूलि के रेणु इकट्ठे रहते हैं; किन्तु पवन के चलते ही उनका पता नहीं लगता; उसी प्रकार जब तक शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान नहीं होता, वे भिन्न-भिन्न नहीं जान लिये जाते, तभी तक मोह का पर्दा आत्मा के ऊपर पड़ा रहता है; परन्तु भेद-विज्ञान के प्राप्त होते ही वह एकदम लापता हो जाता है।।१७४।।

अब, इस भेद-ज्ञान को अद्वितीय दीपक सिद्ध करते हैं —

अनुष्टुप् : **भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति, शुद्धचिद्रूपदर्शने।**
अनादिज-महामोह-तामसच्छेदनेऽपि च।।१७-१७५।।

है अनादि अति मोह तम, नाशक प्रदर्शक चिन्मयी।
है दीप्त उत्तम दीप कहते शुद्ध भेद-विज्ञान ही।।१७५।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-दर्शने=शुद्ध-चिद्रूप को देखने में; **च**=और; **अनादिज-महा-मोह-तामस-छेदने+अपि**=अनादि से प्रगट प्रबल मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने में भी; **भेद-ज्ञानं**=भेद-ज्ञान; **प्र-दीपः**=श्रेष्ठ दीपक; **अस्ति**=है।।१७५।।

अर्थ : यह भेद-विज्ञान, शुद्ध-चिद्रूप के दर्शन में जाज्वल्यमान दीपक है और अनादि काल से विद्यमान मोहरूपी प्रबल अन्धकार का नाश करनेवाला है।

भावार्थ : जिस प्रकार दीपक से घट, पट आदि पदार्थ स्पष्टरूप से दिखते हैं और अन्धकार का नाश हो जाता है; उसी प्रकार भेद-विज्ञान से शुद्ध-चिद्रूप का भले प्रकार दर्शन होता है और मोहरूपी गाढ़ अन्धकार भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है।।१७५।।

अब, भेद-ज्ञानरूपी नेत्र की महिमा बताते हैं —

अनुष्टुप् : **भेदविज्ञान-नेत्रेण, योगी साक्षादवेक्षते।**
सिद्धस्थाने शरीरे वा, चिद्रूपं कर्मणोज्झितम्।।१८-१७६।।

सत् भेद-विज्ञान नेत्र से, साक्षात् देखें योगि-गण।
नित सिद्ध स्थल में या तन में, कर्म बिन चिद्रूप स्व।।१७६।।

अन्वयार्थ : योगी=अपने उपयोग को स्वयं में जोड़नेवाले योगी; **भेद-विज्ञान-नेत्रेण**=भेद-विज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा; **सिद्ध-स्थाने**=सिद्ध-क्षेत्र में; **वा**=अथवा; **शरीरे**=शरीर में; **कर्मणा**=कर्म से; **उज्झितं**=रहित; **चिद्रूपं**=चिद्रूप को; **साक्षात्**=प्रत्यक्षरूप में; **अवेक्षते**=देखते हैं।।१७६।।

अर्थ : योगी-गण भेद-विज्ञानरूपी नेत्र की सहायता से सिद्ध-स्थान और शरीर में विद्यमान समस्त कर्मों से रहित शुद्ध-चिद्रूप को स्पष्टरूप से देख लेते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार गृह आदि स्थानों पर स्थित पदार्थ, नेत्र से भले प्रकार देख-जान लिये जाते हैं; उसी प्रकार सिद्ध-स्थान (मोक्ष) और अपने शरीर में विद्यमान समस्त कर्मों से रहित इस शुद्ध-चिद्रूप को दिखानेवाला जो भेद-विज्ञान है, उसके द्वारा योगी शुद्ध-चिद्रूप को भी स्पष्टरूप से देख लेते हैं।।१७६।।

आत्मा और शरीर का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है; इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **मिलितानेकवस्तूनां, स्वरूपं हि पृथक् पृथक्।**
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन, निःशंकं ज्ञायते यथा।।१९-१७७।।
तथैव मिलितानां हि, शुद्धचिद्देहकर्मणाम्।
अनुभूत्या कथं सद्भिः, स्वरूपं न पृथक् पृथक्।।२०-१७८।।युग्मं।।

नित परस्पर मिश्रित अनेकों, वस्तुओं का भिन्न भिन्न।
स्व रूप स्पर्शादि द्वारा, जानते निःशंक विज्ञ।।१७७।।

त्यों मिले पर हैं भिन्न भिन्न शुद्ध चेतन तन करम।
सद् विज्ञ अनुभूति से जानें, पृथक्-पृथक् स्वरूप सब।।१७८।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **विदग्धेन**=प्रवीण व्यक्ति द्वारा; **हि**=वास्तव में; **मिलित+अनेक-वस्तूनां**=मिली हुई अनेक वस्तुओं का; **पृथक्-पृथक्**=भिन्न-भिन्न; **स्वरूपं**=स्वभाव; **निःशंकं**=निस्संदेह पूर्वक; **स्पर्श+आदिभिः**=स्पर्श आदि द्वारा; **ज्ञायते**=जान लिया जाता है; **तथा+एव**=उसी प्रकार से; **सद्भिः**=सज्जनों द्वारा; **हि**=वास्तव में; **मिलितानां**=मिले हुए; **शुद्ध-चित्-देह-कर्मणां**=शुद्ध चैतन्य, शरीर और कर्मों का;

पृथक्-पृथक्=भिन्न-भिन्न; **स्वरूपं**=स्वभाव; **अनुभूत्या**=अनुभूति के द्वारा; **कथं**=कैसे; **न**=नहीं (ज्ञात हो जाएगा)?।।१७७-१७८।।

अर्थ : जिस प्रकार विद्वान मनुष्य आपस में मिले हुए अनेक पदार्थों का स्वरूप स्पर्श आदि के द्वारा स्पष्टरूप से भिन्न-भिन्न पहिचान लेते हैं; उसी प्रकार आपस में अनादि काल से मिले हुए शुद्ध-चिद्रूप, शरीर और कर्मों के स्वरूप को भी अनुभव ज्ञान के बल से सत्पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न क्यों न जाना जाय?

भावार्थ : संसार में पदार्थों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं और उनके बतलानेवाले लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं। जल और अग्नि आदि पदार्थ एक स्थान पर स्थित रहने पर भी अपने शीत और उष्ण स्पर्श से स्पष्टरूप से भिन्न-भिन्न जान लिये जाते हैं; क्योंकि जल और अग्नि में शीत-स्पर्श, सिवाय जल के और उष्ण-स्पर्श, सिवाय अग्नि के, अन्य में नहीं रहता।

उसी प्रकार यद्यपि शुद्ध-चिद्रूप, शरीर और कर्म अनादि काल से आपस में एकमेक हो रहे हैं। आज तक कभी ऐसा अवसर न आया, जिसमें ये सर्वथा भिन्न-भिन्न हुए हों; तथापि अनुभव-ज्ञान के बल से इनको भिन्न-भिन्न कर जान लिया जाता है। यह शुद्ध-चिद्रूप है और ये जड़ शरीर और कर्म हैं - यह बात स्पष्टरूप से समझ में आ जाती है।।१७७-१७८।।

अब, उदाहरण द्वारा भेद-ज्ञान के फल को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **आत्मानं देह-कर्माणि, भेद-ज्ञाने समागते।**
मुक्त्वा यांति यथा सर्पा, गरुडे चंदन-द्रुमम्।।२१-१७९।।

जैसे गरुड़ को देख चन्दन तरु लिपटे सर्प भी।
नित भाग जाते छोड़कर, त्यों आत्मा तन कर्म भी।।
यद्यपि अनादि से मिले, पर पारमार्थिक भेद का।
विज्ञान प्रगटा तन करम, आतम से भिन्न हुआ सदा।।१७९।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **गरुडे**=गरुड़ के आने पर; **सर्पाः**=सर्प; **चंदन-द्रुमं**=चंदन के वृक्ष को; **मुक्त्वा**=छोड़कर; **यान्ति**=चले जाते हैं; (उसी प्रकार) **भेद-ज्ञाने**=भेद-ज्ञान के; **समागते**=होने पर; **देह-कर्माणि**=शरीर और कर्म; **आत्मानं**=आत्मा को (छोड़कर चले जाते हैं)।।१७९।।

अर्थ : जिस प्रकार चन्दन वृक्ष पर लिपटा हुआ सर्प अपने बैरी गरुड़ पक्षी को देखते ही तत्काल आँख से ओझल हो जाता है, पता लगाने पर भी उसका पता नहीं लगता; उसी प्रकार भेद-विज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त देह तथा कर्म आत्मा को छोड़कर न मालूम कहाँ लापता हो जाते हैं? विरोधी भेद-विज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्मों की सूरत भी नहीं दिख पड़ती।।१७९।।

अब, इसी भेद-ज्ञान के फल को पुनः स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **भेद-ज्ञान-बलात् शुद्ध-चिद्रूपं प्राप्य केवली।**
भवेद्देवाधिदेवोऽपि, तीर्थ-कर्ता जिनेश्वरः।।२२-१८०।।

पा शुद्ध-चिद्रूप भेद-ज्ञान प्रभाव से सर्वज्ञ हो।
देवाधिदेव जिनेश, तीर्थंकर हुआ शोभित अहो।।१८०।।

अन्वयार्थ : भेद-ज्ञान-बलात्=भेद-ज्ञान के बल से; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **केवली**=सर्वज्ञ; **तीर्थ-कर्ता**=तीर्थ करनेवाले/तीर्थंकर; **जिनेश्वरः**=जिनेश्वर; **देव+अधिदेवः**=देवों का भी देव/देवाधिदेव; **अपि**=भी; **भवेत्**=हो जाता है।।१८०।।

अर्थ : इसी भेद-विज्ञान के बल से यह आत्मा शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त कर केवल-ज्ञानी, तीर्थंकर, जिनेश्वर और देवाधिदेव होता है।

भावार्थ : केवली, जिनेश्वर आदि पदों की प्राप्ति अति कठिन है; परन्तु भेद-विज्ञानियों के लिये अति कठिन नहीं; क्योंकि जो महानुभाव अपने भेद-विज्ञानरूपी अखंड-बल से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति कर लेते हैं, वे केवल-ज्ञानरूपी अचिंत्य-विभूति से मण्डित हो जाते हैं; समस्त देवों के स्वामी, तीर्थंकर और जिनेश्वर भी कहलाने लगते हैं; इसलिए यह भेद-विज्ञान संसार की समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला अनुपम चिन्तामणि रत्न है।।१८०।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति करने के लिए भेद-विज्ञान की प्राप्ति'' को बतलानेवाला, १५९ से १८० पर्यंत २२ पद्योंवाला आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।८।।

नववाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान के लिये मोह-त्याग की उपयोगिता

अब, मोह को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **अन्यदीया मदीयाश्च, पदार्थाश्चेतनेतरा:।**
एतेऽदश्चिंतनं मोहो, यत: किंचित्न कस्यचित्।।१-१८१।।

ये अर्थ चेतन अचेतन, मेरे पराए चिन्तवन।
है मोह क्योंकि किसी का, कुछ भी नहीं पर, जिन-कथन।।१८१।।

अन्वयार्थ : यत:=क्योंकि; **कस्यचित्**=किसी का; **किंचित्**=अन्य कुछ; **न**=नहीं है; (इसलिए) **एते**=ये; **चेतन-इतरा:**=चेतन और अन्य/अचेतन; **पदार्था:**=पदार्थ; **अन्यदीया**=अन्य के/पराये; **च**=और; **मदीया:**=मेरे/अपने (हैं); **अद:**=ऐसा; **चिंतनं**=चिंतन; **मोह:**=मोह है।।१८१।।

अर्थ : ये चेतन और जड़ पदार्थ पराये और अपने हैं - इस प्रकार का चिन्तवन मोह है; क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो कोई पदार्थ किसी का नहीं है।

भावार्थ : सिवाय शुद्ध-चिद्रूप के संसार में कोई पदार्थ अपना नहीं; इसलिए स्त्री, पुत्र आदि चेतन; धन, माल, खजाना आदि अचेतन पदार्थों में अपने मन का संकल्प-विकल्प करना, मोह है।।१८१।।

अब, इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **दत्तो मानोऽपमानो मे, जल्पिता कीर्तिरुज्ज्वला।**
अनुज्ज्वलापकीर्तिर्वा, मोहस्तेनेति चिंतनम्।।२-१८२।।

अपमान मान दिया, सुपावन यश मलिन अपयश किया।
इत्यादि चिन्तन मोह, क्योंकि लेन देन नहीं यहाँ।।१८२।।

अन्वयार्थ : तेन=उससे/पूर्वोक्त मान्यता के कारण; (इसने मुझे) **मानः**=सम्मान/आदर; **दत्तः**=दिया; **अपमानः**=अनादर (किया); **मे**=मेरी; **उज्ज्वला**=निर्मल; **कीर्तिः**=कीर्ति; **जल्पिता**=कही/फैलाई; **वा**=अथवा; **अनुज्ज्वला**=मलिन; **अपकीर्ति**=अपयश (फैलाया); **इति**=ऐसा; **चिंतनं**=चिन्तन; **मोहः**=मोह (है)।।१८२।।

अर्थ : इसने मेरा आदर-सत्कार किया, इसने मेरा अपमान-अनादर किया, इसने मेरी उज्ज्वल कीर्ति फैलाई और इसने मेरी अपकीर्ति फैलाई - इस प्रकार का विचार मन में लाना ही मोह है।

भावार्थ : यदि वास्तव में देखा जाय तो किसका आदर? किसका अनादर? किसकी कीर्ति? और किसकी अपकीर्ति? सब बातें मिथ्या हैं; परन्तु मोह से मूढ़ यह प्राणी आदर, अनादर का विचार करने लग जाता है; इसलिए उसका इस प्रकार का विचार करना, प्रबल मोह है।।१८२।।

अब, इसे ही पुनः स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **किं करोमि क्व यामीदं, क्व लभेयं सुखं कुतः।**
किमाश्रयामि किं वच्मि, मोहश्चिंतनमीदृशम्।।३-१८३।।

क्या करूँ मैं जाऊँ कहाँ, कैसे मिले सुख कहाँ से?
पाऊँ शरण किसकी कहूँ क्या? मोह चिन्तन सभी ये।।१८३।।

अन्वयार्थ : किं=क्या; **करोमि**=करता हूँ; **क्व**=कहाँ; **यामि**=जाता हूँ; **इदं**=यह; **क्व**=कहाँ; **कुतः**=कैसे; **सुखं**=सुख/अनुकूलताओं को; **लभेयं**=प्राप्त करूँ; **किं**=क्या/किसका; **आश्रयामि**=आश्रय करता हूँ; **किं**=क्या; **वच्मि**=कहता हूँ; **ईदृशं**=ऐसा; **चिंतनं**=चिंतन; **मोहः**=मोह/विपरीत मान्यता है।।१८३।।

अर्थ : मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कैसे सुखी होऊँ? किसका सहारा लूँ? और क्या कहूँ? इस प्रकार का विचार करना भी मोह है।।१८३।।

अब, मोह और अपने स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **चेतनाचेतने रागो, द्वेषो मिथ्या-मतिर्मम।**
मोह-रूपमिदं सर्वं, चिद्रूपोऽहं हि केवलः।।४-१८४।।

मुझ मती मिथ्या यही, राग द्वेष है जड़ जीव में।
यह मोह का ही रूप सब, चिद्रूप केवल सदा मैं।।१८४।।

अन्वयार्थ : चेतन-अचेतने=सचित्त-अचित्त में; **रागः**=राग/प्रीति; **द्वेषः**=द्वेष/अप्रीति; **मम**=मेरी; **मिथ्या-मतिः**=असत्य/विपरीत बुद्धि; **इदं**=यह; **सर्वं**=सभी; **मोहरूप**=मोह का स्वरूप है; **हि**=वास्तव में; **अहं**=मैं; **केवलः**=एक-मात्र; **चिद्रूपः**=चिद्रूप (हूँ)।।१८४।।

अर्थ : ये जो संसार में चेतन-अचेतनरूप पदार्थ दृष्टि-गोचर होते हैं, वे मेरे हैं या दूसरे के हैं - इस प्रकार राग और द्वेषरूप विचार करना, मिथ्या है; क्योंकि ये सब मोह-स्वरूप हैं और मेरा स्वरूप शुद्ध-चिद्रूप है; इसलिए ये मेरे कभी नहीं हो सकते।।१८४।।

अब, इसी का पुनः विस्तार करते हैं—

अनुष्टुप् : **देहोऽहं मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम।**
कलत्रादिरहं वा मे, मोहोऽदश्चिंतनं किल।।५-१८५।।

तन मैं यही मेरा कर्म का उदय मैं मेरा यही।
सुत तिया सब मैं, हुए मेरे मोह चिन्तन सब यही।।१८५।।

अन्वयार्थ : अहं=मैं; **देहः**=शरीर (हूँ); **वा**=अथवा; **असौ**=वह; **अपि**=भी; **मम**=मेरा (है); **कलत्र+आदिः**=स्त्री आदि; **अहं**=मैं (हूँ); **वा**=अथवा; (वे सभी) **मे**=मेरे (हैं); **किल**=वास्तव में; **अदः**=ऐसा; **चिंतनं**=चिंतन; **मोहः**=मोह (है)।।१८५।।

अर्थ : मैं शरीर-स्वरूप हूँ और शरीर मेरा है, मैं कर्म के उदय-स्वरूप हूँ और कर्म का उदय मेरा है; मैं स्त्री, पुत्र आदि स्वरूप हूँ और स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं - इस प्रकार का विचार करना भी सर्वथा मोह है। देह आदि में मोह के होने से ही ऐसे विकल्प होते हैं।।१८५।।

अब, मोह को जीतने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **तज्जये व्यवहारेण, संत्युपाया अनेकशः।**
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनम्।।६-१८६।।

व्यवहार से इस पर विजय के, अनेकों साधन कहे।
परमार्थ से चिद्रूप शुद्ध, यही मैं मेरा कहें।।१८६।।

अन्वयार्थ : तत्=उस/मोह को; **जये**=जीतने में; **व्यवहारेण**=व्यवहार से; **अनेकशः**=अनेक प्रकार के; **उपाया**=उपाय; **संति**=हैं; **निश्चयेन**=निश्चय से; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चिद्रूपः**=शुद्ध-चिद्रूप (हूँ); **सः**=वह; **मे**=मेरा (है); **इति**=ऐसा; **चिंतनं**=चिंतन (यह एक ही उपाय है)।।१८६।।

अर्थ : व्यवहार-नय से इस उपर्युक्त मोह का नाश करने के लिए बहुत से उपाय हैं; निश्चय-नय से 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' 'वही मेरा है' - ऐसा विचार करने मात्र से ही इसका सर्वथा नाश हो जाता है।

भावार्थ : यह मेरा है, यह तेरा है, मैं शरीर आदि स्वरूप हूँ और शरीर आदि मेरे स्वरूप हैं - इस प्रकार का विचार करना जो पहले मोह बतला आये हैं; उस मोह का नाश व्यवहार-नय की अपेक्षा बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से, तप आदि के आचरण करने से होता है और निश्चय-नय से 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' आदि विचार करने से ही वह समूल नष्ट हो जाता है।।१८६।।

अब, निश्चिंत होकर आत्म-चिंतन करने-हेतु प्रेरित करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ितः **धर्मोद्धारविनाशनादि-कुरुते कालो यथा रोचते,**
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितम्।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते,
तच्चिंतामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनम्।।७-१८७।।

हैं काल-कृत ही धर्म के, उद्धार-नाशादि सभी।
इन्द्रियज उत्तम सौख्य दुख, स्व-पर उपार्जित कर्म ही।।
हैं अन्य भी जो अर्थ जैसे, वहाँ ही रहते सभी।
मत करो चिन्ता, करो चिन्तन, शुद्ध आतम मैं यही।।१८७।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसा; **रोचते**=रुचता है/होना होता है तदनुसार; **कालः**=काल/समय; **धर्म+उद्धार-विनाशन+आदि**=धर्म का उद्धार, विनाश आदि; **कुरुते**=करता है; **पूर्व+अर्जितं**=पहले बँधा हुआ; **कर्म+एव**=कर्म ही; **स्वस्य**=अपने; **अन्यस्य**=दूसरे के; **वर-ख-जं**=श्रेष्ठ इन्द्रियों से उत्पन्न; **सुख+असुखं**=सुख या दुःख; **अन्ये**=दूसरे; **ये+अपि**=जो भी; **यथा+एव**=जैसे ही; **सन्ति**=हैं; **हि**=वास्तव में; **ते**=वे; **अर्थाः**=पदार्थ;

तथा+एव=उसी प्रकार से ही; **तिष्ठन्ति**=रह रहे हैं; **च**=और/अत:; **तत्**=उनकी; **चिंतां**=चिंता; **मा**=नहीं; **विधेहि**=करो; **इति**=इस प्रकार/निश्चिन्त होकर; **शुद्ध+आत्मन:**= शुद्ध आत्मा का; **चिंतनं**=चिंतन; **कुरुते**=करो।।१८७।।

अर्थ : काल के अनुसार धर्म का उद्धार व विनाश होता है; पहले का उपार्जन किया हुआ कर्म ही इन्द्रियों के उत्तमोत्तम सुख और नाना प्रकार के क्लेश हैं। जो अन्य पदार्थ भी जैसे और जिस रीति से हैं, वे उसी रीति से विद्यमान हैं; इसलिए हे आत्मन्! तुम उनके लिए किसी बात की चिन्ता न करो, अपने शुद्ध-चिद्रूप की ओर ध्यान दो।

भावार्थ : जो पदार्थ जैसा है, वह उसी रूप से है। वास्तविक दृष्टि से रत्ती-भर भी उसमें हेर-फेर नहीं हो सकता। देखो! काल के अनुसार धर्म का उद्धार व विनाश होता है पहले उपार्जन किये कर्म ही संसार में सुख-दु:ख हैं और भी जो पदार्थ जिस रूप से हैं, वे उसी रूप से स्थित हैं, तब उनके विषय में चिन्ता करना व्यर्थ है; इसलिए आत्मा को चाहिए कि वह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर अपने शुद्ध-चिद्रूप का ही चिन्तन करे। उसी के चिन्तन से उसका कल्याण हो सकता है।।१८७।।

अब, शरीर के प्रति मध्यस्थ भाव का वर्णन करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-**
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।
तस्या: किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च,
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वत:।।८-१८८।।

दुर्गन्ध मलभाजन कुकर्मों से बना सब धातु से।
तन जग स्वयं के स्वार्थ वश, इच्छानुसार सभी कहें।।
उसकी सदा निन्दा प्रशंसा से मुझे है लाभ क्या?
चिद्रूप मैं तन कर्म तद् भावों से भिन्न सदा रहा।।१८८।।

अन्वयार्थ : कुविधिना=बुरे कर्मों द्वारा; **धातुभि:**=धातुओं से; **निष्पादितं**=बनाया गया; **अंगं**=शरीर; **दुर्गन्धं**=दुर्गन्धित; **मल-भाजनं**=गन्दगी का पात्र (है); **अखिलै:**=सभी; **जनै:**=व्यक्तिओं द्वारा; **निज+अर्थं**=अपने प्रयोजन-वश; **स्वेच्छया**=इच्छानुसार; **तस्य**= उसकी; **आख्या**=प्रशंसा; **धृता**=की गई है; **अन्यस्य**=उससे पृथक्; **मम**=मुझ; **चिद्रूपस्य**=

चिद्रूप का; अहो! आश्चर्य है कि; **तत्त्वतः**=वास्तव में; **तस्याः**=उस प्रशंसा के; **सततं**=निरंतर; **शरीर-कर्म-जनिता**=शरीर और कर्म से उत्पन्न; **वर्णनेन**=वर्णन से; **किं**=क्या (प्रयोजन); **च**=और; (निरंतर) **निन्दनेन**=निन्दा से; **एव**=ही/भी; **किं**=क्या (प्रयोजन)?।।१८८।।

अर्थ : यह शरीर दुर्गन्धमय है; विष्टा, मूत्र आदि मलों का घर है; निन्दित कर्म की कृपा से मल, मज्जा आदि धातुओं से बना हुआ है; तथापि मूढ़ मनुष्यों ने अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिए इच्छानुसार इसकी प्रशंसा की है; परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशंसा और निन्दा से क्या प्रयोजन है? क्योंकि मैं निश्चय-नय से शरीर, कर्म और उनसे उत्पन्न हुए विकारों से रहित शुद्ध-चिद्रूप स्वरूप हूँ।

भावार्थ : यदि यह शरीर मेरा और मेरे समान होता तो तुझे इसकी प्रशंसा-निन्दा करनी पड़ती, सो तो है नहीं; क्योंकि यह महा अपवित्र है, जड़ है और मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ; इसलिए कभी भी इसकी मेरे साथ तुलना नहीं हो सकती; इसलिए तुझे इसकी प्रशंसा और निन्दा से कोई लाभ नहीं।।१८८।।

अब, अज्ञानी और ज्ञानी द्वारा कार्य करने का प्रयोजन बताते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित: **कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं,**
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनम्।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च,
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परम्।।९-१८९।।

मोही करें यश अन्य रंजन, विषय इन्द्रिय प्राप्ति को।
जीवन परिग्रह सुतादि, भय ज्ञान दर्शन अर्थ को।।
बहु कीर्ति आदि कारणों को मिलाने रोगादि को।
नित नष्ट करने आदि बहुविध प्रयोजन से कर्म को।।
करते परन्तु सुधी सब परमार्थ हेतु सत् करम।
चिद्रूप निज की प्राप्ति हेतु, बस यही नहिं अन्य करम।।१८९।।

अन्वयार्थ : केचित्=कुछ; **विमोहिनः**=अज्ञानी; **कीर्तिं**=यश; **वा**=अथवा; **पर-रंजनं**=अन्य को प्रसन्न करने; **ख-विषयं**=इन्द्रियों के विषय पाने; **निजं**=अपने; **जीवितं**=जीवन; **संतानं**=संतान; **च**=और; **परिग्रहं**=परिग्रह; **भयं**=भय; **अपि**=भी/

और; **ज्ञानं**=ज्ञान; **तथा**=और; **दर्शनं**=दर्शन; **अन्यस्य**=और दूसरी; **अखिल-वस्तुनः**= सम्पूर्ण वस्तुओं की प्राप्ति; **च**=और; **रुज्+अयुतिं**=रोग के अभाव; **तत्**=उस; **हेतुं**=कारण को; **उद्दिश्य**=लेकर; **कर्म**=कार्य; **कुर्युः**=करते हैं; **परं**=परन्तु; **हि**=वास्तव में; **सुधियः**= ज्ञानीजन; **चिद्रूप-लब्ध्यै**=चिद्रूप की प्राप्ति के लिए (कार्य करते हैं)।।१८९।।

अर्थ : संसार में बहुत से मोही पुरुष कीर्ति के लिए काम करते हैं; अनेक दूसरों को प्रसन्न करने के लिए, इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिए, अपने जीवन की रक्षा के लिए; सन्तान, परिग्रह, भय, ज्ञान, दर्शन तथा अन्य पदार्थों की प्राप्ति और रोग के अभाव के लिए काम करते हैं और बहुत से कीर्ति आदि के कारणों को मिलाने के लिए उपाय सोचते हैं; परन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, अपने आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं; वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए ही कार्य करते हैं।

भावार्थ : संसार में जीव भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के हैं। कोई मनुष्य संसार में कीर्ति-लाभ करना ही अच्छा समझते हैं, बहुत से पर को प्रसन्न करने से ही अपने को सुखी मानते हैं, अनेक इन्द्रियों के विषयों में प्रसन्न रहते हैं; कोई-कोई अपने जीवन की रक्षा, सन्तान की उत्पत्ति और परिग्रह को एकत्र करना ही अच्छा समझते हैं; बहुत से ज्ञान-दर्शन आदि अन्य पदार्थों की प्राप्ति और रोग को दूर करने की ही चिन्ता करते रहते हैं तथा इनकी प्राप्ति के उपाय और उनके अनुकूल कार्य ही किया करते हैं; परन्तु ऐसे मनुष्य संसार में उत्तम नहीं गिने जाते; मोह के जाल में जकड़े हुए कहे जाते हैं; किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं और उसकी प्राप्ति के उपायों को सोचते हैं, वे प्रशंस्य गिने जाते हैं।।१८९।।

अब, ज्ञानी और अज्ञानी की विचार-धारा को बताते हैं—

उपजातिः **कल्पेश-नागेश-नरेश-संभवं, चित्ते सुखं मे सततं तृणायते।**
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात्, सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखम्।।१०-१९०।।

सुर नाग नरपति सुख सदा, तृण जीर्णवत् लगते मुझे।
कुस्त्री रमा घर तन सुतादि से प्रगट अज्ञ सुख कहें।।१९०।।

अन्वयार्थ : मे=मेरे; **चित्ते**=मन/उपयोग में; **कल्पेश-नागेश-नरेश-संभवं**=देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र के उत्पन्न; **सुखं**=सुख; **सततं**=निरंतर; **तृणायते**=तृण के समान प्रतीत होते

हैं; **अल्पधी:**=अज्ञानी; **कुस्त्री-रमा-स्थानक-देह-देहजात्**=बुरी पत्नी, लक्ष्मी, घर, शरीर, संतान से; **सद्**=होनेवाले को; **सुखं**=सुख; **मनुते**=मानता है; **इति**=इस प्रकार/यह; **चित्रं**=आश्चर्य है।।१९०।।

अर्थ : मैंने शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जान लिया है; इसलिए मेरे चित्त में देवेन्द्र, नागेन्द्र और नरेन्द्रों के सुख जीर्ण-तृण-सरीखे जान पड़ते हैं; परन्तु जो मनुष्य अल्प-ज्ञानी हैं, अपने और पर के स्वरूप का भले प्रकार ज्ञान नहीं रखते; वे निन्दित स्त्रियाँ, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्र से उत्पन्न हुए सुख को, जो कि दु:ख-स्वरूप हैं, सुख मानते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है।।१९०।।

अब, बद्ध-अबद्ध की अपेक्षा समझाते हैं—

अनुष्टुप् : **न बद्धः परमार्थेन, बद्धो मोहवशाद् गृही।**
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत्।।११-१९१।।

ज्यों जाल भयप्रद शुक बँधा, मुट्ठी से मर्कट त्यों बँधा।
निज मोह वश घर धनी, किन्तु वास्तव में नहिं बँधा।।१९१।।

अन्वयार्थ : भीम-पाशेन=भय उत्पन्न करनेवाले पाश के साथ; **शुकवत्**=तोते के समान; **अथवा**=या; **मर्कट-मुष्टिवत्**=मुट्ठी बाँधे बन्दर के समान; **गृही**=गृहस्थ जीव; **परमार्थेन**=वास्तव में; **बद्धः**=बँधा; **न**=नहीं है; **मोह-वशात्**=मोह के वश से; **बद्धः**=बँधा है।।१८१।।

अर्थ : शुक को भय करानेवाले पाश के समान अथवा बन्दर की मुट्ठी के समान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टि से कर्मों से सम्बद्ध नहीं है; तथापि मोह से बँधा हुआ ही है।

भावार्थ : जिस प्रकार नलिनी पर लटकता हुआ शुक यद्यपि पाश से बँधा हुआ नहीं रहता; तथापि वह अपने को पाश से बँधा हुआ मानता है और अपनी सुध-बुध को भूलकर उसको छोड़ना नहीं चाहता, लटकता ही रहता है तथा बन्दर जब चनों के लिए घड़े में हाथ डालता है और चनों की मुट्ठी बँध जाने से जब घड़े से हाथ नहीं निकलता तो समझता है कि मुझे घड़े ने पकड़ लिया है।

उसी प्रकार यदि परमार्थ से देखा जाय तो यह जीव किसी प्रकार के कर्मों से बँधा हुआ नहीं है; तथापि व्यवहार से यह मोह के गाढ़ बन्धन में जकड़ा हुआ ही है।।१९१।।

अब, प्रयत्न पूर्वक अन्य कार्यों से उपयोग को हटाने-हेतु प्रेरित करते हैं —

स्रग्धरा : **श्रद्धानां पुस्तकानां, जिन-भवन-मठांते-निवासादिकानां,**
कीर्तेरक्षार्थकानां, भुवि झटिति जनो, रक्षणे व्यग्रचित्तः।
यस्तस्य क्वात्मचिंता, क्व च विशदमतिः, शुद्धचिद्रूपकाप्तिः,
क्व स्यात्सौख्यं निजोत्थं, क्व च मनसि विचिंत्येति कुर्वंतु यत्नम्।।१२-१९२।।

श्रद्धान पुस्तक जिनभवन, मठ शिष्य यश इत्यादि के।
रक्षार्थ व्यग्रमनी सतत, नर आत्म चिन्तन कब करे।।
नहिं मती निर्मल शुद्ध चिद्रूप, प्राप्ति कब आत्मोत्थ सुख।
कैसे मिले? मन सोच! आतम लब्धि-हेतु यत्न कर।।१९२।।

अन्वयार्थ : **भुवि**=पृथ्वी पर; **यः**=जो; **जनः**=व्यक्ति; **झटिति**=शीघ्रता पूर्वक; **श्रद्धानां**=श्रद्धानों के; **पुस्तकानां**=पुस्तकों के; **जिन-भवन-मठ+अन्तेनिवास+आदिकानां**=जिन-मन्दिर, मठ, छात्र/शिष्य आदि के; **कीर्तेः**=कीर्ति/यश के; **अक्ष+अर्थकानां**=इन्द्रियों के विषयों के; **रक्षणे**=रक्षण में; **व्यग्र-चित्तः**=चंचल मन/अस्थिर उपयोगवाला है; **तस्य**=उसके; **आत्म-चिंता**=आत्मा का चिन्तन; **क्व**=कहाँ/कैसे हो?; **च**=और; **विशद-मतिः**=निर्मल बुद्धि; **क्व**=कहाँ/कैसे हो?; **शुद्ध-चिद्रूपक+आप्तिः**=शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति; **क्व**=कहाँ/कैसे हो?; **च**=और; **निज+उत्थं**=स्वयं से उत्पन्न; **सौख्यं**=अतीन्द्रिय सुख; **क्व**=कहाँ/कैसे हो?; **इति**=इस प्रकार; **मनसि**=मन में; **विचिन्त्य**=विचार कर; (इनसे निवृत्त हो, आत्म-चिन्तन-हेतु) **यत्नं**=प्रयत्न; **कुर्वन्तु**=करें।।१९२।।

अर्थ : यह संसारी जीव, नाना प्रकार के धर्म-कार्य, पुस्तकें, जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर, मठ, छात्र और कीर्ति की रक्षा करने के लिए सदा व्यग्र-चित्त रहता है; उन कार्यों से रंच-मात्र भी इसे अवकाश नहीं मिलता; इसलिए न यह किसी प्रकार का आत्म-ध्यान कर सकता, न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती और न शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति और निराकुलतारूप सुख ही मिल सकता; अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे इन सब बातों पर भले प्रकार विचार कर आत्मा के चिन्तवन आदि कार्यों में अच्छी तरह यत्न करें।

भावार्थ : आत्मा की ओर ध्यान लगाने से विशद-मति/भेद-विज्ञान की प्राप्ति होती है। भेद-विज्ञान से शुद्ध-चिद्रूप का लाभ और उससे फिर निराकुलतारूप सुख की

प्राप्ति होती है; परन्तु जब तक धर्म-कार्य, पुस्तकें और उनकी कीर्ति आदि की रक्षा में व्यग्रता रहेगी, तब तक उपर्युक्त एक भी बात की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए जिन महाशयों को शुद्ध-चिद्रूप आदि पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा है, उन्हें चाहिए कि वे शान्त-चित्त हो परमार्थ प्रयत्न करें।।१९२।।

अब, आत्माराधक पुरुष के लिए मन में धारण करने को सहेतुक स्पष्ट करते हैं —

शिखरिणी : **अहं भ्रांतः पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशतः,**
परद्रव्ये चिंता-सतत-करणादाभवमहो।
परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानन्दनिलये,
निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे।।१३-१९३।।

हो मोह-वश पर-द्रव्य चिन्ता से अभी तक जगत में।
भटका सतत अब अन्य भटकें, मोह-वश ही अज्ञ ये।।
पर-द्रव्य तज विहरें चिदानन्द मयी अपने द्रव्य में।
उन आत्म-ध्यानी विज्ञ को, अब चित्त में धारण करें।।१९३।।

अन्वयार्थ : मोह-वशतः=मोह के अधीन हो; **पर-द्रव्ये**=अन्य पदार्थ के संबंध में; **सतत-चिंता-करणात्**=सदा चिंता करने से; **पूर्वं**=पहले/भूत काल में; **अहं**=मैं; **अभवं**=घूमा हूँ; **च**=और; **तत्+अनु**=उसके बाद; **जगत्**=लोक में रहनेवाले अन्य जीव; **भ्रांतः**=घूम रहे हैं; **अहो**=आश्चर्य है; **यः**=जो; **वै**=वास्तव में; **पर-द्रव्यं**=अन्य द्रव्य को; **मुक्त्वा**=छोड़कर; **चित्-आनन्द-निलये**=ज्ञान-आनन्द के घर/चिदानन्द-स्वभावी; **निज-द्रव्ये**=अपने द्रव्य में; **विहरति**=विहार करता है/स्थिर रहता है; **इह**=यहाँ; **तं**=उस; **पुरुषं**=व्यक्ति को; **चेतसि**=मन/उपयोग में; **दधे**=धारण करता हूँ।।१९३।।

अर्थ : मोह के फंद में पड़कर पर-द्रव्यों की चिन्ता और उन्हें अपनाने से प्रथम तो मैंने संसार में परिभ्रमण किया और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जन-समूह घूमा; इसलिए जो महा-पुरुष पर-द्रव्यों से ममता छोड़कर चिदानन्द-स्वरूप निज द्रव्य में विहार करनेवाला है; निज द्रव्य का ही मनन, स्मरण, ध्यान करनेवाला है; उस महात्मा को मैं अपने चित्त में धारण करता हूँ।

भावार्थ : इस संसार में सबसे बलवान मोहनीय कर्म है। उसके फंदे में पड़कर जीव नाना प्रकार के क्लेश भोगते रहते हैं। इसी मोह के फंदे में फँसकर पर-द्रव्यों की चिन्ता में

व्यग्र हो मैंने बहुत काल तक इस संसार में भ्रमण किया और मेरे पीछे और भी बहुत से जीव घूमते रहे; परन्तु इस संसार में ऐसे भी बहुत से मनुष्य हैं, जिन्होंने मोह को सर्वथा निर्मूल कर दिया है और समस्त पर-द्रव्यों से सर्वथा ममत्व छोड़कर आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में चित्त स्थिर किया है; इसलिए अब, मैं ऐसे ही महा-पुरुषों की शरण लेना चाहता हूँ। इन्हीं की शरण में जाने से मेरा कल्याण होगा।।१९३।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण नहीं करनेवाले को हतोत्साहित करते हैं —

अनुष्टुप् : **हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति।**
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः।।१४-१९४।।

जो शुद्ध चिद्रूप स्मरण तज, अन्य कार्य करें सतत।
वे अज्ञ चिन्तामणि तज, पाषाण लेते यों समझ।।१९४।।

अन्वयार्थ : यः=जो; **शुद्ध-चिद्रूप-स्मरणं**=शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण को; **हित्वा**=छोड़कर; **अन्यत्-कार्यं**=किसी दूसरे कार्य को; **चिकीर्षति**=करता है; **हि**=वास्तव में; **असौ**=वह; **कुधीः**=अज्ञानी; **चिंतारत्नं**=चिंतामणि को (छोड़कर); **अश्म-ग्रहं**=पाषाण को ग्रहण करता है।।१९४।।

अर्थ : जो दुर्बुद्धि जीव शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते हैं, वे चिन्तामणि रत्न का त्यागकर पाषाण ग्रहण करते हैं - ऐसा समझना चाहिए।।१९४।।

अब, आत्म-चिन्तन और मोह का फल बताते हैं —

अनुष्टुप् : **स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं, परं स्यादात्मचिंतनात्।**
तन्मुक्त्वा प्राप्तुमिच्छंति, मोहतस्तद्विलक्षणम्।।१५-१९५।।

निज आत्म चिन्तन से परम सुख ज्ञान आत्माधीन हो।
यह मोह से तज करे उल्टे यत्न सुख हेतु अहो।।१९५।।

अन्वयार्थ : आत्म-चिन्तनात्=आत्मा का चिन्तन करने से; **स्व+आधीनं**=स्वतन्त्र; **च**=और; **परं**=उत्कृष्ट; **सुखं**=सुख; **ज्ञानं**=ज्ञान; **स्यात्**=होता है; **मोहतः**=मोह के कारण; **तत्-मुक्त्वा**=उसे छोड़कर; **तत्-विलक्षणं**=उससे विरुद्ध लक्षणवाले/कष्ट को; **प्राप्तुं**=प्राप्त करने की; **इच्छन्ति**=इच्छा करते हैं।।१९५।।

अर्थ : इस आत्मा के चिन्तवन से, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से निराकुलतारूप सुख

और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है; परन्तु मूढ़ जीव मोह के वश होकर आत्मा का चिन्तवन करना छोड़ देते हैं और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनन्त क्लेश देनेवाला है' करते हैं।।१९५।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलता की अयोग्यता को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **यावन्मोहो बली पुंसि, दीर्घसंसारतापि च।**
न तावत् शुद्धचिद्रूपे, रुचिरत्यंतनिश्चला।।१६-१९६।।

जब तक बली है मोह, भव की दीर्घता इस जीव में।
तब तक रुचि अत्यन्त निश्चल, नहीं शुद्ध चिद्रूप में।।१९६।।

अन्वयार्थ : पुंसि=आत्मा में; **यावत्**=जब तक; **मोहः**=मोह; **बली**=बलवान (है); **च**=और; **दीर्घ-संसारता+अपि**=दीर्घ संसारपना भी है; **तावत्**=तब तक; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **अत्यन्त-निश्चला**=अत्यधिक स्थिर; **रुचिः**=प्रीति; **न**=नहीं होती है।।१९६।।

अर्थ : जब तक आत्मा में महा बलवान मोह है और दीर्घ-संसारता/चिर-काल तक संसार में भ्रमण करना बाकी है, तब तक इसका कभी भी शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से प्रेम नहीं हो सकता।।१९६।।

अब, आत्म-ध्यान के उपदेश की निष्फलता को सोदाहरण समझाते हैं—

स्रग्धरा : **अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे, गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने,**
गीतं बाधिर्य-युक्ते, वपनमिह यथाऽप्यूषरे वार्यतृष्णे।
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघः, कुंकुमं नीलवस्त्रे,
नात्मप्रीतौ तदाख्या, भवति किल वृथा, निःप्रतीतौ सुमंत्रः।।१७-१९७।।

ज्यों अन्ध हेतु नृत्य, तप अज्ञानि आयु अन्त में।
औषधि गाना बधिर हेतु, बीज ऊसर भूमि में।।
ज्यों प्यास बिन जल, चित्र चिकने पर अभव्य धरम रुचि।
निर्दोष विधि पट कृष्ण वर्णी पर केशरिया वर्ण भी।।
नित अश्रद्धालु को सुमन्त्र आदि ये सब व्यर्थ हैं।
त्यों आत्म-प्रीति विना आतम कथा आदि व्यर्थ हैं।।१९७।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **अन्धे**=अन्ध में/अन्धे के लिए; **नृत्यं**=नाच; **अज्ञे**=अज्ञानता में; **तपः**=तप; **वा**=अथवा; **स्व+आयुषः**=अपनी आयु की; **अवसाने**=समाप्ति पर; **गद-विधिः**=औषधि का प्रयोग; **अतुला**=व्यर्थ (है); **बाधिर्य-युक्ते**=बहरेपन से सहित में/बहरे के लिए; **गीतं**=संगीत; **अपि**=भी/इसी प्रकार; **इह**=यहाँ; **ऊषरे**=बंजर भूमि में; **वपनं**=बीज बोना; **अतृष्णे**=प्यास नहीं होने पर; **वारि**=जल; **स्निग्धे**=चिकने पर; **चित्राणि**=चित्र; **अभव्ये**=अभव्य में; **अनघः**=निर्दोष; **विधिः-रुचि**=विधि/धार्मिक क्रियाओं की रुचि; **नील-वस्त्रे**=नीले वस्त्र पर; **कुंकुमं**=कुंकुम/केशर; **निःप्रतीतौ**=प्रतीति-रहित/अश्रद्धालु में; **सुमंत्र**=यथार्थ मन्त्र; **वृथा**=व्यर्थ है; **किल**=वास्तव में; (उसी प्रकार) **न+आत्म-प्रीतौ**=आत्म-रुचि नहीं होने पर; **तत्+आख्या**=उसके ध्यान का कथन; **वृथा**=व्यर्थ; **भवति**=होता है।।१९७।।

अर्थ : जिस प्रकार अन्धे के लिये नाच, अज्ञानी के लिये तप, आयु के अन्त में औषधि का प्रयोग, बहरे के लिये गीतों का गाना, ऊसर भूमि में अन्न का बोना, बिना प्यासे मनुष्य के लिये जल देना, चिकनी वस्तु पर चित्र का खींचना, अभव्य को धर्म की रुचि कहना, काले कपड़े पर केशरिया रंग और प्रतीति-रहित पुरुष के लिये मन्त्र का प्रयोग करना, कार्य-कारी नहीं; उसी प्रकार जिसको आत्मा में प्रेम नहीं, उस मनुष्य को आत्मा का ध्यान करने का उपदेश भी कार्य-कारी नहीं; सब व्यर्थ है।

भावार्थ : जिस प्रकार अन्धा नाच नहीं देख सकता, अज्ञानी तप नहीं कर सकता, आयु का अन्त हो जाने पर दवा काम नहीं दे सकती, बहरा गीत नहीं सुन सकता, ऊसर भूमि में अन्न नहीं उग सकता, बिना प्यासे मनुष्य के लिये जल फल नहीं दे सकता, चिकने पदार्थ पर तस्वीर नहीं खिंच सकती, अभव्य को धर्म-रुचि नहीं हो सकती, काले कपड़े पर केशरिया रंग नहीं चढ़ सकता और अविश्वासी मनुष्य के लिये मन्त्र काम नहीं दे सकता; उसी प्रकार आत्मा में प्रेम न करनेवाला मनुष्य भी आत्म-ध्यान के उपदेश से कुछ लाभ नहीं उठा सकता; इसलिए जीवों को चाहिए कि वे अवश्य आत्मा में प्रेम करें।।१९७।।

अब, मूढ़ जीवों की प्रवृत्ति बताते हैं—

अनुष्टुप् : **स्मरंति परद्रव्याणि, मोहान्मूढाः प्रतिक्षणम्।**
शिवाय स्वं चिदानन्दमयं नैव कदाचन।।१८-१९८।।

यह मोह से प्रतिक्षण करे पर द्रव्य स्मृति अज्ञ पर।
शिव हेतु निज चिन्मय चिदानन्दी करे नहिं ध्यान यह।।१९८।।

अन्वयार्थ : मोहात्=मोह के कारण; **मूढाः**=अज्ञानी; **प्रतिक्षणं**=प्रति-समय; **पर-द्रव्याणि**=पर-द्रव्यों का; **स्मरंति**=स्मरण करते हैं; (परंतु) **शिवाय**=मोक्ष के लिए; **कदाचन**=कभी भी; **चित्+आनन्द-मयं**=चिदानन्दमय; **स्वं**=अपना; (स्मरण) **न+एव**= नहीं ही (करते हैं)।।१९८।।

अर्थ : मूढ़ मनुष्य मोह के वश हो प्रति समय पर-द्रव्य का स्मरण करते हैं; परन्तु मोक्ष के लिये निज शुद्ध-चिदानन्द का कभी भी ध्यान नहीं करते।।१९८।।

अब, जीव के वास्तविक शत्रु का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **मोह एव परं वैरी, नान्यः कोऽपि विचारणात्।**
ततः स एव जेतव्यो, बलवान् धीमताऽऽदरात्।।१९-१९९।।

नित सोच तो हो ज्ञात बैरी मोह ही नहिं अन्य है।
यों सुधी को सब यत्न से, यह बली जय के योग्य है।।१९९।।

अन्वयार्थ : विचारणात्=विचार करने से(यह ज्ञात होता है कि) **पर-बलवान-वैरी**=सबसे बड़ा बलवान शत्रु; **मोहः एव**=मोह ही (है); **अन्यः**=दूसरा; **कः+अपि**=कोई भी; **न**=नहीं; **ततः**=इसलिए; **धीमता**=बुद्धिमान द्वारा; **आदरात्**=उत्साह पूर्वक; **स-एव**=वह ही; **जेतव्यो**=जीतने-योग्य है।।१९९।।

अर्थ : विचार करने से मालूम हुआ है कि यह मोह ही जीवों का अहित करनेवाला महा बलवान बैरी है। इसी के अधीन हो जीव नाना प्रकार के क्लेश भोगते रहते हैं; इसलिए जो मनुष्य विद्वान हैं, आत्मा के स्वरूप के जानकार हैं; उन्हें चाहिए कि वे सबसे पहले इस मोह को जीतें, अपने वश में करें।।१९९।।

अब, भव-कूप से निकलने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **भवकूपे महामोहपंकेऽनादिगतं जगत्।**
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्ज्वा सर्वं समुद्धरे।।२०-२००।।

यह जग अनादि से, महा मोह पंकमय भवकूप में।
डूबा अत: बाहर निकालूँ शुद्ध चित् ध्यान रज्जु से।।२००।।

अन्वयार्थ : अनादि-गतं=अनादि काल से ही; **जगत्**=जगत में रहनेवाला प्राणी; **भव-कूपे**=संसाररूपी विशाल कूप के अन्दर; **महा-मोह-पंके**=तीव्र मोहरूपी कीचड़ में (फँसा हुआ है); **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यान-रज्वा**=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यानरूपी रस्सी के द्वारा (मैं); **सर्वं**=सभी को; **सम्+उद्धरे**=भली-भाँति निकाल लूँगा।।२००।।

अर्थ : यह समस्त जगत अनादि काल से संसाररूपी विशाल कूप के अन्दर महा-मोहरूपी कीचड़ में फँसा हुआ है; इसलिए अब मैं शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानरूपी मजबूत रस्सी के द्वारा इसका उद्धार करूँगा।

भावार्थ : जिस प्रकार कुएँ में कीचड़ के अन्दर फँसा हुआ पदार्थ रस्सी के सहारे ऊपर खींच लिया जाता है; उसी प्रकार यह समस्त जगत इस संसार में महा-मोह से मूढ़ हो रहा है और इसे अपने हित-अहित का जरा भी ध्यान नहीं है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की सहायता से मैं इसका उद्धार करना चाहता हूँ।।२००।।

अब, जीव का शत्रु मोह ही है, इसे सहेतुक सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजम्।**
तस्माद् बन्धस्ततो दु:खं, मोह एव ततो रिपु:।।२१-२०१।।

सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, अतिरिक्त मोहज कार्य हैं।
उनसे बँधें बहु दु:ख भोगें, यों महा रिपु मोह है।।२०१।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यानात्=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान से; **अन्यत्कार्यं**=भिन्न कार्य; **हि**=वास्तव में; **मोहजं**=मोह से उत्पन्न (हैं); **तस्मात्**=उससे; **बंध:**=बंध (होता है); **तत:**=उससे; **दु:खं**=दु:ख (होता है); **तत:**=इसलिए; **मोह-एव**=मोह ही; **रिपु:**=शत्रु (है)।

अर्थ : संसार में सिवाय शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान के, जितने कार्य हैं सब मोहज/मोह के द्वारा उत्पन्न हैं। सबकी उत्पत्ति में प्रधान कारण, मोह है तथा मोह से कर्मों का बन्ध

और उससे अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं; इसलिए जीवों का सबसे अधिक बैरी मोह ही है।।२०१।।

अब, आत्म-ध्यान करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : मोहं तज्जातकार्याणि, संगं हित्वा च निर्मलम्।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कुरु त्यक्त्वान्यसंगतिम्।।२२-२०२।।

सब अन्य संगति मोह मोहज कार्य तज शुद्ध मल रहित।
चिद्रूप का सद्ध्यान कर, यदि चाह शिव-सुख तन-रहित।।२०२।।

अन्वयार्थ : मोहं=मोह को; **तत्-जात-कार्याणि**=उससे उत्पन्न कार्यों को; **हित्वा**=छोड़कर; **च**=और; **अन्य-संगतिं**=दूसरों की संगति को; **त्यक्त्वा**=छोड़कर; **निर्मलं**=पवित्र; **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यानं**=शुद्ध-चिद्रूप का यथार्थ ध्यान; **कुरु**=करो।

अर्थ : अत: जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुए समस्त कार्यों का सर्वथा त्याग कर दें, उसकी ओर झाँककर भी न देखें और समस्त पर-द्रव्यों से ममता छोड़ केवल शुद्ध-चिद्रूप का ही मनन, ध्यान और स्मरण करें।।२०२।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने के लिए मोह के त्याग'' का वर्णन करनेवाला, १८१ से २०२ पर्यंत २२ पद्योंवाला नववाँ अध्याय समाप्त हुआ।।९।।

दसवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानार्थ अहंकार-ममकारता के त्याग का उपदेश

अब, आत्मा को नहीं देख पाने का कारण बताते हैं —

अनुष्टुप् : **निरंतरमहंकारं, मूढाः कुर्वंति तेन ते।**
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं, विलोकंते न निर्मलम्।।१-२०३।।

नित अहंकाराधीन रहते, अज्ञ इससे कभी वे।
आत्मीय शुद्ध चिद्रूप निर्मल, सत्त्व को नहिं देखते।।२०३।।

अन्वयार्थ : मूढा=अज्ञानी; **निरंतरं**=सदा; **अहंकारं**=अन्य में एकत्व; **कुर्वन्ति**=करते हैं; **तेन**=उस कारण; **ते**=वे; **स्वकीयं**=अपने; **निर्मलं**=पवित्र; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **न**=नहीं; **विलोकन्ते**=देख पाते हैं।।२०३।।

अर्थ : मूढ़ पुरुष निरन्तर अहंकार के वश रहते हैं - अपने से बड़कर किसी को भी नहीं समझते; इसलिए अतिशय निर्मल अपने शुद्ध-चिद्रूप की ओर वे जरा भी नहीं देख पाते।

भावार्थ : अहंकार, शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का बाधक है। अहंकारी मनुष्य, रूप आदि के मद में उन्मत्त रहते हैं; शुद्ध-चिद्रूप की ओर झाँककर भी नहीं देख पाते; इसलिए जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे अहंकार का सर्वथा परित्याग कर दें।।२०३।।

अब, अहंकार को दो पद्यों द्वारा परिभाषित करते हैं —

अनुष्टुप् : **देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः।**
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा।।२-२०४।।

अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहम्।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते।।३-२०५।।युग्मं।।

मैं देह कर्म स्वरूप हूँ, नर थूल कृश द्विज अद्विज हूँ।
मैं गौर वर्णी श्याम वर्णी, अन्य भी बहु रूप हूँ।।२०४।।

विद्वान मूरख धनी निर्धन आदि बहुविध रूप मैं।
इत्यादि चिन्तन जीव का, अहंकार कहते हैं इसे।।२०५।।

अन्वयार्थ : **अहं**=मैं; **देहः**=शरीर; **अहं**=मैं; **कर्मरूपः**=कर्मरूप; **अहं**=मैं; **मनुष्यः**=मनुष्य; (मैं) **कृशः**=दुबला; (मैं) **अकृशः**=मोटा; **अहं**=मैं; **गौरः**=गोरा; **अहं**=मैं; **श्याम-वर्णः**=साँवला; **अहं**=मैं; **अद्विजः**=अब्राम्हण/क्षत्रिय आदि; **अथवा**=या; **द्विजः**=ब्राम्हण; **अहं**=मैं; **अविद्वान्**=मूर्ख; **अपि**=भी; **विद्वान्**=ज्ञानवान; **निर्धनः**=गरीब; **अहं**=मैं; **धनवान्**=धनी; **पुंसां**=प्राणिओं का; **इत्यादि**=इस प्रकार का अनेक-रूपवाला; **चिन्तनं**=चिन्तन; **अहंकारः**=अन्य में एकत्व; **निरुच्यते**=कहलाता है।।२०४-२०५।।

अर्थ : मैं देह-स्वरूप हूँ, कर्म-स्वरूप हूँ, मनुष्य हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ; ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय, वैश्य आदि हूँ; ब्राह्मण हूँ, मूर्ख हूँ, विद्वान हूँ, निर्धन हूँ, धनवान हूँ इत्यादिरूप से मन में विचार करना, अहंकार है। मूढ़ मनुष्य इसी अहंकार में चूर रहते हैं।।२०४-२०५।।

आत्मा की प्राप्ति निरहंकारी को होती है, अब, ऐसा निरूपण करते हैं —

अनुष्टुप् : **ये नरा निरहंकारं, वितन्वंति प्रतिक्षणम्।**
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवंति न संशयः।।४-२०६।।

जो जीव निरहंकारमय, परिणाम प्रतिक्षण बड़ाते।
संशय नहीं अद्वैत चिद्रूप, प्राप्त करते नियम से।।२०६।।

अन्वयार्थ : **ये**=जो; **नरा**=प्राणी; **प्रतिक्षणं**=प्रति-समय; **निरहंकारं**=अन्य में एकत्व बुद्धि के अभाव का; **वितन्वन्ति**=विस्तार करते हैं; **ते**=वे; **अद्वैतं**=अखण्ड; **स्व-चिद्रूपं**=अपने चिद्रूप को; **न**=नहीं; **प्राप्नुवन्ति**=प्राप्त करते हैं; (इसमें) **संशयः**=सन्देह; **न**=नहीं है।।२०६।।

अर्थ : जो मनुष्य प्रति-समय निरहंकारता की बुद्धि करते रहते हैं, अहंकार नहीं करते; उन्हें निस्सन्देह अद्वैत-स्वरूप स्व-चिद्रूप की प्राप्ति होती है।।२०६।।

अब, दो पद्यों द्वारा स्वरूप-उपलब्धि का उत्कृष्ट कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **न देहोऽहं न कर्माणि, न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः।**
नैव स्थूलो कृशो नाहं, किंतु चिद्रूपलक्षणः।।५-२०७।।
चिंतनं निरहंकारो, भेदविज्ञानिनामिति।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं परम्।।६-२०८।।युग्मं।।

मैं तन नहीं नहिं कर्म नर, द्विज अद्विज थूल कृशी नहीं।
चिद्रूप लक्षणमय सदा मैं शुद्ध आतम एक ही।।२०७।।
नित भेद-विज्ञानी का चिन्तन, यही निरहंकार है।
बस यही शुद्ध चिद्रूप लब्धि का परम सत् हेतु है।।२०८।।

अन्वयार्थ : अहं=मैं; **देहः**=शरीर; **न**=नहीं; **कर्माणि**=कर्म; **न**=नहीं; **मनुष्यः**=मनुष्य; **न**=नहीं; **द्विजः-अद्विजः**=ब्राम्हण, अब्राम्हण; **न+एव**=नहीं ही हूँ; **अहं**=मैं; **स्थूलः**=मोटा; **कृशः**=दुबला; **न**=नहीं हूँ; **किंतु**=वरन्; **चिद्रूप-लक्षणः**=चिद्रूप लक्षणवाला हूँ; **भेद-विज्ञानिनां**=भेद-विज्ञानिओं का; **इति**=ऐसा; **चिंतनं**=चिन्तन; **निरहंकारः**=पर में एकत्व से रहित भाव है; **स-एव**=वह ही; **शुद्ध-चिद्रूप-लब्धये**=शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का; **परं**=सर्वोत्कृष्ट; **कारणं**=साधन है।।२०७-२०८।।

अर्थ : जो मनुष्य भेद-विज्ञानी हैं, जड़ और चेतन का वास्तविक भेद जानते हैं; उनका 'न मैं देह-स्वरूप हूँ, न कर्म-स्वरूप हूँ, न मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय आदि हूँ, न स्थूल हूँ और न कृश हूँ; किन्तु शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - इस प्रकार का चिन्तवन करना, निरहंकार, 'अहंकार का अभाव' है और यह निरहंकार शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है।।२०७-२०८।।

अब, स्वरूप-प्राप्ति की अपात्रता का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **ममत्वं ये प्रकुर्वंति, पर-वस्तुषु मोहिनः।**
शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत्।।७-२०९।।

जो मोह-वश पर वस्तुओं में, ही ममत्व करें सदा।
वे शुद्ध चिद्रूप प्राप्त करने, में समर्थ नहीं सदा।।२०९।।

अन्वयार्थ : **ये**=जो; **मोहिनः**=मोही; **पर-वस्तुषु**=अन्य पदार्थों में; **ममत्वं**=मेरापना; **प्रकुर्वन्ति**=करते हैं; **तेषां**=उन्हें; **स्वप्ने+अपि**=स्वप्न में भी; **शुद्ध-चिद्रूप-संप्राप्तिः**=शुद्ध-चिद्रूप की भली-भाँति प्राप्ति; **नो**=नहीं; **भवेत्**=होती है।।२०९।।

अर्थ : जो मूढ़ जीव पर-पदार्थों में ममता रखते हैं, उन्हें अपनाते हैं; उन्हें स्वप्न में भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ : संसार में सिवाय शुद्ध-चिद्रूप के अपना कोई पदार्थ नहीं। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सब पर-पदार्थ हैं; इसलिए जो जीव निज-शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं; उन्हें पर-पदार्थों में किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए।।२०९।।

अब, ममत्व को दो पद्यों द्वारा परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुभाशुभानि कर्माणि, मम देहोऽपि वा मम।**
पिता माता स्वसा भ्राता, मम जायात्मजात्मजः।।८-२१०।।

गोरश्वोऽजो गजो रा-विरापणं मंदिरं मम।
पूः राजा मम देशश्च, ममत्वमिति चिंतनम्।।९-२११।।युग्मं।।

हैं शुभ अशुभ मेरे करम, माता पिता तन भ्रात भी।
सुत सुता पत्नी बहिन आदि, सदा हैं मेरे सभी।।२१०।।

गज अज नगर धन गाय घोड़ा, देश पक्षी घर सभी।
बाजार राजा आदि मेरे, यों विचार ममत्व ही।।२११।।

अन्वयार्थ : **शुभ-अशुभानि**=शुभ और अशुभ; **कर्माणि**=कर्म; **मम**=मेरे (हैं); **वा**=अथवा; **देहः+अपि**=शरीर भी; **मम**=मेरा; **पिता**=जनक; **माता**=जननी; **स्वसा**=बहिन; **भ्राता**=भाई; **मम**=मेरे (हैं); **जाया+आत्मजा+आत्मजः**=पत्नी, पुत्री, पुत्र; **गोः**=गाय; **अश्वः**=घोड़ा; **अजः**=बकरा; **गजः**=हाथी; **रा**=धन; **विः**=पक्षी; **आपणं**=वाजार; **मंदिरं**=घर; **पूः**=नगर; **राजा**=भूपति; **च**=और; **देशः**=राष्ट्र; **मम**=मेरा (है); **इति**=ऐसा; **चिंतनं**=चिन्तन; **ममत्वं**=अन्य में मेरापना (है)।।२१०-२११।।

अर्थ : शुभ-अशुभ कर्म मेरे हैं; शरीर, पिता, माता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्र, गाय, अश्व, बकरी, हाथी, धन, पक्षी, बाजार, मन्दिर, पुर, राजा और देश मेरे हैं। इस प्रकार का चिन्तवन, ममत्व है अर्थात् इनको अपनाना, ममत्व कहलाता है।।२१०-२११।।

स्वरूप-प्राप्ति-हेतु निर्ममत्व भाव ही कर्तव्य है; अब, ऐसा निरूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणाम्।**
तस्मात्तदर्थिना चिंत्यं, तदेवैकं मुहुर्मुहुः।।१०-२१२।।

नित सुधी को चिद्रूप की, लब्धि हुई निर्ममत्व से।
अतएव बारम्बार, निर्ममता विचारो चाहते।।२१२।।

अन्वयार्थ : मनीषिणां=बुद्धिमानों को; **निर्ममत्वेन**=निर्ममत्व द्वारा; **चिद्रूप-प्राप्तिः**=चिद्रूप की प्राप्ति; **जाता**=हुई है; **तस्मात्**=इसलिए; **तत्+अर्थिना**=उसके इच्छुक को; **मुहुः-मुहुः**=बारम्बार; **तत्+एव+एकं**=उसी एक का; **चिन्त्यं**=चिंतन करना चाहिए।।२१२।।

अर्थ : जिन किन्हीं विद्वान मनुष्यों को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हुई है, उन्हें शरीर आदि पर-पदार्थों में ममता न रखने से ही हुई है; इसलिए जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे निर्ममत्व का ही बार-बार चिन्तवन करें, उसी की ओर अपनी दृष्टि लगायें।।२१२।।

अब, निर्ममत्व-चिंतन को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोऽपि नो मम।**
पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मजः।।११-२१३।।
गोरश्वो गजो रा-विरापणं मन्दिरं न मे।
पूः राजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चिंतनम्।।१२-२१४।।युग्मं।।

हैं नहीं मेरे शुभ अशुभ, ये कर्म तन माता पिता।
भाई बहिन पत्नि सुता, सुत नहीं मेरे सर्वथा।।२१३।।

गज गाय घोड़ा घर नगर, बाजार राजा देश भी।
धन खगादि मेरे नहीं, यों सोच निर्ममता यही।।२१४।।

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभानि=शुभ और अशुभ; **कर्माणि**=कर्म; **मे**=मेरे; **न**=नहीं हैं; **देहः+अपि**=शरीर भी; **मम**=मेरा; **न**=नहीं है; **पिता**=जनक; **माता**=जननी; **स्वसा**=बहिन; **भ्राता**=भाई; **मे**=मेरे; **न**=नहीं हैं; **जाया+आत्मजा+आत्मजः**=पत्नी, पुत्री, पुत्र; **गोः**=गाय; **अश्वः**=घोड़ा; **गजः**=हाथी; **रा**=धन; **विः**=पक्षी; **आपणं**=बाजार;

मंदिरं=मन्दिर; **मे**=मेरे; **न**=नहीं हैं; **पूः**=नगर; **राजा**=भूपति; **देशः**=राष्ट्र; **मे**=मेरे; **न**=नहीं हैं; **इति**=ऐसा; **चिंतनं**=चिन्तन; **निर्ममत्वं**=निर्ममत्व है।।२१३-२१४।।

अर्थ : शुभ-अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं; देह, पिता, माता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्र, गाय, अश्व, हाथी, धन, पक्षी, बाजार, मन्दिर, पुर, राजा और देश भी मेरे नहीं; इस प्रकार का जो मन में चिन्तवन करना है, वह निर्ममत्व है।।२१३-२१४।।

अब, अक्षरों की संख्या के द्वारा बंध और मोक्ष का मूल कारण बताते हैं—

अनुष्टुप् : **ममेति चिंतनाद् बन्धो, मोचनं न ममेत्यतः।**
बन्धनं द्व्यक्षराभ्यां च, मोचनं त्रिभिरक्षरैः।।१३-२१५।।

'ये मेरे' चिन्तन से बँधे, 'मेरे नहीं' से छूटते।
यों दो (मम) से बन्धन, तीन अक्षर (मम न) मोक्ष हेतु हैं कहें।।२१५।।

अन्वयार्थ : मम=मेरा; **इति**=ऐसे; **चिंतनात्**=चिन्तन से; **बंधः**=बंध; **मम**=मेरा; **न**=नहीं; **इति**=ऐसे (चिन्तन से); **मोचनं**=मोक्ष (है); **अतः**=इसलिए; **द्वि+अक्षराभ्यां**=दो अक्षरों (के वाच्य) से; **बंधनं**=बंधन; **च**=और; **त्रिभिः-अक्षरैः**=तीन अक्षरों (के वाच्य) से; **मोचनं**=मोक्ष (हो जाता है)।।२१५।।

अर्थ : 'स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' - इस प्रकार के चिन्तन से कर्मों का बन्ध होता है और 'ये मेरे नहीं' - ऐसे चिन्तन से कर्म नष्ट होते हैं; इसलिए 'मम' (मेरे) - ये दो अक्षर तो कर्म-बन्ध के कारण हैं और 'मम न' (मेरे नहीं) - इन तीन अक्षरों का चिन्तवन करने से कर्मों की मुक्ति होती है।।२१५।।

अब, निर्ममत्व-चिंतन-हेतु प्रेरित करते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्ममत्वं परं तत्त्वं, ध्यानं चापि व्रतं सुखम्।**
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१४-२१६।।

है निर्ममत्व श्रेष्ठ तत्त्व, ध्यान व्रत सुख शील भी।
इन्द्रिय निरोधादि यही, यों भाओ निर्ममता सभी।।२१६।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वं=अन्य में मेरापना नहीं - ऐसा भाव; **परं**=सर्वोत्तम; **तत्त्वं**=तत्त्व; **ध्यानं**=ध्यान; **च+अपि**=और भी; **व्रतं**=व्रत; **सुखं**=सुख; **शीलं**=शील; **ख-रोधनं**=

इन्द्रिय-विजय है; **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममता का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिन्तन करना चाहिए।।२१६।।

अर्थ : यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्त्व है; परम ध्यान, परम व्रत, परम सुख, परम शील है और इससे इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है; इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे इस शुद्ध-चिद्रूप का ही ध्यान करें।।२१६।।

अब, पुनः इसी प्रेरणा को पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **याता ये यांति यास्यंति, भदंता मोक्षमव्ययम्।**
निर्ममत्वेन ये तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१५-२१७।।

जो मुक्त अविनाशी हुए, हो रहे होंगे वे सभी।
इस निर्ममत्व उपाय से, यों भाओ निर्ममता सभी।।२१७।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **भदंता**=मुनि-गण; **अव्ययं**=अविनाशी; **मोक्षं**=मोक्ष को; **याता**=गए हैं; **यान्ति**=जा रहे हैं; **यास्यंति**=जाएंगे; **ते**=वे; **निर्ममत्वेन**=निर्ममत्व द्वारा; **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममत्व का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिन्तन करना चाहिए।।२१७।।

अर्थ : जो मुनि-गण मोक्ष गये, जा रहे हैं और जायेंगे; उनके मोक्ष की प्राप्ति में यह निर्ममत्व ही कारण है, इसी की कृपा से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई है; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को निर्ममत्व का ही ध्यान करना चाहिए।।२१७।।

अब, पुनः इसी को दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्ममत्वे तपोऽपि स्यादुत्तमं पंचमं व्रतम्।**
धर्मोऽपि परमस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१६-२१८।।

है श्रेष्ठ निर्ममता में तप, परिग्रह रहित व्रत श्रेष्ठ ही।
है धर्म सर्वोत्तम यही, यों भाओ निर्ममता सभी।।२१८।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वे=निर्ममत्व में; **तपः+अपि**=तप भी; **उत्तमं**=सर्वोत्कृष्ट; **स्यात्**=होता है; **पंचमं व्रतं**=पाँचवाँ व्रत/अपरिग्रह; **धर्मः+अपि**=धर्म भी; **परमः**=सर्व-श्रेष्ठ (होता है); **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममत्व का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिंतन करना चाहिए।।२१८।।

अर्थ : पर-पदार्थों की ममता न रखने से, भले प्रकार निर्ममत्व का पालन करने से, उत्तम तप और पाँचवें निष्परिग्रह नामक व्रत का पूर्णरूप से पालन होता है, सर्वोत्तम धर्म की भी प्राप्ति होती है; इसलिए यह निर्ममत्व ही ध्यान करने-योग्य है।।२१८।।

अब, पुनः इसे ही सहेतुक पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्ममत्वाय न क्लेशो, नान्ययांचा न चाटनम्।**
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१७-२१९।।

निर्ममत्व-हेतु क्लेश नहिं, नहिं याचना चाटन नहीं।
नहिं सोच नहिं धन व्यय कभी, यों भाओ निर्ममता सभी।।२१९।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वाय=निर्ममत्व के लिए; **क्लेशः**=कष्ट; **न**=नहीं; **अन्ययांचा**=अन्य से याचना; **न**=नहीं; **चाटनं**=सेवा/चाटुकारी/चापलूसी; **न**=नहीं; **चिंता**=सोच; **न**=नहीं; **व्ययः**=खर्च; **न**=नहीं (है); **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममत्व का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिन्तन करना चाहिए।।२१९।।

अर्थ : इस निर्ममत्व के लिये न किसी प्रकार का क्लेश भोगना पड़ता है, न किसी से कुछ माँगना और न चाटुकार (चापलूसी) करना पड़ता है। किसी प्रकार की चिन्ता और द्रव्य का व्यय भी नहीं करना पड़ता; इसलिए निर्ममत्व ही ध्यान करने के योग्य है।।२१९।।

अब, इसे ही अन्यरूप में दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **नास्रवो निर्ममत्वेन न बन्धोऽशुभकर्मणाम्।**
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१८-२२०।।

निर्ममत्व से आस्रव नहीं, अशुभों का बन्धन भी नहीं।
नहिं हों असंयम आदि कुछ, यों भाओ निर्ममता सभी।।२२०।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वेन=निर्ममत्व से; **आस्रवः**=कर्मों का आना; **न**=नहीं; **अशुभ-कर्मणां**=अशुभ कर्मों का; **बंधः**=बंध; **न**=नहीं; (इससे) **असंयमः**=असंयम; **न**=नहीं; **भवेत्**=होता है; **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममता का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिन्तन करना चाहिए।।२२०।।

अर्थ : इस निर्ममत्व से अशुभ कर्म का आस्रव और बन्ध नहीं होता, संयम में भी

किसी प्रकार की हानि नहीं आती, वह भी पूर्णरूप से पलता है; इसलिए यह निर्ममत्व ही चिन्तवन करने के योग्य पदार्थ है।।२२०।।

अब, फल बताकर इसे विशेष पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी, निर्ममत्वेन संयमी।**
तपस्वी च भवेत् तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।१९-२२१।।

सद्दृष्टि सद् ज्ञानी सभी, हों निर्ममत्व से संयमी।
होते तपस्वी भी यही, यों भाओ निर्ममता सभी।।२२१।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वेन=निर्ममत्व द्वारा; **प्राणी**=देह-धारी जीव; **सत्-दृष्टिः**= सम्यग्दृष्टि; **ज्ञानवान्**=ज्ञानी; **संयमी**=संयम-सम्पन्न; **च**=और; **तपस्वी**=तपवान; **भवेत्**=हो जाता है; **तस्मात्**=इसलिए; **निर्ममत्वं**=निर्ममता का; **विचिंतयेत्**=विशेष चिन्तन करना चाहिए।।२२१।।

अर्थ : इस निर्ममत्व की कृपा से जीव सम्यग्दृष्टि, ज्ञानवान, संयमी और तपस्वी होता है; इसलिए जीवों को निर्ममत्व का ही चिन्तवन कार्य-कारी है।।२२१।।

अब, पुनः उपलब्धि बताकर इसी निर्ममत्व की प्रेरणा को दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **रागद्वेषादयो दोषा, नश्यंति निर्ममत्वतः।**
साम्यार्थी सततं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।२०-२२२।।

निर्ममत्व से ही राग द्वेषादि विकार मिटें सभी।
ध्या सतत साम्यार्थी यदि, यों भाओ निर्ममता सभी।।२२२।।

अन्वयार्थ : निर्ममत्वतः=निर्ममत्व से; **राग-द्वेष+आदयः**=राग, द्वेष आदि; **दोषा**=दोष; **नश्यन्ति**=नष्ट हो जाते हैं; **तस्मात्**=इसलिए; **साम्यार्थी**=समता का इच्छुक; **सततं**=निरंतर; **निर्ममत्वं**=निर्ममता का; **विचिंतयेत्**=विशेष विचार करे।।२२२।।

अर्थ : इस निर्ममत्व के भले प्रकार पालन करने से राग, द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं; इसलिए जो मनुष्य समता (शान्ति) के अभिलाषी हैं, अपने आत्मा को संसार के दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि वे अपने मन को सब ओर से हटाकर शुद्ध-चिद्रूप की ओर लगावें; उसी का भले प्रकार मनन, ध्यान और स्मरण करें।।२२२।।

अब, स्वरूप-प्राप्ति की पात्रता को बताते हैं—

अनुष्टुप् : **विचार्येत्थ-महंकार-ममकारौ विमुंचति।**
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा*।।२१-२२३।।

यों सोच जो अहंकार सब, ममकार छोड़ें वे मुनि।
नित शुद्ध चिद्रूप आत्मा का, ध्यान पाते शीघ्र ही।।२२३।।

अन्वयार्थ : यः=जो; **मुनिः**=मनन करनेवाले; **इत्थं**=ऐसा; **विचार्य**=विचार कर; **अहंकार-ममकारौ**=अहंकार और ममकार को; **विमुंचति**=विशेषरूप से छोड़ देता है; **सः**=वह; **त्वरा**=शीघ्र ही; **शुद्ध-चिद्रूप-ध्यानं**=शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान को; **लभते**=प्राप्त हो जाता है।।२२३।।

अर्थ : इस प्रकार जो मुनि अहंकार और ममकार को अपने वास्तविक स्वरूप/शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का नाश करनेवाले समझ, उनका सर्वथा त्याग कर देता है, अपने मन को रंच-मात्र भी उनकी ओर जाने नहीं देता; उसे शीघ्र ही संसार में शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ : हमें शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से ही निराकुलतामय सुख मिल सकता है, इसलिए उसी का ध्यान करना आवश्यक है; परन्तु जब तक स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थ मेरे हैं और मैं उनका हूँ या मैं देह-स्वरूप हूँ, कर्म-स्वरूप हूँ - ऐसा विचार चित्त में बना रहता है, तब तक कदापि शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान नहीं हो सकता; इसलिए जो मुनि-गण शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे अहंकार, ममकार का सर्वथा त्याग कर दें और शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की ओर अपना चित्त झुकावें।।२२३।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने के लिए अहंकार-ममकार के त्याग'' को बतलानेवाला, २०३ से २२३ पर्यंत २१ पद्योंवाला दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१०।।

* चिरात् - इति पाठः।

ग्यारहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप के रुचिवन्त की विरलता का वर्णन

अब, शुद्ध-चिद्रूप की रुचिवालों की विरलता का प्ररूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **शांता: पांडित्ययुक्ता, यमनियमबलत्यागरैवृत्तवन्त:।**
सद्गोशीलास्तपोर्चानुतिनतिकरणा, मौनिन: संत्यसंख्या:।।
श्रोतारश्चाकृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गेऽपि धीरा:
नि:संगा: शिल्पिन: कश्चन *तु विरल:, शुद्धचिद्रूपरक्त:।।१-२२४।।

बहु शान्त यम विद्वान त्यागी, नियमयुत वृत्ति बली।
तप-शीलयुत पूजा नमन, स्तुति वक्ता श्रेष्ठ भी।।
मौनी कृतज्ञी व्यसन बिन, इन्द्रिय-जयी उपसर्ग में।
नित धीर परिग्रह-रहित शिल्पी, श्रेष्ठ श्रोता शास्त्र के।।
इत्यादि बहु-विध गुणों, उच्च विशेषताओं से सहित।
बहु नर परन्तु अति विरल, चिद्रूप निज में ही निरत।।२२४।।

अन्वयार्थ : अत्र=इस-लोक में; **शान्ता:**=शान्त मनवाले; **पाण्डित्य-युक्ता**=विद्वत्ता से सहित; **यम-नियम-बल-त्याग-रै-वृत्त-वन्त:**=यमवान, नियमवान, बलवान, त्यागवान, धनवान, चारित्रवान; **सत्-गो**=यथार्थ वक्ता; **शीला:**=शीलवान; **तप:-अर्चा-नुति-नति-करणा**=तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करनेवाले; **मौनिन:**=मौनी; **च**=और; **श्रोतार:**= सुननेवाले; **कृतज्ञा**=किए हुए उपकार को जाननेवाले; **व्यसन-ख-जयिन:**=व्यसन और इन्द्रियों को जीतनेवाले; **उपसर्गे**=उपसर्ग में; **अपि**=भी; **धीरा:**=निश्चल रहनेवाले; **निस्संगा:**= अपरिग्रही; **शिल्पिन:**=कलाओं के जानकार; **असंख्या:**=अनेकों; **संति**=हैं; **तु**=परंतु; **शुद्ध-चिद्रूप-रक्त:**=शुद्ध-चिद्रूप में आसक्त; **कश्चन**=कोई; **विरल:**=विरल है।।२२४।।

---

* भुवि - इति पाठः।

अर्थ : यद्यपि संसार में शान्त-चित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान, बलवान, धनवान, चारित्रवान, उत्तम-वक्ता, शीलवान, तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करनेवाले, मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इन्द्रियों को जीतनेवाले, उपसर्गों को सहने में धीर-वीर, परिग्रहों से रहित और नाना प्रकार की कलाओं के जानकार असंख्यात (अनेकों) मनुष्य हैं; तथापि शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप में अनुरक्त कोई एक विरला ही है।

भावार्थ : यह संसार नाना प्रकार के जीवों का स्थान है। इसमें बहुत से मनुष्य शान्त-चित्त हैं, तो बहुत से विद्वान हैं; बहुत से यमवान, नियमवान, बलवान, दानवान, धनवान और चारित्रवान हैं; अनेक उत्तम-वक्ता, शीलवान, तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करनेवाले भी हैं; बहुत से मौनी, श्रोता आदि भी हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप में लीन बहुत ही कम हैं।।२२४।

अब, इसी तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **ये चैत्यालय-चैत्यदानमहसद्यात्रा कृतौ कौशला,**
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ।
निःसंगाश्च तपस्विनोऽपि बहवस्ते संति ते दुर्लभा,
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये।।२-२२५।।

बहु करें जिनमन्दिर मूर्ति, दान उत्सव यात्रा।
करने में कौशल परीषह-जय, शास्त्र-ज्ञ पर-कारिता।।
निस्संग तपसी आदि हैं बहु नर परन्तु अति विरल।
सब मोह राग द्वेष मेटन शील चिन्मय लीन नित।।२२५।।

अन्वयार्थ : **ये**=जो; **चैत्यालय-चैत्य-दान-महसत्-यात्रा कृतौ**=जिन-मन्दिर के निर्माण में, प्रतिमा-दान में, महा उत्सव करने, तीर्थों की यात्रा करने में; **कौशला**=प्रवीण (हैं); **नाना-शास्त्र-विदः**=विविध शास्त्रों के जानकार; **परीषह-सहा**=परिषह सहनेवाले; **पर+उपकृतौ**=पर का उपकार करने में; **रक्ताः**=आसक्त; **निस्संगाः**=अपरिग्रही; **च**=और; **तपस्विनः**=तपस्वी; **अपि**=भी; **सन्ति**=हैं; **ते**=वे; **बहवः**=अनेकों हैं; (परन्तु) **ये**=जो; **राग-द्वेष-विमोह-वर्जन-पराः**=राग, द्वेष, मोह के पूर्णतया त्याग में लगे हुए; **च**=और; **चित्-तत्त्व-लीनाः**=चेतन-तत्त्व में स्थिर हैं; **ते**=वे; **दुर्लभा**=विरल (हैं)।।२२५।।

अर्थ : संसार में अनेक मनुष्य जिन-मन्दिरों का निर्माण, प्रतिमा-दान, उत्सव और तीर्थों की यात्रा के करने में प्रवीण हैं; नाना शास्त्र के जानकार, परीषहों के सहन करनेवाले, परोपकार में रत, समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और तपस्वी भी हैं; परन्तु राग-द्वेष और मोह का सर्वथा नाश करनेवाले एवं शुद्ध-चिद्रूपरूपी तत्त्व में लीन बहुत ही थोड़े हैं।।२२५।।

अब, इसे ही अन्य प्रकार से पुष्ट करते हैं—

आर्या : **गणकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तु-शब्दशास्त्रज्ञाः।**
संगीतादिषु निपुणाः, सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः।।३-२२६।।

बहु ज्योतिषी तार्किक चिकित्सक, वास्तु व्याकरणादि विद्।
संगीत पौराणिक निपुण, हैं अनेकों नहिं तत्त्वविद्।।२२६।।

अन्वयार्थ : गणक-चिकित्सक-तार्किक-पौराणिक-वास्तु-शब्द-शास्त्र-ज्ञाः= ज्योतिषी, वैद्य, तार्किक, पुराण के वेत्ता, पदार्थ-विशेषज्ञ, व्याकरण-शास्त्र के ज्ञाता; **संगीत+आदिषु**=संगीत आदि में; **निपुणाः**=प्रवीण; **सुलभा**=(अनेकों होने से मिलना, होना) सुलभ हैं; **हि**=परन्तु; **तत्त्व-वेत्तारः**=तत्त्व के जानकार (अति विरल हैं)।।२२६।।

अर्थ : ज्योतिषी, वैद्य, तार्किक, पुराण के वेत्ता, पदार्थ-विज्ञानी, व्याकरण-शास्त्र के जानकार और संगीत आदि कलाओं में भी प्रवीण बहुत से मनुष्य हैं; परन्तु तत्त्व के जानकार नहीं।।२२६।।

अब, इसे ही पुनः पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **सुरूप-बल-लावण्य-धनापत्य-गुणान्विताः।**
गांभीर्यधैर्यधौरेयाः, संत्यसंख्या न चिद्रताः।।४-२२७।।

अति रूप बल लावण्य धन, गम्भीर सुत धीर-वीरता।
इत्यादि गुण युत अनेकों, पर विरल चिन्मय-लीनता।।२२७।।

अन्वयार्थ : सुरूप-बल-लावण्य-धन-अपत्य-गुण+अन्विताः=सुन्दर रूप, उत्कृष्ट बल, लावण्य/सौन्दर्य, धन, सन्तान, गुणों से सम्पन्न; **गांभीर्य-धैर्य-धौरेयाः**= गंभीरता, धीरता, वीरता-सम्पन्न; **असंख्या**=अनेकों; **संति**=हैं; (परन्तु) **चित्-रताः**=चैतन्य में लीन; **न**=नहीं हैं।।२२७।।

अर्थ : उत्तम रूप, बल, लावण्य, धन, सन्तान और गुणों से भी बहुत से मनुष्य भूषित हैं; गम्भीर, धीर और वीर भी असंख्यात (अनेकों) हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में लीन बहुत ही कम मनुष्य हैं।।२२७।।

अब, इसी विरलता को अन्य प्रकार से बताते हैं —

अनुष्टुप् : **जल-द्यूत-वन-स्त्री-वियुद्ध-गोलक-गीतिषु।**
क्रीडंतोऽत्र विलोक्यंते, घना: कोऽपि चिदात्मनि।।५-२२८।।

जल जुआ वन स्त्री विहग, युद्ध गोलिमार गीतादि में।
क्रीड़ा करें बहु नर परन्तु, विरल स्थिर स्वयं में।।२२८।।

अन्वयार्थ : अत्र=इस-लोक में; **जल-द्यूत-वन-स्त्री-वि-युद्ध-गोलक-गीतिषु**=जल में, जुआ में, वन में, स्त्रिओं में, पक्षिओं के युद्ध में, गोली-मार, गीत में; **क्रीडन्त:**=क्रीड़ा करनेवाले; **घना:**=अनेकों; **विलोक्यन्ते**=देखे जा सकते हैं; (परन्तु) **चित्+आत्मनि**=चैतन्य-स्वरूप में (क्रीड़ा करनेवाला); **क:+अपि**=कोई विरल ही है।।२२८।।

अर्थ : अनेक मनुष्य जल-क्रीड़ा, जुआ, वन-विहार, स्त्रियों के विलास, पक्षियों के युद्ध, गोलीमार, क्रीड़ा, गायन आदि में भी दत्त-चित्त दिखायी देते हैं; परन्तु चिदात्मा में विहार करनेवाला कोई विरला ही दिखता है।।२२८।।

अब, इसे ही सामर्थ्य की अपेक्षा निरूपित करते हैं —

अनुष्टुप् : **सिंह-सर्प-गज-व्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ।**
रता: संत्यत्र बहवो न ध्याने स्व-चिदात्मन:।।६-२२९।।

सिंह सर्प हाथी व्याघ्र आदि, अहितकर को वश करण।
तल्लीन रहते अनेकों, चिद्रूप ध्याता हैं विरल।।२२९।।

अन्वयार्थ : अत्र=यहाँ; **सिंह-सर्प-गज-व्याघ्र+अहित+आदीनां**=शेर, साँप, हाथी, व्याघ्र, अहित-कर/शत्रु आदि को; **वशीकृतौ**=वश में करने-हेतु; **रता:**=संलग्न; **बहव:**=अनेकों; **सन्ति**=हैं; (परन्तु) **स्व-चित्+आत्मन:**=अपने चिद्रूप के; **ध्याने**=ध्यान में (लीन); **न**=नहीं हैं।।२२९।।

अर्थ : इस संसार में बहुत से मनुष्य, सिंह, सर्प, हाथी, व्याघ्र और अहित-कारी शत्रु आदि को भी वश करनेवाले हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करनेवाले नहीं।।२२९।।

अब, इसी चिद्रूप में लीन व्यक्तिओं की विरलता को अन्य की शक्ति रोकने की अपेक्षा प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **जलाग्नि-रोग-राजाहि-चौर-शत्रु-नभस्वताम्।**
दृश्यंते स्तंभने शक्ता:, नान्यस्य स्वात्मचिंतया।।७-२३०।।

जल आग राजा रोग अहि, रिपु चोर वायु शक्ति को।
रोधन समर्थ अनेक विरले अन्य तज ध्या स्वयं को।।२३०।।

अन्वयार्थ : जल+अग्नि-रोग-राजा+अहि-चौर-शत्रु-नभस्वतां=जल, आग, रोग, राजा, सर्प, चोर, शत्रु, वायु के; **स्तम्भने**=स्तम्भन में; **शक्ता:**=समर्थ; **दृश्यन्ते**=दिखाई देते हैं; (परन्तु) **स्व+आत्म-चिंतया**=अपने स्वरूप के चिंतन द्वारा; **अन्यस्य**=पर का (लक्ष्य छोड़नेवाले); **न**=नहीं हैं।।२३०।।

अर्थ : जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, बैरी और पवन के स्तम्भन करने में/उनकी शक्ति को दबाने में भी बहुत से मनुष्य समर्थ हैं; परन्तु आत्म-ध्यान द्वारा पर-पदार्थों से अपना मन हटाने के लिए सर्वथा असमर्थ हैं।

भावार्थ : यद्यपि जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, बैरी आदि पदार्थ संसार में अत्यन्त भयंकर हैं। इनसे अपनी रक्षा कर लेना, अति कठिन बात है; तथापि बहुत से ऐसे भी बलवान मनुष्य हैं, जो इन्हें देखते ही देखते वश कर लेते हैं; परन्तु वे भी अपने आत्म-ध्यान से पर-पदार्थों से ममत्व दूर करने में सर्वथा असमर्थ हैं।।२३०।।

अब, इसे ही विषय की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति, चिंतनं परवस्तुन:।**
सर्वे व्यामोहिता जीवा:, कदा कोऽपि चिदात्मन:।।८-२३१।।

मोहित सभी चिन्तन करें, पर वस्तुओं का प्रतिक्षण।
अति विरल हैं चिन्मय निजातम, ध्यान करते प्रतिक्षण।।२३१।।

अन्वयार्थ : व्यामोहिता=अन्य में विशेष रूप से मोहित; **सर्वे**=सभी; **जीवा:**=जीव; **प्रतिक्षणं**=प्रति-समय; **पर-वस्तुन:**=पर-पदार्थों का; **चिंतनं**=चिन्तन; **प्रकुर्वन्ति**=विशेष रूप से करते हैं; (परन्तु) **चित्+आत्मन:**=चित्स्वरूप का (चिन्तन); **कदा**=कभी; **क:+अपि**=कोई ही (करता है)।।२३१।।

अर्थ : इस संसार में रहनेवाले जीव प्राय: मोह के जाल में जकड़े हुए हैं। उन्हें अपनी सुध-बुध का कुछ भी होश-हवास नहीं है; इसलिए प्रति-क्षण वे पर-पदार्थों का ही चिन्तवन करते रहते हैं, उन्हें ही अपनाते हैं; परन्तु शुद्ध-चिदात्मा का कोई विरला ही चिन्तवन करता है।।२३१।।

अब, इसे ही गुणों की अपेक्षा पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **दृश्यंते बहवो लोके, नाना-गुण-विभूषिता:।**
विरला: शुद्ध-चिद्रूपे, स्नेह-युक्ता व्रतान्विता:।।९-२३२।।

बहुविध गुणों से सुशोभित, जग में अनेकों हैं सदा।
निज शुद्ध चिद्रूप में रुचि, व्रत विभूषित विरले सदा।।२३२।।

अन्वयार्थ : लोके=लोक में; **नाना-गुण-विभूषिता:**=अनेक गुणों से सुशोभित; **बहव:**=अनेकों; **दृश्यन्ते**=दिखाई देते हैं; (परन्तु) **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **स्नेह-युक्ता**=प्रीतिवान; **व्रत+अन्विता:**=व्रतों से सुशोभित; **विरला:**=विरल (हैं)।।२३२।।

अर्थ : बहुत से मनुष्य संसार में नाना प्रकार के गुणों से भूषित रहते हैं; परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही हैं, जो शुद्ध-चिद्रूप में स्नेह करनेवाले और व्रतों से भूषित हों।।२३२।।

अब, दो पद्यों द्वारा शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की पात्रता बताते हैं—

अनुष्टुप् : **एकेंद्रियाद्यसंज्ञाख्या-पूर्ण-पर्यंत-देहिन:।**
अनन्तानन्तमा: संति, तेषु न कोऽपि तादृश:।।१०-२३३।।
पंचाक्षसंज्ञिपूर्णेषु, केचिदासन्नभव्यताम्।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षा, भवंत्यार्या: सुबुद्धय:।।११-२३४।।युग्मं।।

एकेन्द्रियों से असंज्ञी तक, अनन्तानन्त पर्याप्तक।
हैं नहीं उनमें योग्यता, निज शुद्ध आतम की समझ।।२३३।।

जो पाँच इन्द्रिय पूर्ण मन नर, निकट भव्यत्व पा हुए।
हैं आर्य सद्बुद्धी सहित, वे ही निजातम समझते।।२३४।।

अन्वयार्थ : एकेन्द्रियात्=एकेन्द्रिय से; **असंज्ञ+आख्या-पूर्ण-पर्यंत-देहिनः**=असंज्ञी नामक पंचेन्द्रिय पर्यन्त शरीर-धारी; **अनन्त+अनन्तमाः**=अनन्तानन्त; **संति**=हैं; **तेषु**=उनमें; **तादृशः**=उस प्रकार का; **कः+अपि**=कुछ भी; **न**=नहीं है/उनमें आत्माराधना की सामर्थ्य नहीं है; **पंच+अक्ष-संज्ञि-पूर्णेषु**=पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तकों में; **केचित्**=कोई; **आर्याः**=आर्य; **सुबुद्धयः**=सुबुद्धि-सम्पन्न; **आसन्न-भव्यतां**=निकट भव्यता को; **च**=और; **नृत्वं**=मनुष्यता को; **आलभ्य**=प्राप्त कर; **तादृक्षा**=उस प्रकार की योग्यतावाले; **भवन्ति**=होते हैं।।२३३-२३४।।

अर्थ : एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव इस संसार में अनन्तानन्त भरे हुए हैं, उनमें इस तरह का सामर्थ्य ही नहीं है; परन्तु जो जीव पंचेन्द्रिय संज्ञी/मन-सहित हैं, उनमें भी जो आर्य स्व-पर स्वरूप के भले प्रकार जानकार हैं और आसन्न-भव्य/बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं।।२३३-२३४।।

अब, मनुष्य-लोक से बाहर इसकी दुर्लभता को बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धचिद्रूपसंलीनाः, सुव्रता न कदाचन।**
नरलोक-बहिर्भागेऽसंख्यात-द्वीपवार्धिषु।।१२-२३५।।

नर लोक बाहर असंख्यातों, द्वीप सागर में रहें।
सब भोगभूमिज शुद्ध चिद्रूप, लीन व्रत युत नहीं हैं।।२३५।।

अन्वयार्थ : नर-लोक-बहिःभागे=मनुष्य-लोक से बाहर के भाग में; **असंख्यात-द्वीप-वार्धिषु**=असंख्यात द्वीप-समुद्रों में; **कदाचन**=कभी भी; **सव्रता**=(महा) व्रत-सहित; **शुद्ध-चिद्रूप-संलीनाः**=शुद्ध-चिद्रूप में भली-भाँति लीन; **न**=नहीं होते हैं।।२३५।।

अर्थ : ढाई द्वीप तक मनुष्य क्षेत्र है और उससे आगे असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें रहनेवाले भी जीव कभी भी शुद्ध-चिद्रूप में लीन और (महा) व्रतों से भूषित नहीं हो सकते।।२३५।।

कुछ अन्य क्षेत्रों में भी इसकी दुर्लभता का अब निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वतः।**
ते भवन्ति न ज्योतिष्के, हा हा क्षेत्रस्वभावतः।।१३-२३६।।

है क्षेत्रगत स्व-भाव ऊर्ध्व अधो रु ज्योतिर्लोक में।
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान, व्रतमय आचरण नहिं हो सके।।२३६।।

अन्वयार्थ : हा-हा=आश्चर्य है कि; **क्षेत्र-स्वभावतः**=क्षेत्र के स्वभाव से; **सर्वस्मिन् अधोलोके**=सम्पूर्ण अधो-लोक में; **सर्वतः**=सभी ओर से; **ऊर्ध्वलोके+अपि**=ऊर्ध्व-लोक में भी; **ज्योतिष्के**=ज्योतिर्लोक में; **ते**=वे/व्रत-सहित स्वरूप-साधक; **न**=नहीं होते हैं।।२३६।।

अर्थ : समस्त अधो-लोक, ऊर्ध्व-लोक और ज्योतिर्लोक में भी क्षेत्र के स्वभाव से जीव शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान और व्रतों का आचरण नहीं कर सकते।।२३६।।

अब, उस योग्यता के अभाववाले मनुष्य-लोक का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **नरलोकेऽपि ये जाता, नराः कर्मवशाद् घनाः।**
भोग-भू-म्लेच्छ-खंडेषु, ते भवन्ति न तादृशः।।१४-२३७।।

नर लोक में भी तीव्र कर्मोदयों से भोग भू म्लेच्छ।
भू-खण्ड में जन्में समर्थ नहीं व्रतादि में समझ।।२३७।।

अन्वयार्थ : नर-लोके+अपि=मनुष्य-लोक में भी; **ये**=जो; **घनाः**=अनेकों; **नराः**= मनुष्य; **कर्म-वशात्**=कर्म के उदय-वश; **भोग-भू-म्लेच्छ-खण्डेषु**=भोगभूमि और म्लेच्छ-खण्डों में; **जाता**=उत्पन्न होते हैं; **ते**=वे; **तादृशः**=उस प्रकार की योग्यतावाले; **न**=नहीं; **भवन्ति**=होते हैं।।२३७।।

अर्थ : मनुष्य-क्षेत्र में भी जो जीव भोग-भूमि और म्लेच्छ-खण्ड में उत्पन्न हुए हैं, उन्हें भी सघनरूप से कर्मों द्वारा जकड़े हुए होने के कारण शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान और व्रतों का आचरण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता।।२३७।।

आर्य-खण्ड में भी उस प्रकार की योग्यतावाले विरल हैं; अब, यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **आर्यखंडभवाः केचिद्, विरलाः संति तादृशाः।**
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः, स्युरद्य न कदापि वा।।१५-२३८।।

जो आर्य खण्डों में हुए, उनमें विरल इस योग्य हैं।
पर अभी तो इस क्षेत्र में, दो तीन या फिर नहीं हैं।।२३८।।

अन्वयार्थ : आर्य-खण्ड-भवा:=आर्य-खण्ड में उत्पन्न हुए; **केचित्**=कोई; **विरला:**=विरल; **तादृशा:**=उस प्रकार की योग्यता-सम्पन्न; **संति**=हैं; **अस्मिन्**=इस; **क्षेत्रे**=क्षेत्र में; **भवा**=जन्म लेनेवाले; **द्वित्रा:**=दो, तीन (ही हैं); **वा**=अथवा; **अद्य**=आज; **कदापि**=कभी/कोई भी; **न**=नहीं; **स्यु:**=हैं।।२३८।।

अर्थ : परन्तु जो जीव आर्य-खण्ड में उत्पन्न हुए हैं, उनमें से भी विरले ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के पालक होते हैं तथा इस भरत-क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले तो इस समय दो, तीन ही हैं; अथवा हैं ही नहीं।।२३८।।

अब, धार्मिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर विरलता का प्रतिपादन दो पद्यों द्वारा करते हैं—

अनुष्टुप् : **अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिका:।**
सम्यक्त्व-सहितास्तत्र तत्राणु-व्रत-धारिण:।।१६-२३९।।

महा-व्रत-धरा धीरा: संति चात्यंत-दुर्लभा:।
तत्त्वातत्त्व-विदस्तेषु चिद्रक्तोऽत्यंत-दुर्लभ:।।१७-२४०।।युग्मं।।

हैं जैन पाक्षिक भी अभी तो, विरल ही इस क्षेत्र में।
उनमें सदा सम्यक्त्व-युत, अणुव्रती नित विरले रहें।।२३९।।

उनमें अति दुर्लभ सुधीर, महान व्रतधारी सदा।
उनमें भी तत्त्व-अतत्त्व-विद्, चिद्रूप-रत दुर्लभ महा।।२४०।।

अन्वयार्थ : अस्मिन्=इस; **क्षेत्रे**=क्षेत्र में; **अधुना**=इस समय; **जैन-पाक्षिका:**= पाक्षिक जैन; **विरला:**=विरल; **संति**=हैं; **तत्र**=उनमें भी; **सम्यक्त्व-सहिता:**= सम्यक्त्व से सहित; **तत्र**=उनमें भी; **अणु-व्रत-धारिण:**=अणु-व्रत-धारक/देश-संयमी; **धीरा:**=धीरता-सम्पन्न; **महा-व्रत-धरा**=महा-व्रत धारण करनेवाले; **अत्यन्त-दुर्लभा:**= अत्यन्त विरल; **संति**=हैं; **तेषु**=उनमें भी; **तत्त्व-अतत्त्व-विद:**=तत्त्व और अतत्त्व के जानकार; **च**=और; **चित्-रक्त:**=चिद्रूप में आसक्त; **अत्यन्त-दुर्लभ:**=अत्यधिक विरल हैं।।२३९-२४०।।

अर्थ : इस क्षेत्र में प्रथम तो इस समय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी ही विरले हैं। यदि वे भी मिल जायें तो अणुव्रत-धारी मिलने कठिन हैं। अणुव्रत-धारी भी हों तो धीर-वीर महाव्रत-धारी दुर्लभ हैं। यदि वे भी हों तो तत्त्व-अतत्त्वों के जानकार (बहु-श्रुतज्ञानी) बहुत कम हैं। यदि वे भी प्राप्त हो जायें तो शुद्ध-चिद्रूप में रत मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं।

भावार्थ : इस संसार में सदा अनन्त जीव निवास करते रहते हैं। उनमें जिन-वचन और जिनेन्द्र-देव के श्रद्धानी पाक्षिक मनुष्य बहुत कम हैं। उनसे भी कम अणु-व्रतों के पालक हैं, उनसे भी कम धीर-वीर महा-व्रती हैं, महा-व्रतियों से कम तत्त्व-अतत्त्वों के जानकार हैं और उनसे भी कम चिद्रूप के प्रेमी हैं; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति को अति दुर्लभ मान उसी का ध्यान करें।।२३९-२४०।।

यह स्वरूप-साधक ही सर्वोत्तम है; अब, यह प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **तपस्वि-पात्र-विद्वत्सु: गुणी-सद्गति-गामिषु।**
वंद्यस्तुत्येषु विज्ञेय: स एवोत्कृष्टतां गत:।।१८-२४१।।

चिद्रूप-रत ही तपस्वी, विद्वान गुणयुत वन्द्य में।
स्तुत्य पात्र सुपथ-चरी में श्रेष्ठतम आत्मस्थ हैं।।२४१।।

अन्वयार्थ : तपस्वि-पात्र-विद्वत्सु:=तपस्विओं, पात्रों, विद्वानों में; **गुणी-सत्-गति-गामिषु**=गुणिओं में, सन्मार्ग पर चलनेवालों में; **वंद्य:-स्तुत्येषु**=वन्दनीय, स्तुति करने-योग्य व्यक्तिओं में; **स: एव**=वही/स्वरूप-साधक ही; **उत्कृष्टतां**=श्रेष्ठता को; **गत:**=प्राप्त है; (ऐसा) **विज्ञेय:**=जानना चाहिए।।२४१।।

अर्थ : जो महानुभाव शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में अनुरक्त हैं; वे ही तपस्वी, उत्तम-पात्र, विद्वान, गुणी, समीचीन मार्ग के अनुगामी और उत्तम वन्दनीक, स्तुत्य मनुष्यों में उत्कृष्ट हैं।।२४१।।

अब, पुन: उसी विरलता को पुष्ट करते हैं—

आर्या : **उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यंतवर्जिते स्तोका:।**
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता, भवन्ति केचित्कदाचिच्च।।१९-२४२।।

इस अनाद्यनन्त समयमयी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी।
में शुद्ध चिद्रूप-लीन, व्रत संयुक्त होते कहिं कभी।।२४२।।

अन्वयार्थ : अन्+आदि+अन्त-वर्जिते=आदि-अंत से रहित/अनादि-अनन्त; **उत्सर्पिणी+अवसर्पण-काले**=उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल में; **चित्-रक्ताः**=चैतन्य में लीन; **व्रत-युक्ताः**=व्रत-सम्पन्न; **केचित्**=कोई; **च**=और; **कदाचित्**=कभी; **स्तोकाः**=अल्प; **भवन्ति**=होते हैं।।२४२।।

अर्थ : इस अनादि-अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के धारक बहुत ही कम मनुष्य होते हैं और वे कभी किसी समय; प्रति-समय नहीं।

भावार्थ : जिसमें मनुष्यों की आयु, बल, वीर्य आदि वृद्धिंगत हो, वह उत्सर्पिणी-काल है और जिसमें आयु आदि की कमी होती जाय, उसे अवसर्पिणी-काल कहते हैं। यह जो काल का अनादि-अनन्त प्रवाह है, उसमें कभी किसी समय शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के पालक मनुष्य दृष्टि-गोचर होते हैं; प्रति-समय नहीं तथा वे भी बहुत कम; अधिक नहीं।।२४२।।

अब, इसी विरलता को गुणस्थान की अपेक्षा दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मिथ्यात्वादि-गुणस्थान-चतुष्के संभवन्ति न।**
शुद्ध-चिद्रूपके रक्ता व्रतिनोऽपि कदाचन।।२०-२४३।।
पंचमादि-गुणस्थान-दशके तादृशोंऽगिनः।
स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेयं, स्तोक-जीव-समाश्रिते।।२१-२४४।।युग्मं।।

मिथ्यात्व आदि चार गुण-स्थान में संभव कभी।
भी हैं नहीं चिद्रूपरत, व्रत सहित चौथे समकिती।।२४३।।

हैं पंचमादि दश गुणस्थानों में चिद् रत व्रत सहित।
अत्यल्प जीव सुयोग्य, आतम निष्ठ ज्ञानी ज्ञेय नित।।२४४।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूपके=शुद्ध-चिद्रूप में; **रक्ता**=आसक्त; (और) **व्रतिनः+अपि**=व्रती भी; **मिथ्यात्व+आदि-गुण-स्थान-चतुष्के**=मिथ्यात्व आदि चार गुण-स्थानों में; **कदाचन**=कभी भी; **न**=नहीं; **संभवन्ति**=होते हैं; **स्तोक-जीव-समाश्रिते**=अल्प जीवों की विद्यमानतावाले; **पंचम+आदि-गुणस्थान-दशके**=पाँचवें आदि दश गुणस्थानों

में; **तादृशाः**=उस प्रकार की योग्यतावाले; **अंगिनः**=जीव; **स्युः**=होते हैं; **इति**=ऐसा; **ज्ञानिना**=ज्ञानी द्वारा; **ज्ञेयं**=जानने-योग्य है।।२४३-२४४।।

अर्थ : मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान पर्यन्त जीव कभी भी शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी और व्रती नहीं हो सकते; किन्तु देश-विरत पंचम गुणस्थान से लेकर अयोग-केवली नामक चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त के जीव ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी और व्रती होते हैं; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान और व्रतों का ज्ञान बहुत थोड़े जीवों में है।

भावार्थ : मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत को आदि लेकर अयोग-केवली पर्यन्त चौदह गुणस्थान हैं। उनमें से आदि के चार गुणस्थानवर्ती जीवों के न तो शुद्ध-चिद्रूप में लीनता हो सकती है और न वे किसी प्रकार के व्रत ही पाल सकते हैं; क्योंकि चौथे गुणस्थान में आकर केवल श्रद्धान ही होता है; परन्तु पाँचवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव व्रती शुद्ध-चिद्रूप के ध्यानी होते हैं; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप के प्रेमी और व्रती मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं।।२४३-२४४।।

अब, पुनः आत्माराधकों की दुर्लभता बताते हैं—

स्रग्धरा : **दृश्यंते गन्धनादावनुज-सुतसुताभीरु-पित्रंबिकासु,**
ग्रामे गेहे खभोगे, नगनगरखगे, वाहने राजकार्ये।
आहार्येऽगे वनादौ, व्यसनकृषिमुखे, कूपवापीतडागे,
रक्ताश्च प्रेषणादौ, यशसि पशुगणे, शुद्धचिद्रूपके न।।२२-२४५।।

बहु जीव लीन सुगन्ध में, सुत सुता माता पिता में।
स्त्री अनुज घर नगर वाहन, राज खग नग भोग में।।
पंचेन्द्रियों के भोग तन वन, व्यसन खेती बावड़ी।
सर कूप यश प्रेषण पशु, संरक्षणादि लीन ही।।
इत्यादि बहुविध भाव वस्तु, प्रीति में जग लीन है।
पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, निज आत्म में नहिं लीन हैं।।२४५।।

अन्वयार्थ : गंधन+आदौ=सुगंधित पदार्थ में; **अनुज-सुत-सुता-भीरु-पितृ-अंबिकासु**=छोटे भाई, पुत्र, पुत्री, पत्नी, पिता, माता में; **ग्रामे**=ग्राम में; **गेहे**=घर में; **ख-भोगे**=इन्द्रियों के भोग में; **नग-नगर-खगे**=पर्वत, नगर, पक्षी में; **वाहने**=वाहन में;

राज-कार्ये=राज-कार्य में; **आहार्ये**=भोजन में; **अंगे**=देह में; **वन+आदौ**=वन आदि में; **व्यसन-कृषि-मुखे**=व्यसन, खेती, मुख में; **कूप-वापी-तडागे**=कुँआ, बावड़ी, तालाब में; **प्रेषण-आदौ**=इधर-उधर भेजने आदि में; **यशसि**=यश में; **पशु-गणे**=पशु-समूह में; **रक्ता:**=अनुराग करते हैं; (परन्तु) **शुद्ध-चिद्रूपके**=शुद्ध-चिद्रूप में (अनुरक्त); **न**=नहीं (होते हैं)।।२४५।।

अर्थ : इस संसार में कोई मनुष्य तो इत्र, फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों में अनुरक्त हैं और बहुत से छोटे भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गाँव, घर, इन्द्रियों के भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राज-कार्य, खाने-योग्य पदार्थ, शरीर, वन, व्यसन, खेती, कुँआ, बावड़ी और तालाबों में प्रेम करनेवाले हैं और बहुत से अन्य मनुष्यों को इधर-उधर भेजने में, यश और पशु-गणों की रक्षा करने में अनुराग करनेवाले हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप के अनुरागी कोई भी मनुष्य नहीं हैं।

भावार्थ : संसार में मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के हैं और उन्हें प्रीति उत्पन्न करनेवाले पदार्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो इत्र, फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों को ही प्रिय और उत्तम मानते हैं। बहुतों को छोटे भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गाँव, घर, इन्द्रियों के भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजा के कार्य, खाने-योग्य पदार्थ, वन, व्यसन, खेती, कूप और तालाब अति प्यारे लगते हैं। बहुत से भृत्यों को जहाँ-तहाँ भेजना, यश-प्राप्ति और पशु-गणों की रक्षा को ही अति प्रिय मानते हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप में किसी का भी प्रेम नहीं है, इसलिए बाह्य-पदार्थों में व्यर्थ मुग्ध होकर आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते।।२४५।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप के प्रेमी बिरले ही हैं'' इस बात का प्रतिपादन करनेवाला, २२४ से २४५ पर्यंत २२ पद्योंवाला ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।११।।

बारहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का असाधारण-कारण रत्नत्रय

रत्नत्रय से ही स्वरूप की उपलब्धि होती है; अब, यह बताते हैं —

अनुष्टुप् : **रत्नत्रयोपलंभेन, विना शुद्धचिदात्मनः।**
प्रादुर्भावो न कस्यापि, श्रूयते हि जिनागमे।।१-२४६।।

सत् रत्नत्रय की प्राप्ति बिन, चिन्मय निजातम शुद्धता।
की प्रगटता होती नहीं, यों जिनागम में है कहा।।२४६।।

अन्वयार्थ : **हि**=वास्तव में; **जिनागमे**=जैन-शास्त्रों में; **रत्नत्रय-उपलम्भेन विना**=रत्नत्रय की प्रगटता के अभाव में; **शुद्ध-चित्+आत्मनः**=शुद्ध-चिद् स्वरूप की; **प्रादुर्भावः**=प्राप्ति; **कस्य+अपि**=किसी के भी; **न**=नहीं; **श्रूयते**=सुनी गई है।।२४६।।

अर्थ : जैन-शास्त्र से यह बात जानी गई है कि विना रत्नत्रय को प्राप्त किए आज तक किसी भी जीव को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हुई। सबको रत्नत्रय के लाभ के बाद ही हुई है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - आत्मा के इन तीन गुणों को रत्नत्रय कहते हैं और ये तीनों शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण-कारण हैं; इसलिए विना रत्नत्रय के लाभ के किसी को भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन्हें भी उसकी प्राप्ति हुई है, उन्हें प्रथम रत्नत्रय की प्राप्ति हो गई है और उसके बाद ही शुद्ध-चिद्रूप का लाभ हुआ है।।२४६।।

अब, इसे ही दृढ़ करते हैं —

अनुष्टुप् : **विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूपं न प्रपन्नवान्।**
कदापि कोऽपि केनापि, प्रकारेण नरः क्वचित्।।२-२४७।।

नित नहीं पाया सत् रतनत्रय, विना शुद्ध चिद्रूप को।
नहिं किसी ने न कभी भी, नहिं साधता जो स्वयं को।।२४७।।

अन्वयार्थ : क:+अपि=कोई भी; **नर:**=प्राणी; **रत्नत्रयं विना**=रत्नत्रय के अभाव में; **कदा+अपि**=कभी भी; **केन+अपि प्रकारेण**=किसी भी प्रकार से; **क्वचित्**=कहीं भी; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **प्रपन्नवान्-न**=प्राप्त नहीं हुआ है।।२४७।।

अर्थ : विना रत्नत्रय को प्राप्त किए आज तक किसी मनुष्य ने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपाय से शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त नहीं किया। सभी ने पहले रत्नत्रय को पाकर ही शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति की है।।२४७।।

अब, इसे ही सोदाहरण पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते।**
यथर्द्धिस्तपस: पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात्।।३-२४८।।

ज्यों तप विना ऋद्धि, पिता बिन सुता, वर्षा मेघ बिन।
त्यों शुद्ध चिद्रूप की प्रगटता, हो नहीं त्रय रत्न बिन।।२४८।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **तपस: विना**=तप के विना; **ऋद्धि:**=ऋद्धि; **पितु: विना**=पिता के विना; **पुत्री**=वेटी; **बलाहकात् विना**=मेघ/बादलों के विना; **वृष्टि:**=वर्षा; **न**=नहीं; **जायते**=होती है; (उसी प्रकार) **रत्नत्रयात् विना**=रत्नत्रय के विना; **चिद्रूप+उपलब्धि:**=चिद्रूप की प्राप्ति (नहीं होती है)।।२४८।।

अर्थ : जिस प्रकार तप के विना ऋद्धि, पिता के विना पुत्री और मेघ के विना वर्षा नहीं हो सकती; उसी प्रकार विना रत्नत्रय की प्राप्ति के शुद्ध-चिद्रूप की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ : जिस प्रकार ऋद्धि की प्राप्ति में तप, पुत्री की उत्पत्ति में पिता और वर्षा की उत्पत्ति में मेघ असाधारण (निमित्त) कारण हैं। विना तप आदि के ऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण रत्नत्रय है। विना इसे प्राप्त किए शुद्ध-चिद्रूप का लाभ नहीं हो सकता।।२४८।।

अब, रत्नत्रय को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्तनम्।**
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः।।४-२४९।।

सद् दर्श ज्ञान चारित्रमय, इकसाथ आतम प्रवर्तन।
सम्यक् रत्नत्रय है यही, कहते सभी जिनवर वृषभ।।२४९।।

अन्वयार्थ : सर्व-जिनेश्वरैः=सभी जिनेश्वरों ने; **युगपत्**=एक साथ; **दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप+आत्म-प्रवर्तनं**=दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति को; **रत्नत्रयं**=रत्नत्रय; **भण्यते**=कहा है।।२४९।।

अर्थ : भगवान जिनेश्वर ने एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति को रत्नत्रय कहा है।

भावार्थ : गुण, गुणी से कभी भिन्न नहीं हो सकते; इसलिए जितने गुण हैं वे अपने गुणियों के स्वरूप हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी आत्मा के गुण हैं; न कभी ये आत्मा से जुदे रह सकते हैं और न सिवाय आत्मा के किसी पदार्थ में ही पाए जाते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि विरोधी कर्मों की मौजूदगी में ये प्रच्छन्नरूप से रहते हैं; परन्तु जिस समय इनके विरोधी कर्म नष्ट हो जाते हैं और ये तीनों एक साथ आत्मा में प्रगट हो जाते हैं। उसी समय की अवस्था को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं और यह रत्नत्रय की प्राप्ति ही शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है।।२४९।।

अब, उस रत्नत्रय के भेद और प्रगटता का क्रम बताते हैं—

अनुष्टुप् : **निश्चयव्यवहाराभ्यां, द्विधा तत्परिकीर्तितम्।**
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत्।।५-२५०।।

यह कहा है दो भेदमय, निश्चय तथा व्यवहार से।
व्यवहार होने पर सदा, निश्चय प्रगट होता इसे।।२५०।।

अन्वयार्थ : तत्=वह/रत्नत्रय; **निश्चय-व्यवहाराभ्यां**=निश्चय-व्यवहार से; **द्विधा**=दो प्रकार का है; **अस्मिन् व्यवहारे सति**=इस व्यवहार के होने पर; **तत्-निश्चयं**=वह निश्चय; **प्रकटी भवेत्**=प्रगट होता है।।२५०।।

अर्थ : यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का कहा गया है और व्यवहार रत्नत्रय हो वहाँ निश्चय रत्नत्रय की प्रगटता होती है।

भावार्थ : जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान, ज्ञान और कर्मों के नष्ट करने के लिए तप आदि करना, चारित्र - यह तो व्यवहार रत्नत्रय है और निश्चय रत्नत्रय आत्म-स्वरूप है; परन्तु विना व्यवहार रत्नत्रय के निश्चय रत्नत्रय कभी प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिए निश्चय रत्नत्रय में व्यवहार रत्नत्रय, कारण है।।२५०।।

अब, व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण, अंग और भेद बताते हैं —

अनुष्टुप् : **श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः।**
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः।।६-२५१।।

व्यवहार से तत्त्वार्थ सातों, की सुश्रद्धा सद् दरश।
अष्टांगयुत औपशमिक आदि, तीन भेदमई कथन।।२५१।।

अन्वयार्थ : सप्त-तत्त्वानां=सात तत्त्वों का; **श्रद्धानं**=श्रद्धान करना; **व्यवहारतः**= व्यवहार से; **दर्शनं**=सम्यग्दर्शन है; **तत्**=उसके; **अष्ट+अंगं**=आठ अंग; **औपशमिक+आदितः**= औपशमिक आदि से; **त्रिविधं**=तीन भेद; **प्रोक्तं**=कहे गए हैं।।२५१।।

अर्थ : व्यवहार-नय से सातों तत्त्वों का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है। इसके आठ अंग हैं तथा औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक के भेद से यह तीन प्रकार का है।

भावार्थ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये सात तत्त्व हैं। इनमें भगवान जिनेन्द्र ने जो इनका स्वरूप बतलाया है, वह उसी प्रकार से है, अन्यथा नहीं - इस प्रकार का श्रद्धान, विश्वास रखना, व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना - ये आठ अंग हैं और सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं।।२५१।।

अब, सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं —

अनुष्टुप् : **सता वस्तूनि सर्वाणि, स्याच्छब्देन वचांसि च।**
चिता जगति व्याप्तानि, पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते।।७-२५२।।

सत् रूप से सब वस्तुएं, स्यात् शब्द पूर्वक वचन सब।
चित् से जगत में व्याप्त, सबको मानता सद्दृष्टि वह।।२५२।।

अन्वयार्थ : सता=सत् रूप से; **सर्वाणि**=सभी; **वस्तूनि**=वस्तुओं को; **स्यात् शब्देन**=स्यात् शब्द से; **वचांसि**=वचनों को; **च**=और; **चिता**=ज्ञान द्वारा; **जगति**=विश्व में; **व्याप्तानि**=व्याप्त को; **पश्यन्**=देखता हुआ; **सत्-दृष्टिः**=सम्यग्दृष्टि; **उच्यते**= कहलाता है।।२५२।।

अर्थ : जो महानुभाव सत्रूप से समस्त पदार्थों का विश्वास करता है, अनेकान्तरूप से समस्त वचनों को और ज्ञान से समस्त जगत में व्याप्त (सर्व पदार्थों को) देखता है, श्रद्धता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : मेरु आदि पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें नेत्र से नहीं देख सकते हैं। सर्वज्ञ के वचन से उनके अस्तित्त्व का निश्चयकर उनकी मौजूदगी का श्रद्धान करना पड़ता है; इसलिए जिस महानुभाव को मेरु आदि के अस्तित्त्व से उनकी मौजूदगी का श्रद्धान है; वचनों में किसी प्रकार का विरोध न आ जाय, इसलिए जो अनेकान्तवाद पर पूर्ण विश्वास कर उसकी सहायता से वचन बोलता है और यह समस्त जगत ज्ञान के गोचर है; इसके मध्य में रहनेवाले पदार्थ, ज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जाने जा सकते हैं - ऐसा जिसका पूर्ण श्रद्धान है, वह व्यवहार-नय से सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।।२५२।।

अब, निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुप् : **स्वकीये शुद्धचिद्रूपे, रुचिर्या निश्चयेन तत्।**
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः, कर्मेन्धनहुताशनम्।।८-२५३।।
स्वकीय शुद्ध चिद्रूप में, जो रुचि वह परमार्थ से।
सद् दरश कर्मेन्धन हुताशन, बताया सब विज्ञ ने।।२५३।।

अन्वयार्थ : स्वकीये=अपने; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **या**=जो; **रुचिः**=प्रतीति है; **तत्**=वह; **निश्चयेन**=वास्तव में; **सत्-दर्शनं**=सम्यग्दर्शन है; **तत्-ज्ञैः**=उसे जाननेवालों के द्वारा (वह); **कर्म+ईंधन-हुताशनं**=कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने के लिए धधकती अग्नि के समान; **मतं**=माना गया है।।२५३।।

अर्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में जो रुचि करना है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और

यह कर्मरूपी ईंधन के लिये जाज्वल्यमान अग्नि है - ऐसा उसके ज्ञाता ज्ञानियों का मत है।।२५३।।

अब, इसे ही अधिक स्पष्ट करते हैं —

आर्या : **यदि शुद्धं चिद्रूपं, निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत्।**
जानन् पश्यन् पश्यति, तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात्।।९-२५४।।

त्रैकालगत युगपत् सभी, निज शुद्ध चिद्रूप देखता।
जो जान श्रद्धा करे वह, परमार्थ से समकित कहा।।२५४।।

अन्वयार्थ : यदि=जब; **निजं**=अपने; **शुद्धं-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **त्रिकालगं**= तीन काल में विद्यमान; **समस्तं**=सभी को; **युगपत्**=एक साथ; **जानन्**=जानता हुआ; **पश्यन्**=देखता हुआ; **पश्यति**=श्रद्धान करता है; **तदा**=तब; **सः**=वह; **जीवः**=जीव; **तत्त्वात्**=परमार्थ से; **सुदृक्**=सम्यग्दृष्टि है।।२५४।।

अर्थ : जो जीव तीन काल में रहनेवाले आत्मिक शुद्ध समस्त चिद्रूप को एक साथ जानता देखता है, वास्तविक दृष्टि से वही सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा समस्त पदार्थ परिवर्तन-शील हैं। प्रति-क्षण सबकी पर्यायें बदलती रहती हैं। आत्मा की भी ज्ञान, दर्शन आदि चेतनाओं का प्रति-समय परिवर्तन हुआ करता है; इसलिए जो जीव त्रिकालवर्ती अपने समस्त शुद्ध-चिद्रूप को एक साथ जानता-देखता है, वास्तव में वही सम्यग्दृष्टि है।।२५४।।

अब, अष्टांग सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा देते हैं —

अनुष्टुप् : **ज्ञात्वाष्टांगानि तस्यापि, भाषितानि जिनागमे।**
तैरमा धार्यते तद्धि, मुक्तिसौख्याभिलाषिणा।।१०-२५५।।

शिव सौख्य अभिलाषी, जिनागम कथित आठों अंग को।
नित जान उनसे सहित, सम्यग्दरश को धारण करो।।२५५।।

अन्वयार्थ : जिन+आगमे=जैन-शास्त्रों में; **भाषितानि**=कहे गए; **तस्य**=उसके; **अष्ट+अंगानि**=आठ अंगों को; **अपि**=भी; **ज्ञात्वा**=जानकर; **मुक्ति-सौख्य+**

अभिलाषिणा= मोक्ष-सुख के इच्छुक द्वारा; **तत्-हि**=वास्तव में वह/सम्यग्दर्शन; **तैः-अमा**=उन/अंगों के साथ; **धार्यते**=धारण किया जाता है।।२५५।।

अर्थ : जो महानुभाव मोक्ष सुख के अभिलाषी हैं। मोक्ष की प्राप्ति से ही अपना कल्याण समझते हैं; वे जैन-शास्त्र में वर्णन किए गए सम्यग्दर्शन को उसके आठ अंगों के साथ धारण करते हैं।

भावार्थ : तत्त्वों का स्वरूप यही है और ऐसा ही है, भगवान जिनेन्द्र ने जो कुछ उनके विषय में कहा है, उससे अन्यथा नहीं हो सकता। इस प्रकार जैन-शास्त्र और जिन भगवान में जो गाढ़ रुचि रखना है, वह नि:शंकितांग है। देव और मनुष्य के भव के सुख को पाप का कारण जान, उसके लिए लालसा प्रगट न करना, नि:काक्षित अंग है। महा अपवित्र इस शरीर से निकलते हुए रुधिर आदि को देखकर ग्लानि न करना, दूसरों को रुग्ण देख उनसे मुख न मोड़ना, निर्विचिकित्सा अंग है। मिथ्या-मार्ग व उनके भक्तों से किसी प्रकार का धार्मिक सम्बन्ध न रखना, उनके मिथ्यात्व की अपने मुख से प्रशंसा न करना, अमूढ़दृष्टि अंग है।

यदि कोई अज्ञानी पवित्र जैन-मार्ग की निन्दा करे तो उसके दूर करने का उपाय करना, उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन आदि से विचलित मनुष्य को पुन: सम्यग्दर्शन आदि में दृढ़ कर देना, स्थितिकरण अंग है। सहधर्मी भाइयों में गौ-बछड़े के समान प्रीति रखना, वात्सल्य अंग है। जैन-मार्ग के अतिशय प्रगट करने के लिए विद्यालय खोलना आदि उपाय करना, प्रभावना अंग है। जो महानुभाव इन आठों अंगों के साथ-साथ सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है।।२५५।।

अब, दो पद्यों द्वारा सम्यग्ज्ञान को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **अष्ट-धाचार-संयुक्तं, ज्ञानमुक्तं जिनेशिना।**
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासो भवेद् यत:।।११-२५६।।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं, तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरम्।
कर्म-रेणूच्चये वातं, हेतुं विद्धि शिवश्रिय:।।१२-२५७।।युग्मं।।

नित आठ आचारों सहित, सब तत्त्व ज्ञाता प्रकाशक।
है ज्ञान यह व्यवहार-नय से, जिनेश्वर द्वारा कथित।।२५६।।

परमार्थ से निज आतमा का, ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
वह कर्मरज नाशक पवन, शिवश्री प्राप्ति-हेतु है।।२५७।।

अन्वयार्थ : जिन+ईशिना=जिनेन्द्र भगवान के द्वारा; **व्यवहार-नयात्**=व्यवहार-नय से; **अष्ट-धा+आचार-संयुक्तं**=आठ प्रकार के आचार से सम्पन्न; **ज्ञानं**=सम्यग्ज्ञान; **उक्तं**=कहा गया है; **यतः**=क्योंकि; (उससे) **सर्व-तत्त्व-उद्भासः**=सभी तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान; **भवेत्**=हो जाता है; **निश्चयात्**=निश्चय से; **स्व-स्वरूप-परिज्ञानं**=अपने स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान (सम्यग्ज्ञान है); **तत्**=वह; **कर्म-रेणु-उच्चये**=कर्म रूपी धूल को उड़ाने के लिए; **वातं**=प्रबल वेगवान वायु के समान; **वरं**=श्रेष्ठ; **ज्ञानं**=ज्ञान; **शिव-श्रियः**=मोक्षरूपी लक्ष्मी (को प्राप्त करने) का; **हेतुं**=कारण; **विद्धि**=जाना गया है।।२५६-२५७।।

अर्थ : भगवान जिनेन्द्र ने व्यवहार-नय से आठ प्रकार के आचारों से युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थों का भली प्रकार प्रतिभास होता है; परन्तु जिससे स्व-स्वरूप का ज्ञान हो, (जो शुद्ध-चिद्रूप को जाने) वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान, समस्त कर्मों का नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में परम कारण है, इससे मोक्ष-सुख अवश्य प्राप्त होता है।।२५६-२५७।।

अब, परम-ज्ञान को परिभाषित करते हैं —

आर्या : **यदि चिद्रूपेऽनुभवो, मोहाभावे निजे भवेत्तत्त्वात्।**
तत्परमं ज्ञानं स्याद्, बहिरंतरसंगमुक्तस्य।।१३-२५८।।

निज मोह विरहित दशा में, बहिरन्तः परिग्रह से रहित।
का स्वयं चिद्रूप अनुभवन, उत्कृष्ट ज्ञान कहा नियत।।२५८।।

अन्वयार्थ : तत्त्वात्=वास्तव में; **मोह-अभावे**=मोह का अभाव हो जाने पर; **निजे**=अपने; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **बहिः-अंतर-संग-मुक्तस्य**=बहिरंग और अंतरंग परिग्रह से रहित का; **यत्**=जो; **अनुभवः**=अनुभव; **भवेत्**=होता है; **तत्**=वह; **परम-ज्ञानं**=उत्कृष्ट ज्ञान; **स्यात्**=है।।२५८।।

अर्थ : मोह का सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित पुरुष जो आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का अनुभव करता है, वही वास्तविकरूप से परम ज्ञान है।।२५८।।

अब, व्यवहार-चारित्र को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात्, प्रवृत्तिः शुभकर्मसु*।**
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः।।१४-२५९।।

सावद्य से नित निवृत्ति, शुभ कर्म वर्तन त्रयोदश।
विध सच्चरित्र व्यवहार से, सब जान लो जिनवर कथित।।२५९।।

अन्वयार्थ : यत्र=जहाँ; **सावद्यात्**=हिंसादि पापों से; **निवृत्तिः**=निवृत्ति; (और) **शुभ-कर्मसु**=शुभ कर्मों में; **प्रवृत्तिः**=प्रवृत्ति (होती है); **व्यवहारतः**=व्यवहार से; **तत्**=वह; **त्रयोदश-प्रकारं**=तेरह प्रकारवाला; **चारित्रं**=चारित्र (है)।।२५९।।

अर्थ : जहाँ पर सावद्य हिंसा के कारणरूप पदार्थों से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति हो, उसे व्यवहार-चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकार का है।

भावार्थ : अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति करना, व्यवहार-चारित्र है और वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह - ये पाँच प्रकार के व्रत; ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग - ये पाँच समितियाँ और वाग्गुप्ति, कायगुप्ति, मनोगुप्ति - ये तीन प्रकार की गुप्तियाँ; इस प्रकार तेरह भेदवाला है।।२५९।।

अब, पुनः इसी को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुनेः।**
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं, तच्चारित्रं न चापरम्।।१५-२६०।।

सद्दर्श ज्ञान सहित मुनि के, मूल उत्तर गुणों का।
शिव-हेतु पालन कहा चारित्र, है नहीं वह अन्य का।।२६०।।

अन्वयार्थ : मुक्तये=मोक्ष के लिए; **मुनेः**=मुनि का; **यत्**=जो; **दृशा**=सम्यग्दर्शन; **ज्ञानेन**=ज्ञान से; **संयुक्तं**=सहित; **मूल+उत्तर-गुणानां**=मूल और उत्तर गुणों का; **पालनं**=पालन (है); **तत्**=वह; **चारित्रं**=सम्यक्चारित्र (है); **च+अपरं**=और कोई दूसरा; **न**=नहीं।।२६०।।

---

* कर्मणि - इति पाठः।

अर्थ : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो मूल और उत्तर गुणों का पालन करना है, वह चारित्र है; अन्य नहीं तथा यही चारित्र, मोक्ष का कारण है।।२६०।।

अब, उत्तम-चारित्र की पात्रता बताते हैं—

अनुष्टुप् : **संगं मुक्त्वा जिनाकारं, धृत्वा साम्यं दृशं धियम्।**
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं, वृत्तं तस्य किलोत्तमम्।।१६-२६१।।

लो सकल परिग्रह छोड़, जिन मुद्रा दरश-धी साम्य को।
धर शुद्ध चिद्रूप ध्यान करता, परम चारित्र उसी को।।२६१।।

अन्वयार्थ : संगं=सभी प्रकार के परिग्रह को; **मुक्त्वा**=छोड़कर; **जिन+आकारं** =जिन के आकार/नग्न-मुद्रा को; **साम्यं**=समता को; **दृशं**=सम्यग्दर्शन को; **धियं**=सम्यग्ज्ञान को; **धृत्वा**=धारण कर; **यः**=जो; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **स्मरेत्**=स्मरण करता है; **किल**=वास्तव में; **तस्य**=उसका; (वह) **उत्तमं**=उत्कृष्ट; **वृत्तं**=चारित्र है।।२६१।।

अर्थ : (बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के) परिग्रहों का सर्वथा त्यागकर; जिन-मुद्रा/नग्न-मुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर जो शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करता है, उसी को उत्तम चारित्र होता है।।२६१।।

अब, सम्यक्चारित्र की विशेषताएं बताते हुए, उसे प्रगट करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञप्त्या दृष्ट्या युतं सम्यक्चारित्रं तन्निरुच्यते।**
सतां सेव्यं जगत्पूज्यं, स्वर्गादि-सुख-साधनम्।।१७-२६२।।

सद्दर्श ज्ञप्ति सहित, सच्चारित्र सेवन-योग्य है।
सज्जनों को स्वर्गादि सुख, साधन कहा जग-पूज्य है।।२६२।।

अन्वयार्थ : ज्ञप्त्या=सम्यग्ज्ञान से; **दृष्ट्या**=सम्यग्दर्शन से; **युतं**=सहित को; **सम्यक्चारित्रं**=सम्यक्चारित्र; **निरुच्यते**=कहते हैं; **जगत्-पूज्यं**=लोक में पूज्य; **स्वर्ग-आदि-सुख-साधनं**=स्वर्ग आदि के सुख का साधन; **तत्**=वह; **सतां**=सज्जनों को; **सेव्यं**=सेवन/आचरण करने-योग्य है।।२६२।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही सम्यक्-चारित्र सज्जनों को आचरणीय है और वह ही समस्त संसार में पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - ये तीनों ऐसे कारण हैं कि इनमें एक भी कम हो जाने पर मोक्ष-सुख नहीं मिल सकता। यदि चाहे कि विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के केवल सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष-सुख मिल जाय तो यह कभी नहीं हो सकता; किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ रहनेवाले सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष-सुख मिल सकता है; इसलिए ऐसा चारित्र ही सज्जनों को परम आदरणीय और जगत्पूज्य है।।२६२।।

अब, परम चारित्र को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या, स्थितिरत्यंतनिश्चला।**
तच्चारित्रं परं विद्धि, निश्चयात् कर्मनाशकृत्*।।१८-२६३।।

निज शुद्ध चिन्मयरूप में, अत्यन्त निश्चल स्थिति।
परमार्थ से है कर्म नाशक, जान श्रेष्ठ चारित्र ही।।२६३।।

अन्वयार्थ : स्वे=अपने; **शुद्धे**=शुद्ध; **चित्स्वरूपे**=चित्स्वरूप में; **या**=जो; **अत्यंत-निश्चला**=अत्यधिक स्थिर; **स्थितिः**=स्थिति (है); **तत्**=वह; **परं**=उत्कृष्ट; **चारित्रं**=चारित्र (है); **निश्चयात्**=वास्तव में; (उसे) **कर्म-नाश-कृत्**=कर्मों को नष्ट करनेवाला; **विद्धि**=जानो।।२६३।।

अर्थ : आत्मिक शुद्ध-स्वरूप में जो निश्चलरूप से स्थिति है, उसे निश्चय-नय से श्रेष्ठ चारित्र व कर्म-नाश करना, तुम जानो।।२६३।।

अब, निश्चय चारित्र का अस्ति-नास्ति परक स्वरूप बताते हैं—

आर्या : **यदि चिद्रूपे शुद्धे, स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात्।**
पर-द्रव्यस्यास्मरणं, शुद्ध-नयादंगिनो वृत्तम्।।१९-२६४।।

सद्दृष्टि सम्यग्ज्ञान बल से, शुद्ध चिद्रूप स्थिति।
में यदि हो परद्रव्य विस्मृत, शुद्ध-नय चारित्र ही।।२६४।।

अन्वयार्थ : दृष्टि-बोध-बलात्=सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बल से; **अंगिनः**=प्राणी

* नाशनात् - इति पाठः।

की; **यदि**=यदि; **निजे**=अपने; **शुद्धे**=शुद्ध; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **स्थितिः**=स्थिरता; **भवति**= होती है; (तो); **पर-द्रव्यस्य**=अन्य द्रव्य का; **अस्मरणं**=विस्मरण; **शुद्ध-नयात्**=शुद्धनय से; **वृत्तं**=चारित्र (है)।।२६४।।

अर्थ : यदि इस जीव की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बल से शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति होती है, तब पर-द्रव्यों का विस्मरण, वह शुद्ध-निश्चय-नय से चारित्र समझना चाहिए।

भावार्थ : जब तक शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति नहीं होती और पर-पदार्थों से प्रेम नहीं हटता; तब तक कदापि निश्चय चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए निश्चय चारित्र की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वानों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति करें और पर-पदार्थों से प्रेम हटाएँ।।२६४।।

अब, व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय के संबंध का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **रत्नत्रयं किल ज्ञेयं, व्यवहारं तु साधनम्।**
सद्भिश्च निश्चयं साध्यं, मुनीनां सद्विभूषणम्।।२०-२६५।।

व्यवहार रत्नत्रय सु साधन, साध्य है परमार्थ सत्।
भूषण मुनी का सत् रत्नत्रय, विज्ञ जानें परम हित।।२६५।।

अन्वयार्थ : सद्भिः=सज्जनों को; **किल**=वास्तव में; **व्यवहारं**=व्यवहार; **रत्नत्रयं**= रत्नत्रय को; **साधनं**=साधन; **च**=और; **तु**=यथार्थरूप में; **मुनीनां**=मुनिओं का; **सत्-विभूषणं**=सर्वोत्तम आभूषण; **निश्चयं**=निश्चय; **रत्नत्रयं**=रत्नत्रय को; **साध्यं**=साध्य; **ज्ञेयं**=जानना चाहिए।।२६५।।

अर्थ : निश्चय-रत्नत्रय की प्राप्ति में व्यवहार-रत्नत्रय, साधन (कारण) है और निश्चय-रत्नत्रय, साध्य है। यह निश्चय रत्नत्रय, मुनियों का उत्तम भूषण है।।२६५।।

अब, रत्नत्रय का महत्त्व प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **रत्नत्रयं परं ज्ञेयं, व्यवहारं च निश्चयम्।**
निदानं शुद्ध-चिद्रूप-स्वरूपात्मोप-लब्धये।।२१-२६६।।

निज शुद्ध चिद्रूप आत्मा की, प्राप्ति-हेतु श्रेष्ठतम।
कारण कहा व्यवहार निश्चय, रत्नत्रय अब ग्रहो यह।।२६६।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-स्वरूप+आत्मा+उपलब्धये=शुद्ध-चिद्रूप-स्वभावी आत्मा की उपलब्धि-हेतु; **व्यवहारं**=व्यवहार; **च**=और; **निश्चयं**=निश्चय; **रत्नत्रयं**=रत्नत्रय को; **परं**=सर्वोत्कृष्ट; **निदानं**=कारण; **ज्ञेयं**=जानना चाहिए।।२६६।।

अर्थ : यह व्यवहार और निश्चय - दोनों प्रकार का रत्नत्रय शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है।।२६६।।

अब, इसे ही पुनः पुष्ट करते हैं—

उपजाति : **स्व-शुद्ध-चिद्रूप-परोपलब्धिः, कस्यापि रत्नत्रय-मंतरेण।**
क्वचित्कदाचिन्न च निश्चयोऽयं दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्वदैव।।२२-२६७।।

इस रत्नत्रय के विना, शुद्ध चिद्रूप उपलब्धि कभी।
कैसे कहीं किसको हुई है नहीं हूँ दृढ़ निश्चयी।।२६७।।

अन्वयार्थ : रत्नत्रयं-अंतरेण=रत्नत्रय के विना; **कस्य+अपि**=किसी को भी; **क्वचित्**=कहीं; **कदाचित्**=कभी; **स्व-शुद्ध-चिद्रूप-परा+उपलब्धिः**=अपने शुद्ध-चिद्रूप की उत्कृष्ट उपलब्धि; **न**=नहीं (हुई है); **मम**=मेरे; **चित्ते**=मन/उपयोग में; **सर्वदा+एव**=निरंतर ही; **दृढः**=पक्का; **निश्चयः**=निश्चय; **अस्ति**=है।।२६७।।

अर्थ : इस शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति, विना रत्नत्रय के आज तक कभी और किसी देश में नहीं हुई। सबको रत्नत्रय की प्राप्ति के अनन्तर ही शुद्ध-चिद्रूप का लाभ हुआ है, यह मेरे आत्मा में दृढ़रूप से निश्चय है।।२६७।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण-कारण रत्नत्रय है'' इस बात को बतलानेवाला २४६ से २६७ पर्यंत २२ पद्यों-युक्त बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१२।।

तेरहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए विशुद्धि की आवश्यकता का प्रतिपादन

विशुद्धता सर्वत्र प्रशंसनीय है; अब, यह बताते हैं —

अनुष्टुप् : **विशुद्धं वसनं श्लाघ्यं, रत्नं रूप्यं च कांचनम्।**
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा।।१-२६८।।

ज्यों वस्त्र निर्मल रत्न चाँदी, स्वर्ण बर्तन गृहादि।
उत्तम प्रशंसा-योग्य त्यों, चिद्रूप निज सर्वोपरि।।२६८।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **सर्वैः**=सभी के द्वारा; **विशुद्धं**=निर्मल; **वसनं**=वस्त्र; **रत्नं**=रत्न; **रूप्यं**=चाँदी; **कांचनं**=सुवर्ण; **भाजनं**=बर्तन; **च**=और; **भवनं**=महल; **श्लाघ्यं**=प्रशंसनीय (है); **तथा**=उसी प्रकार; **चिद्रूपकं**=शुद्ध-चिद्रूप (प्रशंसनीय है)।।२६८।।

अर्थ : जिस प्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चाँदी, सोना, पात्र, भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशंस्य गिने जाते हैं; उसी प्रकार यह शुद्ध-चिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशंस्य है।।२६८।।

अब, अशुद्धता और विशुद्धता को परिभाषित करते हैं —

अनुष्टुप् : **रागादिलक्षणं पुंसि, संक्लेशोऽशुद्धता मता।**
तन्नाशो येन चांशेन, तेनांशेन विशुद्धता।।२-२६९।।

है जीव में रागादि लक्षण, अशुद्धि संक्लेशता।
वह नष्ट जितनी हो, उसी अनुसार है सुविशुद्धता।।२६९।।

अन्वयार्थ : पुंसि=प्राणी में; **राग+आदि-लक्षणः**=राग आदि लक्षणवाला; **संक्लेशः**=संक्लेश; **अशुद्धता**=मलिनता; **च**=और; **येन-अंशेन**=जितने अंश में; **तत्-**

नाशः=उसका अभाव (है); **तेन-अंशेन**=उतने अंश में; **विशुद्धता**=पवित्रता; **मता**=मानी गई है।।२६९।।

अर्थ : पुरुष में राग-द्वेष आदि लक्षण का धारण संक्लेश, अशुद्धपना कहा जाता है और जितने अंश में राग-द्वेष आदि का नाश हो जाता है, उतने अंश में विशुद्धपना कहा जाता है।

भावार्थ : यदि शुद्ध-निश्चय-नय से देखा जाए तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है; परन्तु राग-द्वेष आदि के सम्बन्ध से अशुद्ध हो जाता है। जितने अंश में राग-द्वेष आदि नष्ट होते जाते हैं, उतने अंश में यह शुद्ध होता चला जाता है।।२६९।।

अब, इस संबंध में मुमुक्षु को मार्ग-दर्शन देते हैं—

अनुष्टुप् : **येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपा-द्याति वेगतः।**
विशुद्धिरेति चिद्रूपे, स विधेयो मुमुक्षुणा।।३-२७०।।

जिस विधि से अति तीव्रता से नष्ट हो संक्लेशता।
बड़ती विशुद्धि आत्मा में, मुमुक्षु वह कर सदा।।२७०।।

अन्वयार्थ : येन+उपायेन=जिस साधन द्वारा; **चिद्रूपात्**=चिद्रूप से; **संक्लेशः**=संक्लेश; **याति**=समाप्त हो जाता है; (और) **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **वेगतः**=वेग पूर्वक; **विशुद्धिः**=विशुद्धि; **एति**=प्रगट होती है; **मुमुक्षुणा**=मुमुक्षु के द्वारा; **स**=वह; **विधेयः**=करने-योग्य है।।२७०।।

अर्थ : जो जीव मोक्षाभिलाषी हैं, अपने आत्मा को समस्त कर्मों से रहित करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि जिस उपाय से यह संक्लेश दूर हो विशुद्धपना आए, वह उपाय अवश्य करें।।२७०।।

अब, शुद्धि के साधनों का निरूपण करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कर्मावश्यकानां,**
वृत्तादीनां दृढतर-धरणं सत्तपस्तीर्थ-यात्रा।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतर-कृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै।।४-२७१।।

सत् पूज्य की स्तुति पूजन, नमन आवश्यक करम।
नित छह व्रतादि धरे दृढ़ता से सुतप सब परिग्रह।।
का त्याग यात्रा तीर्थ की, नहिं व्यक्तता क्रोधादि की।
ये सब विशुद्धि के लिए, जिनवर कहें करणीय ही।।२७१।।

अन्वयार्थ : सत्पूज्यानां=यथार्थ पूज्यों की; **स्तुति-नति-यजनं**=स्तुति करना, (उन्हें) नमन करना, पूजन करना; **षट्-कर्म-आवश्यकानां**=आवश्यक छह कर्मों को करना; **वृत्त+आदीनां**=सम्यक् चारित्र आदि को; **दृढतर-धरणं**=दृढ़ता पूर्वक धारण करना; **सत्-तपः**=यथार्थ तप तपना; **तीर्थ-यात्रा**=तीर्थों की यात्रा करना; **संग+आदीनां**= सभी प्रकार के परिग्रह आदि का; **त्यजनं**=त्याग करना; **क्रोध-मान-आदिकानां**=क्रोध, मान आदि का; **अजननं**=उत्पन्न नहीं होना; **वर-तर-कृपया**=उत्कृष्टतम कृपा पूर्वक; **आप्तैः**=आप्त के द्वारा; **हि**=वास्तव में; **एतत्-सर्वं**=ये सभी; **शुद्ध्यै**=शुद्धि के लिए; **उक्तं**=कहे गए हैं।।२७१।।

अर्थ : जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं, उनकी स्तुति, नमस्कार और पूजन करना; सामायिक, प्रतिक्रमण आदि छह प्रकार के आवश्यकों का आचरण करना; सम्यक्चारित्र को दृढ़रूप से धारण करना; उत्तम तप और तीर्थ-यात्रा करना, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना; क्रोध, मान, माया आदि कषायों को उत्पन्न न होने देना आदि विशुद्धि के कारण हैं; इन बातों का आचरण किए विना विशुद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ : उत्तम मुनि आदि महा-पुरुषों की विनय आदि करने से, सामायिक आदि आवश्यकों के आचरण से, सम्यक्चारित्र के पालने से; उत्तम तप, तीर्थ-यात्रा के करने से; परिग्रहों के त्याग से, क्रोध आदि कषायों को उत्पन्न नहीं होने देने से कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश से आत्मा में विशुद्धपना आता है; इसलिए जो मनुष्य अपने आत्मा की विशुद्धता के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान दें और अपने आत्मा को शुद्ध बनाएं।।२७१।।

अब, कारण बता कर मोक्षमार्ग के स्मरण-हेतु प्रेरित करते हैं—

अनुष्टुप् : **रागादिविक्रियां दृष्ट्वांगिनां क्षोभादि मा व्रज।**
भवे तदितरं किं स्यात्, स्वच्छं शिवपदं स्मर।।५-२७२।।

रागादि विकृति देख अज्ञों की नहीं क्षोभादि कर।
इसके अलावा क्या यहाँ? यों स्वच्छ शिव-पद याद कर।।२७२।।

अन्वयार्थ : **अंगिनां**=प्राणिओं की; **राग+आदि-विक्रियां**=राग आदि विशिष्ट दशाओं को; **दृष्ट्वा**=देख कर; **क्षोभ+आदिं**=क्षोभ आदि को; **मा**=नहीं; **व्रज**=करो; (क्योंकि) **भवे**=संसार में; **तत्+इतरं**=उससे भिन्न; **किं**=क्या; **स्यात्**=होना है; (अत:) **स्वच्छं**=पवित्र; **शिव-पदं**=मोक्ष-पद/मोक्ष-मार्ग का; **स्मर**=स्मरण करो।।२७२।।

अर्थ : हे आत्मन्! मनुष्यों में राग-द्वेष आदि का विकार देख तुझे किसी प्रकार क्षोभ नहीं करना चाहिए; क्योंकि संसार में सिवाय राग आदि विकार के और होना ही क्या है? इसलिए तुम अतिशय विशुद्ध मोक्ष-मार्ग का ही स्मरण करो।

भावार्थ : प्राय: संसार में यह बात प्रत्यक्ष-गोचर होती है कि कहीं राग के सम्बन्ध में नाना-प्रकार के विकार देखने में आते हैं और कहीं द्वेष और मोह के सम्बन्ध से; परन्तु राग-द्वेष आदि का विकार देख किसी भी प्रकार का क्षोभ नहीं करना चाहिए; क्योंकि इसका नाम संसार है। इसमें राग-द्वेष विकारों के सिवाय उत्तम बात होनी कठिन है; इसलिए हे आत्मन्! यदि तुम राग-द्वेष आदि के विकारों से रहित होना चाहते हो, तो मोक्षमार्ग का स्मरण करो। उसी से तुम्हारा कल्याण होगा।।२७२।।

अब, विशुद्धता-प्राप्ति की पात्रता बताते हैं—

शिखरिणी : **विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहित:,**
सरोगो नि:स्वो वा विमतिरगुण: शक्तिविकल:।
सदा दोषी निंद्योऽगुरु-विधिरकर्मा हि वचनं,
वदन्नंगी सोऽयं भवति भुवि वैशुद्ध्यसुखभाग्।।६-२७३।।

मैं मोह से मिथ्यात्वमय हो, सरोगी निर्धन कुधी।
अविवेकि दोषी अवगुणी, शक्ति रहित नित आलसी।।
नित हीन आचरणी इत्यादि, भावना भाए सदा।
वह विशुद्धि से व्यक्त सुख को भोगता चिद्रूपता।।२७३।।

अन्वयार्थ : **इह**=इस-लोक में; **अहं**=मैं; **मोहात्**=मोह के कारण; **विपर्यस्त:**=

विपरीतता-वश; **विवेकेन**=विवेक से; **रहितः**=रहित; **स-रोगः**=रोग-सहित; **निः-स्वः**=धन-रहित; **वा**=अथवा; **विमतिः**=मति-हीन; **अगुणः**=गुण-हीन; **शक्ति-विकलः**=शक्ति से रहित; **सदा**=निरंतर; **दोषी**=दोषवान्; **निंद्य**=निंदा-योग्य; **अगुरु-विधिः**=हीन क्रिया करनेवाला; **अकर्मा**=अकर्मण्य (हूँ - ऐसा मानता हूँ); **हि**=वास्तव में; (ऐसे) **वचनं**=वचन; **वदन्**=बोलता हुआ (ऐसी भावना करता हुआ); **सः**=वह; **अयं**=यह; **अंगी**=प्राणी; **भुवि**=पृथ्वी पर; **वैशुद्ध्य-सुख-भाग्**=विशुद्धि के सुख का पात्र; **भवति**=होता है।।२७३।।

अर्थ : मैं मोह के कारण विपर्यस्त होकर ही अपने को विवेक-हीन, रोगी, निर्धन, मति-हीन, अगुणी, शक्ति-रहित, दोषी, निन्दनीय, हीन-क्रिया का करनेवाला, अकर्मण्य/आलसी मानता हूँ। इस प्रकार वचन बोलनेवाला (ऐसी भावना करनेवाला) विशुद्धता के सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ : मैं वास्तविक दृष्टि से शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य-स्वरूप हूँ। सब पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा और सदा आनन्द-स्वरूप हूँ; किन्तु अज्ञान-वश मोह के जाल में फँसकर मैं विपरीत-सा हो गया हूँ। विवेक-हीनता, सरोगता, निर्धनता, पागलपन, शक्ति-रहितपना आदि कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं। जो मनुष्य ऐसा विचार किया करता है, वह अवश्य विशुद्धता-जन्य सुख का अनुभव करता है।।२७३।।

अब, गृहस्थों को आत्मोपलब्धि की दुर्लभता का कारण बताते हैं—

स्रग्धरा : **राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात्,**
दोषोद्भूतेरकीर्तेः सततमतिभयं रै-नृ-गो-मन्दिरस्य।
चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहिणां तेन तेषां विशुद्धं,
चिद्रूपध्यानरत्नं श्रुतजलधिभवं प्रायशो दुर्लभं स्यात्।।७-२७४।।

राजा अनल जल रिपु मृत्यु, ईति जाति उपद्रव।
दोषों से फैले अयश, इत्यादि अति भय है सतत।।
धन नर पशु गृह आदि चिन्ता, नाश में शोकादि भी।
इस अज्ञ को श्रुत-जलधि जन्मा, शुद्ध चिद्रूप कठिन ही।।२७४।।

अन्वयार्थ : गृहिणां=गृहस्थों के; **राज्ञः**=राजा का; **ज्ञातेः**=जाति का; **दस्योः**=चोर का; **ज्वलन-जल-रिपोः**=अग्नि, जल, शत्रु का; **ईतितः**=अतिवृष्टि-अनावृष्टिरूप ईति से; **मृत्यु-रोगात्**=मरण, रोग से; **दोष+उद्भूतेः**=दोषों की प्रगटता का; **अकीर्तेः**=अपयश का; **सततं**=सदा; **अति-भयं**=अधिक भय; **रै-नृ-गो-मंदिरस्य**=धन, मनुष्य, गाय/पशु, मन्दिर की; **चिन्ता**=चिन्ता; **च**=और; **तत्**=उनके; **नाश-शोकः**=नष्ट होने पर शोक; **भवति**=होता है; **तेन**=उस कारण; **तेषां**=उन्हें; **श्रुत-जलधि-भवं**=श्रुतरूपी समुद्र से प्रगट हुआ; **विशुद्धं**=विशिष्ट शुद्ध; **चिद्रूप-ध्यान-रत्नं**=चिद्रूप का ध्यानरूपी रत्न; **प्रायशः**=अधिकतर; **दुर्लभं**=विरल; **स्यात्**=हो जाता है।।२७४।।

अर्थ : संसारी जीवों को राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, बैरी, अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोष और अकीर्ति से सदा भय बना रहता है। धन, कुटुम्बी, मनुष्य, पशु और मकान की चिन्ताएं लगी रहती हैं एवं उनके नाश से शोक होता रहता है; इसलिए उन्हें शास्त्ररूपी अगाध समुद्र से उत्पन्न, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होना नितान्त दुर्लभ है।

भावार्थ : भय-भीत मनुष्य अगाध समुद्र से जिस प्रकार सहसा रत्न प्राप्त नहीं कर सकता; उसी प्रकार जो मनुष्य राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल आदि से भय करनेवाला है; धन, धान्य, पशु, मकान आदि की चिन्ता और उसके नाश से शोकाकुल रहता है, वह प्राय: शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान नहीं कर सकता।।२७४।।

अब, विशुद्धि के लिए हेय का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **पठने गमने संगे, चेतनेऽचेतनेऽपि च।**
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा, चिंता हेया विशुद्धये।।८-२७५।।

पढ़ने गमन चेतन अचेतन, संग करते कार्य में।
चिन्ता तजो आतम विशुद्धि-हेतु चेतन चाहते।।२७५।।

अन्वयार्थ : पुंसा=प्राणी के द्वारा; **पठने**=पढ़ने में; **गमने**=जाने में; **चेतने च अचेतने**=चेतन और अचेतन; **संगे**=परिग्रह में; **अपि**=भी; **किंचित्-कार्य-कृतौ**=कुछ कार्य को करने में; **चिन्ता**=सोच; **विशुद्धये**=विशुद्धि के लिए; **हेया**=त्याग करने-योग्य है।।२७५।।

अर्थ : जो महानुभाव विशुद्धता का आकांक्षी है, अपने आत्मा को निष्कलंक बनाना चाहता है, उसे चाहिए कि वह पढ़ने, गमन करने, चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह धारने और किसी अन्य कार्य के करने में किसी प्रकार की चिन्ता न करे अर्थात् अन्य पदार्थों की चिन्ता करने से आत्मा विशुद्ध नहीं बन सकता।।२७५।।

अब, आत्मोपलब्धि की महानता का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूपकस्यांशो, द्वादशांग-श्रुतार्णवः।**
शुद्धचिद्रूपके लब्धे, तेन किं मे प्रयोजनम्।।९-२७६।।

है शुद्ध चिद्रूप अंश, सब द्वादशांग श्रुतसागर कहा।
यों शुद्ध चिद्रूप पा लिया, तो सभी कुछ ही पा लिया।।२७६।।

अन्वयार्थ : द्वादशांग-श्रुत-आर्णवः=द्वादशांगमय श्रुतरूपी समुद्र; **शुद्ध-चिद्रूपकस्य**=शुद्ध-चिद्रूप का; **अंशः**=अंश है; (अतः) **शुद्ध-चिद्रूपके**=शुद्ध-चिद्रूप; **लब्धे**=प्राप्त हो जाने पर; **मे**=मुझे; **तेन**=उस/श्रुत से; **किं**=क्या; **प्रयोजनं**=प्रयोजन (है)।।२७६।।

अर्थ : आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्ध-चिद्रूप का अंश है; इसलिए यदि शुद्ध-चिद्रूप प्राप्त हो गया है, तो मुझे द्वादशांग से क्या प्रयोजन? वह तो प्राप्त हो ही गया।

भावार्थ : द्वादशांग की प्राप्ति संसार में अतिशय दुर्लभ है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होते ही उसकी प्राप्ति आपसे आप हो जाती है; क्योंकि वह शुद्ध-चिद्रूप का अंश है; इसलिए कल्याण के आकांक्षी जीवों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप की ही प्राप्ति करें। द्वादशांग आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिए शुद्ध-चिद्रूप के लाभ का ही प्रयत्न करें।।२७६।।

अब, इसे ही और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूपके लब्धे, कर्तव्यं किंचिदस्ति न।**
अन्यकार्यकृतौ चिंता, वृथा मे मोहसंभवाः।।१०-२७७।।

निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति पर, कर्तव्य कुछ रहता नहीं।
हो मोह से उत्पन्न कुछ, करने की चिन्ता व्यर्थ ही।।२७७।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूपके=शुद्ध-चिद्रूप; **लब्धे**=प्राप्त हो जाने पर; **कर्तव्यं**=करने-योग्य; **किंचित्**=कुछ; **न**=नहीं है; (अतः) **अन्य-कार्य-कृतौ**=अन्य कार्यों को करने संबंधी; **मोह-संभवा**=मोह से उत्पन्न; **मे**=मेरी; **चिन्ता**=सोच; **वृथा**=व्यर्थ (है)।।२७७।

अर्थ : मुझे संसार में शुद्ध-चिद्रूप का लाभ हो गया है; इसलिए मुझे करने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा; सब कर चुका तथा शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाने पर अन्य कार्यों के लिए मुझे चिन्ता करना भी व्यर्थ है; क्योंकि यह मोह से होती है अर्थात् मोह से उत्पन्न हुई चिन्ता से मेरा कदापि कल्याण नहीं हो सकता।।२७७।।

अब, किस चिंतन का क्या फल है; यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **वपुषां कर्मणां कर्म-हेतुतां* चितनं यदा।**
तदा क्लेशो विशुद्धिः स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनम्।।११-२७८।।

तन कर्म कारण कर्म की, चिन्ता स्वयं ही क्लेश है।
निज शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि, विशुद्धि का हेतु है।।२७८।।

अन्वयार्थ : यदा=जब; **वपुषां**=शरीर का; **कर्मणां**=कर्म का; **कर्म-हेतूनां**=कर्म के कारणों का; **चिंतनं**=चिन्तन (होता है); **तदा**=तब; **क्लेशः**=संक्लेश/कष्ट (होता है); (और जब) **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनं**=शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन (होता है, तब); **विशुद्धिः**=विशुद्धि; **स्यात्**=होती है।।२७८।।

अर्थ : शरीर, कर्म और कर्म के कारणों का चिन्तन करना, क्लेश है अर्थात् उनके चिन्तन से आत्मा में क्लेश उत्पन्न होता है और शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से विशुद्धि होती है।।२७८।।

अब, यह नहीं कर पाने पर अन्य कार्य दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **गृही यतिर्न यो वेत्ति, शुद्धचिद्रूप-लक्षणम्।**
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरम्।।१२-२७९।।

जो गृही या मुनिराज शुद्ध, चिद्रूप चिन्ह न जानते।
तब उन्हें पंच णवकार आदि, स्मरण ही श्रेष्ठ है।।२७९।।

* हेतूनां - इति पाठः।

अन्वयार्थ : य:=जो; **गृही**=गृहस्थ; **यति:**=मुनि; **शुद्ध-चिद्रूप-लक्षणं**=शुद्ध-चिद्रूप का स्वरूप; **न**=नहीं; **वेत्ति**=जानता है; **तस्य**=उसका; **पंच-नमस्कार-प्रमुख-स्मरणं**=पंच परमेष्ठी आदि का स्मरण; **वरं**=उत्तम है।।२७९।।

अर्थ : जो गृहस्थ या मुनि शुद्ध-चिद्रूप का स्वरूप नहीं जानता, उसके लिए पञ्च परमेष्ठी के मन्त्रों का स्मरण करना ही कार्य-कारी है, उसी से उसका कल्याण हो सकता है।।२७९।।

अब, सदा सुखी रहने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **संक्लेशस्य विशुद्धेश्च, फलं ज्ञात्वा परीक्षणम्।**
तं त्यजेत्तां भजत्यंगी, योऽत्रामुत्र सुखी स हि।।१३-२८०।।

जो संक्लेश विशुद्धि का फल, परीक्षा से जान वह।
छोड़े सदा सेवे यहाँ, पर-लोक में भी सुखी नित।।२८०।।

अन्वयार्थ : परीक्षणं=परीक्षा पूर्वक; **संक्लेशस्य**=संक्लेश का; **च**=और; **विशुद्धे:**=विशुद्धि का; **फलं**=फल; **ज्ञात्वा**=जानकर; **य:**=जो; **अंगी**=प्राणी; **तं**=उस/संक्लेश को; **त्यजेत्**=छोड़ देता है; (और) **तां**=उस/विशुद्धि का; **भजति**=सेवन करता है; **हि**=वास्तव में; **स:**=वह; **अत्र**=इस-लोक में; **अमुत्र**=पर-लोक में; **सुखी**=सुखी रहता है।।२८०।।

अर्थ : जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धि के फल को परीक्षा पूर्वक जानकर संक्लेश को छोड़ता है और विशुद्धि का सेवन करता है; उस मनुष्य को इस-लोक, पर-लोक दोनों लोकों में सुख मिलता है।।२८०।।

अब, कर्म की अपेक्षा इन दोनों का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **संक्लेशे कर्मणां बन्धोऽशुभानां दु:खदायिनाम्।**
विशुद्धौ मोचनं तेषां, बन्धो वा शुभकर्मणाम्।।१४-२८१।।

हो अशुभ दुखदाई कर्म का बन्ध नित संक्लेश से।
छूटे अशुभ शुभ कर्म का हो बन्ध सदा विशुद्धि से।।२८१।।

अन्वयार्थ : संक्लेशे=संक्लेश में; **अशुभानां**=अशुभ; **दुःख-दायिनां**=दुःख देनेवाले; **कर्मणां**=कर्मों का; **बंधः**=बंध (होता है); **विशुद्धौ**=विशुद्धि में; **तेषां**=उनका; **मोचनं**=अभाव; **वा**=अथवा; **शुभ-कर्मणां**=शुभ कर्मों का; **बंधः**=बंध (होता है)।।२८१।।

अर्थ : क्योंकि संक्लेश के होने से अत्यन्त दुःख-दाई अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है और विशुद्धता की प्राप्ति से इन अशुभ कर्मों का सम्बन्ध छूटता है तथा शुभ कर्मों का सम्बन्ध होता है।

भावार्थ : जब तक यह आत्मा विशुद्ध नहीं, संक्लेशमय रहता है; तब तक इसके साथ नाना प्रकार के अशुभ कर्मों का बन्ध होता रहता है और उससे इसे अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; परन्तु जिस समय यह आत्मा विशुद्धता का अनुभव करने लग जाता है, उस समय इससे अशुभ कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है और सुख-दायक शुभ कर्मों का सम्बन्ध होने लगता है; इसलिए दुःख-दायक संक्लेश को छोड़कर सुख-दायक चिद्रूप की शुद्धि का आश्रय करना, योग्य है।।२८१।।

अब, विशुद्धि-संक्लेश का कार्य बताते हैं—

अनुष्टुप् : **विशुद्धिः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं मुख्यकारणम्।**
संक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितम्।।१५-२८२।।

सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान का, है मुख्य कारण विशुद्धि।
संक्लेश है उसका विघातक, जिन निरूपित है यही।।२८२।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यानं=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान का; **मुख्य-कारणं**=प्रमुख कारण; **विशुद्धिः**=विशुद्धि (है); **तत्**=उस ध्यान को; **विघाताय**=नष्ट करने के लिए; **संक्लेशः**=संक्लेश है; **इदं**=यह; **जिनेन**=जिनेन्द्र भगवान द्वारा; **निरूपितं**=कहा गया है।।२८२।।

अर्थ : यह विशुद्धि, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में मुख्य कारण है; इसी से शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होती है और संक्लेश, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान का विघातक है, जब तक आत्मा में किसी प्रकार का संक्लेश रहता है, तब तक शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता।।२८२।।

अब, वास्तविक अमृत का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **अमृतं च विशुद्धिः स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितम्।**
अत्यंत-सेवने कष्ट-मन्यस्यास्य परं सुखम्।।१६-२८३।।

है लोक कल्पित नहीं अमृत, विशुद्धि ही सुधा है।
उसके अति सेवन से दुख, हो परम सुख इससे कहें।।२८३।।

अन्वयार्थ : च=और/वास्तविक; **अमृतं**=अमृत; **विशुद्धिः**=विशुद्धि है; **लोक-प्रभाषितं**=लोक में कहा जानेवाला; **अन्यत्**=दूसरा (कोई वास्तविक अमृत); **न-स्यात्**=नहीं है; (क्योंकि उस) **अन्यस्य**=दूसरे के; **अत्यंत-सेवने**=अत्यधिक सेवन से; **कष्टं**=कष्ट (होता है); (और) **अस्य**=इसके (अत्यधिक सेवन से) **परं सुखं**=सर्वोत्तम सुख (होता है)।।२८३।।

अर्थ : संसार में लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं अथवा जिस किसी पदार्थ को लोग अमृत बतलाते हैं, वह पदार्थ वास्तव में अमृत नहीं है। वास्तविक अमृत तो विशुद्धि ही है; क्योंकि लोक-कथित अमृत के अधिक सेवन करने से तो कष्ट भोगना पड़ता है और विशुद्धिरूपी अमृत के अधिक सेवन करने से परम सुख ही मिलता है; किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं भोगता पड़ता; इसलिए जिससे सब अवस्थाओं में सुख मिले, वही अमृत सच्चा है।।२८३।।

अब, विशुद्धि-सेवन में रत के निवास-स्थान बताते हैं—

अनुष्टुप् : **विशुद्धि-सेवनासक्ता, वसंति गिरि-गह्वरे।**
विमुच्यानुपमं राज्यं, ख-सुखानि धनानि च।।१७-२८४।।

सब छोड़ अनुपम राज्य धन, इन्द्रिय विषय सुख नित रहें।
गिरि गुफा आदि में सदा, सुविशुद्धि सेवनासक्त हैं।।२८४।।

अन्वयार्थ : विशुद्धि-सेवन+आसक्ता=विशुद्धि का सेवन करने में अनुरक्त; **अनुपमं**=श्रेष्ठ; **राज्यं**=राज्य; **स्व-सुखानि**=अपने इन्द्रिय-सुख; **च**=और; **धनानि**=सम्पत्ति को; **विमुच्य**=विशेष रूप से छोड़कर; **गिरि-गह्वरे**=पर्वत की गुफा में; **वसन्ति**=रहते हैं।।२८४।।

अर्थ : जो मनुष्य, विशुद्धता के भक्त हैं, अपने आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं;

वे उसकी सिद्धि के लिए पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं तथा अनुपम राज्य, इन्द्रिय-सुख और सम्पत्ति का सर्वथा त्याग कर देते हैं। राज्य आदि की ओर जरा भी चित्त को भटकने नहीं देते।।२८४।।

अब, विशुद्धि और चित्स्वरूप में स्थिति का संबंध दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात्, स्थितिस्तस्या विशुद्धता।**
तयो-रन्योन्य-हेतुत्व-मनुभूय प्रतीयताम्।।१८-२८५।।

हो विशुद्धि से स्थिति चिद्रूप में उससे बड़े।
नित विशुद्धि यों परस्पर, हेतुत्व जान उन्हें करें।।२८५।।

अन्वयार्थ : विशुद्धेः=विशुद्धि से; **चित्स्वरूपे**=चित्स्वरूप में; **स्थितिः**=स्थिति; **स्यात्**=होती है; **तस्याः**=उस/स्थिति से; विशुद्धता (बड़ती है); (इस प्रकार) **तयोः**= दोनों का; **अन्योन्य-हेतुत्वं**=पारस्परिक कारणपना; **अनुभूय**=जानकर; **प्रतीयतां**=प्रतीति करना चाहिए।।२८५।।

अर्थ : विशुद्धि होने से शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति होती है और विशुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति करने से विशुद्धि होती है, इसलिए इन दोनों को आपस में एक-दूसरे का कारण जानकर इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिए।

भावार्थ : जब तक विशुद्धता नहीं होती, तब तक शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति नहीं हो सकती और जब तक शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति नहीं होती, तब तक विशुद्धता नहीं आ सकती; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि इनमें एक दूसरे को आपस में कारण जानकर इन दोनों के स्वरूप को जानने के लिए पूर्ण उद्यम करें।।२८५।।

अब, दो पद्यों द्वारा विशुद्धि को प्रगट करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **विशुद्धिः परमो धर्मः, पुंसि सैव सुखाकरः।**
परमाचरणं सैव, मुक्तेः पंथाश्च सैव हि।।१९-२८६।।

तस्मात् सैव विधातव्या, प्रयत्नेन मनीषिणा।
प्रतिक्षणं मुनीशेन, शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनात्*।।२०-२८७।।युग्मं।।

* चिंतते - इति पाठः।

है विशुद्धि उत्तम धरम, वह ही सुखाकर जीव को।
है वही उत्तम आचरण, है मोक्षमार्ग वही सुनो।।२८६।।

इससे सदा ही यत्न पूर्वक, मनीषी मुनिवरों को।
'मैं शुद्ध चिद्रूप' चिन्तवन से, प्रतिक्षण कर्तव्य हो।।२८७।।

अन्वयार्थ : पुंसि=प्राणी में; **विशुद्धिः**=विशुद्धि; **परमः**=सर्वोत्कृष्ट; **धर्मः**=धर्म (है); **सा+एव**=वही; **सुख+आकरः**=सुख का भण्डार (है); **सा+एव**=वही; **परम+आचरणं**=सर्वोत्तम आचरण (है); **च**=और; **हि**=वास्तव में; **सा+एव**=वही; **मुक्तेः पन्थाः**=मोक्ष का मार्ग (है); **तस्मात्**=इसलिए; **मनीषिणा**=बुद्धिमान; **मुनि+ईशेन**=मुनि-श्रेष्ठ द्वारा; **प्रतिक्षणं**=प्रति-समय; **प्रयत्नेन**=प्रयत्न पूर्वक; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनात्**=शुद्ध-चिद्रूप के चिंतन से; **सा+एव**=वही; **विधातव्या**=प्राप्त करने-योग्य है।।२८६-२८७।।

अर्थ : यह विशुद्धि ही संसार में परम धर्म है, यही जीवों को सुख का देनेवाला, उत्तम चारित्र और मोक्ष का मार्ग है; इसलिए जो मुनिगण विद्वान हैं, जड़ और चेतन के स्वरूप के वास्तविक जानकार हैं; उन्हें चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से प्रयत्न पूर्वक विशुद्धि की प्राप्ति करें।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन के विना विशुद्धि की प्राप्ति होना असम्भव है; इसलिए विद्वान मुनि-गणों को इसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि यह विशुद्धि ही संसार में परम धर्म, सुख की देनेवाली, उत्तम चारित्र और मोक्ष का मार्ग है।।२८६-२८७।।

अब, विशुद्धता पाने की पात्रता बताते हैं —

अनुष्टुप् : **यावद्बाह्यांतरान् संगान्, न मुंचंति मुनीश्वराः।**
तावदायाति नो तेषां, चित्स्वरूपे विशुद्धता।।२१-२८८।।

जब तक मुनीश्वर बाह्य अन्तः, परिग्रह नहिं छोड़ते।
तब तक नहीं आती विशुद्धि, उन्हीं के चिद्रूप में।।२८८।।

अन्वयार्थ : मुनि+ईश्वराः=मुनीश्वर; **यावत्**=जब तक; **बाह्य-अंतरान्**=बहिरंग

* चिंतते - इति पाठः।

और अंतरंग; **संगान्**=परिग्रहों को; **न**=नहीं; **मुंचंति**=छोड़ते हैं; **तावत्**=तब तक; **तेषां**= उनके; **चित्स्वरूपे**=चित्स्वरूप में; **विशुद्धता**=पवित्रता; **नो**=नहीं; **आयाति**=आती है।।२८८।।

अर्थ : जब तक मुनि-गण बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का नाश नहीं कर देते; तब तक उनके चिद्रूप में विशुद्धपना नहीं आ सकता।

भावार्थ : स्त्री, पुत्र आदि को अपनाना, बाह्य परिग्रह है और राग-द्वेष आदि को अपनाना, अभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक इन दोनों प्रकार के परिग्रहों में ममता लगी रहती है, तब तक चिद्रूप विशुद्ध नहीं हो सकता; परन्तु ज्यों-ज्यों बाह्य, अभ्यन्तर - दोनों प्रकार के परिग्रह से ममता छूटती जाती है; त्यों-त्यों चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है; इसलिए जो मुनि-गण विशुद्ध-चिद्रूप के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे बाह्य, अभ्यन्तर - दोनों प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा ममता छोड़ दें।।२८८।।

अब, विशुद्धि का आश्रय लेने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **विशुद्धि-नाव-मेवात्र, श्रयंतु भव-सागरे।**
मज्जंतो निखिला भव्याः, बहुना भाषितेन किम्।।२२-२८९।।

इस भवोदधि में डूबते, सब भव्य आश्रय लो इसी।
सुविशुद्धि रूपी नाव का, बहु कथन से क्या? एक ही।।२८९।।

अन्वयार्थ : अत्र=यहाँ/इस विषय में; **बहुना**=अत्यधिक; **भाषितेन**=कहने से; **किं**=क्या (प्रयोजन है); **भव-सागरे**=संसार-सागर में; **मज्जंता**=निमग्न; **निखिला**=सभी; **भव्या**=भव्य; **विशुद्धि-नावं**=विशुद्धि नामक नौका का; **श्रयन्तु**=आश्रय लें।।२८९।।

अर्थ : ग्रन्थकार कहते हैं कि इस विषय में विशेष कहने से क्या प्रयोजन? प्रिय भव्यो! अनादि काल से आप लोग इस संसाररूपी सागर में गोता खा रहे हैं, अब आप इस विशुद्धिरूपी नौका का आश्रय लेकर संसार से पार होने के लिए पूर्ण उद्यम कीजिए।।२८९।।

अब, इसे ही विशेष दृढ़ करते हैं—

शालिनी : **आदेशोऽयं सद्गुरूणां रहस्यं, सिद्धांतानामेतदेवाखिलानाम्।**
कर्तव्यानां मुख्यकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः।।२३-२९०।।

सद् गुरु का आदेश यह, सब शास्त्र का है सार ही।
कर्तव्य में कर्तव्य पहला, करो निज चित् विशुद्धि।।२९०।।

अन्वयार्थ : यत्=जिससे; **स्वे**=अपने; **चित्स्वरूपे**=चित्स्वरूप में; **विशुद्धिः**= पवित्रता (हो); **एतत्**=यह; **कार्या**=करना चाहिए; **अयं**=यह; **सद्गुरूणां**=सद्गुरुओं का; **आदेशः**=आदेश (है); **एतत्+एव**=यही; **अखिलानां**=सम्पूर्ण; **सिद्धान्तानां**=सिद्धान्तों का; **रहस्यं**=सार है; **एतत्**=यह; **कर्तव्यानां**=कर्तव्यों में; **मुख्य-कर्तव्यं**=मुख्य कर्तव्य (है)।।२९०।।

अर्थ : अपने चित्स्वरूप में विशुद्धि प्राप्त करना - यही उत्तम गुरुओं का उपदेश है, समस्त सिद्धान्तों का रहस्य और समस्त कर्तव्यों में मुख्य कर्तव्य है।

भावार्थ : चिद्रूप को विशुद्ध किए विना किसी प्रकार का कल्याण नहीं हो सकता; इसलिए यही उत्तम गुरुओं का उपदेश समस्त सिद्धान्तों का रहस्य और कर्तव्यों में मुख्य कर्तव्य है कि चिद्रूप में विशुद्धि प्राप्त करो।।२९०।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा रचित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए विशुद्धि की प्राप्ति का उपाय'' प्रतिपादन करनेवाला २६८ से २९० पर्यंत २३ पद्यों-युक्त तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१३।।

चौदहवाँ अध्याय

अन्य कार्यों के करने पर भी शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण का उपदेश

अब, बुद्धिमानों की परिणति बताते हैं —

स्रग्धरा : **नीहाराहारपानं खमदनविजयं स्वापमौनासनं च,**
यानं शीलं तपांसि व्रतमपि कलयन्नागमं संयमं च।
दानं गानं जिनानां नुतिनतिजपनं मन्दिरं चाभिषेकं,
यात्रार्चे मूर्तिमेवं कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहम्।।१-२९१।।

नीहार भोजन पान इंद्रिय, कामजय निद्रा गमन।
प्रणाम आसन मौन आगम, शील तप व्रत संयम।।
अभिषेक जिन स्तुति पूजन, दान गान सु जाप जिन।
मूर्ति जिनालय तीर्थ यात्रा आदि में भाओ सुचित्।।२९१।।

अन्वयार्थ : सुमतिः=बुद्धिमान; **नीहार+आहार-पानं**=मल-मूत्र-विसर्जन, भोजन पान (करते हुए); **ख-मदन-विजयं**=इंद्रिय और काम को जीतते हुए; **स्वाप-मौन+आसनं**= नींद, मौन, आसन; **च**=और; **यानं**=गमन; **शीलं**=शील; **तपांसि**=तप; **व्रतं+अपि**=व्रत भी; **कलयन्**=करते हुए; **आगमं**=आगम; **च**=और; **संयमं**=संयम; **दानं**=दान; **गानं**=गीत; **जिनानां**=जिनेन्द्र भगवान की; **नुति-नति-जपनं**=स्तुति, नमन, जाप करते हुए; **मंदिरं**=मन्दिर; **च**=और; **अभिषेकं**=अभिषेक; **यात्रा**=तीर्थ-यात्रा; **अर्चे**=पूजन; **मूर्तिः**=प्रतिमा का निर्माण; **एवं**=इसी प्रकार के (अन्य भी कार्य करते हुए); **अहं**=मैं; **शुद्ध-चिद्रूपकः**=शुद्ध-चिद्रूप हूँ; (ऐसा) **कलयति**=चिन्तन करता रहता है।।२९१।।

अर्थ : बुद्धिमान पुरुष नीहार (मल-मूत्र त्याग करना), खाना, पीना, इंद्रिय और काम का विजय, सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान,

जिनेन्द्र भगवान की स्तुति, प्रणाम, जप, मन्दिर, अभिषेक, तीर्थ-यात्रा, पूजन और प्रतिमाओं के निर्माण आदि करते 'मैं शुद्ध-चिद्रूप स्वरूप हूँ' ऐसा भाते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुषों को मल-मूत्र त्याग, खाना, पीना, इंद्रिय और काम का विजय, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत आदि कार्य करने पड़ते हैं; इन्हें किए विना उनका काम चल नहीं सकता; उसी प्रकार 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' इस प्रकार के ध्यान के विना भी उनका कार्य नहीं चल सकता; इसलिए वे शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करते अन्य कार्य करते हैं।।२९१।।

आत्माराधना करनेवाला ही मोक्ष को प्राप्त करता है; अब यह बताते हैं —

स्रग्धरा : **कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं खजयजपतपोऽध्यापनं साधुसेवां,**
दानौघान्योपकारं यमनियमधरं स्वापशीलं दधानः।
उद्भीभावं च मौनं व्रतसमितिततिं पालयन् संयमौघं,
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापरः स्वर्गभाक् च।।२-२९२।।

करते यजन यात्रादि इंद्रिय-विजय जप तप अरु पठन।
पाठन गुरु सेवा नियम यम, शील संयम मौन व्रत।।
समिति विविध उपकार निर्भय, दान आदि सभी में।
चिद्रूप ध्यानी मोक्षगामी, अन्य जाएं स्वर्ग में।।२९२।।

अन्वयार्थ : यात्रा+अर्चना+आद्यं=तीर्थ-यात्रा, जिन-पूजन आदि; **ख-जय-जप-तप-अध्यापनं**=इन्द्रियों को जीतना, जाप-जपना, तप तपना, पढ़ाना; **साधु-सेवां**=साधुओं की सेवा; **दान+औघ+अन्य+उपकारं**=अनेक प्रकार का दान देना, परोपकार करना; **यम-नियम-धर**=यम और नियम को धारण करना; **स्वाप-शीलं**=निद्रा-जय के स्वभाव को; **दधानः**=धारण करना; **उत्-भी-भावं**=निर्भय रहना; **मौनं**=मौन रहना; **व्रत-समिति-ततिं**=व्रत, समिति के समूह का; **च**=और; **संयम+औघं**=संयम के समूह का; **पालयन्**=पालन करते हुए; (यदि) **चिद्रूप-ध्यान-रक्तः**=चिद्रूप के ध्यान में लीन; **भवति**=रहता है; (तो) **शिव-भाग्**=मोक्ष को प्राप्त करता है; **अपरः**=दूसरा; **न**=नहीं; **च**=और/वह कदाचित्; **स्वर्गभाक्**=स्वर्ग को प्राप्त करता है।।२९२।।

अर्थ : जो मनुष्य तीर्थ-यात्रा, भगवान की पूजन, इंद्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन (पढ़ाना), साधुओं की सेवा, दान, अन्य का उपकार, यम, नियम, शील, भय का अभाव, मौन, व्रत और समिति का पालन एवं संयम का आचरण करता हुआ शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में रत है, उसे तो मोक्ष की प्राप्ति होती है और उससे अन्य अर्थात् जो शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान न कर तीर्थ-यात्रा आदि को ही करनेवाला है, उसे नियम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : तीर्थ-यात्रा, भगवान की पूजन, इंद्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन, साधुओं की सेवा आदि कार्य सर्वदा शुभ हैं। यदि इनके साथ शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में अनुराग किया जाए तो मोक्ष की प्राप्ति होती है और शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान न कर केवल तीर्थ-यात्रा आदि का ही आचरण किया जाए, तब स्वर्ग-सुख मिलता है; इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा आदि के साथ शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान अवश्य करें। यदि वे शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान न भी कर सकें तो तीर्थ-यात्रा, भगवान की पूजन आदि कार्य तो अवश्य करना चाहिए; क्योंकि इनका आचरण करने से भी स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है।।२९२।।

अब, सोदाहरण स्वरूप-स्थिरता-हेतु प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **चित्तं निधाय चिद्रूपे, कुर्याद् वागंगचेष्टितम्।**
सुधीर्निरंतरं कुंभे यथा पानीयहारिणी।।३-२९३।।

पनिहारिणी घटवत् करें, तन वचन चेष्टा चित्त को।
कर लीन शुद्ध चिद्रूप में, नित विज्ञ चाहो मोक्ष को।।२९३।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **पानीयहारिणी**=पनिहारी की दृष्टि; **कुम्भे**=घड़े पर (स्थिर रहती है); (उसी प्रकार) **सुधीः**=सम्यग्ज्ञानी; **निरंतरं**=सदैव; **चिद्रूपे**=चिद्रूप में; **चित्तं**=मन/उपयोग को; **निधाय**=रखकर/लगाकर; **वाक्-अंग-चेष्टितं**=वचन और शरीर की चेष्टा; **कुर्यात्**=करें।।२९३।।

अर्थ : जो मनुष्य विद्वान हैं, संसार के संताप से रहित होना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे घड़े में पनिहारी के समान शुद्ध-चिद्रूप में अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करें।

भावार्थ : जिस प्रकार पनिहारी जल से भरे हुए घड़े में अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करती है; उसी प्रकार जो मनुष्य संसार के सन्ताप से खिन्न हैं और उससे रहित होना चाहते हैं; उन्हें भी चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप में अपना मन स्थिर कर उसकी प्राप्ति के लिए वचन और शरीर का व्यापार करें; क्योंकि शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से समस्त सन्ताप का नाश होता है और शान्तिमय सुख मिलता है।।२९३।।

अब, चार पद्यों द्वारा स्वरूप-स्थिरता का फल बताते हैं—

अनुष्टुप् : **वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य, संगं हित्वा द्विधा ततः।**
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य, ततः स्वीकृत्य संयमम्।।४-२९४।।
अधीत्य सर्वशास्त्राणि, निर्जने निरुपद्रवे।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचिन्तां धृत्वा शुभासनम्।।५-२९५।।
पदस्थादिकमभ्यस्य, कृत्वा साम्यावलम्बनम्।
मानसं निश्चलीकृत्य, स्वं चिद्रूपं स्मरंति ये।।६-२९६।।
पापानि प्रलयं यांति, तेषामभ्युदयप्रदः।
धर्मो विवर्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते।।७-२९७।।चतुष्कलं।।

वैराग्य पा मन वचन तन से, छोड़ दोनों परिग्रह।
तत्त्वज्ञ सद्गुरु शरण ले, अब संयमादि कर ग्रहण।।२९४।।

सब शास्त्र पढ़ निर्विघ्न, निर्जन थल निवास करे सदा।
सब अन्य चिन्ता छोड़, शुभ आसन लगा पदस्थादि का।।
अभ्यास कर ले साम्य आलम्बन करे चित निश्चली।
निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण ध्यानादि करते हैं यही।।२९५-२९६।।
सब पाप उनके नष्ट, नित कल्याण प्रद सद्धर्म की।
वृद्धि सदा नित धर्म होता, मोक्षदायी भी यही।।२९७।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **त्रिविध**=(मन, वचन, काय रूप) तीन प्रकार से; **वैराग्यं**=वैराग्य को; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **ततः**=उस कारण; **द्विधा**=(अंतरंग, बहिरंग रूप) दो प्रकार के; **संगं**=परिग्रह को; **हित्वा**=छोड़कर; **तत्त्वविद्-गुरुं**=तत्त्व-वेत्ता गुरु का; **आश्रित्य**=आश्रय

कर; **ततः**=उनसे; **संयमं**=संयम को; **स्वीकृत्य**=स्वीकार कर; **सर्व-शास्त्राणि**=सभी शास्त्रों का; **अधीत्य**=अध्ययन कर; **निर्जने**=निर्जन; **निरुपद्रवे**=उपद्रव-रहित; **स्थाने**=स्थान में; **स्थित्वा**=स्थित होकर; **अन्य-चिंतां**=दूसरी चिंता को; **विमुच्य**=विशेष रूप से छोड़कर; **शुभ+आसनं**=शुभ-आसन को; **धृत्वा**=धारण कर; **पदस्थ+आदिकं**=पदस्थ आदि ध्यानों का; **अभ्यस्य**=अभ्यास कर; **साम्य+अवलम्बनं**=समता का आश्रय; **कृत्वा**=कर; **मानसं**=मन/उपयोग को; **निश्चली-कृत्य**=निश्चल/स्थिर कर; **स्वं**=अपने; **चिद्रूपं**=चिद्रूप का; **स्मरन्ति**=स्मरण करते हैं; **तेषां**=उनके; **पापानि**=पाप; **प्रलयं-यान्ति**=प्रलय को प्राप्त/नष्ट हो जाते हैं; **अभ्युदय-प्रदः**=लौकिक-सुख/स्वर्गादि प्रदान करनेवाला; **धर्मः**=धर्म; **विवर्धते**=विशेषरूप से बड़ता है; **च**=और; **मुक्ति-प्रदः**=मोक्ष प्रदान करनेवाला; **धर्मः**=धर्म; **जायते**=उत्पन्न होता है।।२९४-२९७।।

अर्थ : जो महानुभाव मन से, वचन से और काय से वैराग्य को प्राप्त होकर, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर, तत्त्ववेत्ता गुरु का आश्रय और संयम को स्वीकार कर, समस्त शास्त्रों के अध्ययन पूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थान में रहते हैं और वहाँ समस्त प्रकार की चिन्ताओं का त्याग, शुभ आसन का धारण; पदस्थ, पिण्डस्थ आदि ध्यानों का अवलम्बन, समता का आश्रय और मन का निश्चलपना धारण कर शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान करते हैं, उनके समस्त पाप जड़ से नष्ट हो जाते हैं, नाना प्रकार के कल्याणों को करनेवाले धर्म की वृद्धि होती है और उससे उन्हें मोक्ष मिलता है।

भावार्थ : चिद्रूप का स्मरण करना संसार में अतिशय कठिन है; क्योंकि जो मनुष्य मन, वचन और काय से वैरागी; स्त्री, पुत्र आदि में ममत्व न रखनेवाला, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्यागी, तत्त्वों के जानकार गुरुओं का उपासक, परम संयमी, समस्त शास्त्रों का वेत्ता, निर्जन और निरुपद्रव वनों में निवास करनेवाला, सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित, शुभ आसन, पदस्थ आदि ध्यान और समता का अवलम्बी होगा तथा जिसका मन बाह्य पदार्थों में चंचल न होकर निश्चल होगा; वही शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण कर सकेगा। शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करनेवाले इन पुरुष को ही समस्त पापों का नाश, सर्वोत्तम धर्म की वृद्धि और मोक्ष का लाभ होगा; इसलिए सुख के अभिलाषी जीवों को चाहिए कि वे उपर्युक्त बातों के साधन मिलाकर शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण का अवश्य प्रयत्न करें।।२९४-२९७।।

चिद्रूप के चिन्तन से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं; इसे सोदाहरण निरूपित करते हैं —

शार्दूल-विक्रीड़ित : **वार्वाताग्न्यमृतोषवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा,**
सूर्येण प्रियभाषितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयम्।
अग्न्यब्दागविषं मलागफणिनोऽज्ञानं गदेभव्रजाः,
रात्रिर्बैरमिहावनावघचयश्चिद्रूप - संचिंतया।।८-२९८।।

ज्यों जल अनल का अनिल घन का, आग तरु का सुधा विष।
का क्षार मैल का बज्र गिरि का, गरुड़ अहि का रवी निश।।
का सिंह गज का रोग का औषध मधुर भाषण करे।
सब बैर का अज्ञान का नित ज्ञान क्षण में क्षय करे।।
इत्यादि बहुविध वस्तुएं, बलवान हो ज्यों क्षय करें।
त्यों शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि, सकल अघ का क्षय करें।।२९८।।

अन्वयार्थ : इह=यहाँ; **अवनौ**=पृथ्वी पर; **यथा**=जैसे; (क्रमशः); **वाः-वात-अग्नि-अमृत-उष-वज्र-गरुड-ज्ञान-औषध-इभ+अरिणा-सूर्येण-च-प्रिय-भाषितेन**=जल, वायु, अग्नि, अमृत, क्षार, बज्र, गरुड़, ज्ञान, औषधी, हाथी के शत्रु/सिंह, सूर्य और मधुर-वाणी द्वारा; **क्षणेन**=क्षण-भर में; **अग्नि-अब्द-अग-विषं-मल-अग-फणिनः-अज्ञानं-गद-इभ-व्रजाः-रात्रिः-बैरं**=(क्रम से) अग्नि, मेघ, वृक्ष, विष, मैल, पर्वत, सर्प, अज्ञान, रोग, हाथिओं का समूह, रात्रि, बैर; **क्षयं**=विनष्ट; **यांति**=हो जाते हैं; (उसी प्रकार) **चिद्रूप-संचिन्तया**=चिद्रूप के यथार्थ चिंतन से; **अघ-चयः**=पापों का समूह (समाप्त हो जाता है)।।२९८।।

अर्थ : जिस प्रकार जल अग्नि का क्षय करता है, पवन मेघ का, अग्नि वृक्ष का, अमृत विष का, खार मैल का, बज्र पर्वत का, गरुड़ सर्प का, ज्ञान अज्ञान का, औषध रोग का, सिंह हाथियों का, सूर्य रात्रि का और प्रिय भाषण बैर का नाश करता है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से समस्त पापों का नाश होता है।

भावार्थ : जिन-जिन का आपस में विरोध होता है; उनमें बलवान विरोधी, दूसरे निर्बल विरोधी का अवश्य नाश करता है। जल-अग्नि, पवन-मेघ, अग्नि-वृक्ष, अमृत-विष, खार-मैल, बज्र-पर्वत, गरुड़-सर्प, ज्ञान-अज्ञान, औषध-रोग, सिंह-हाथी, सूर्य-रात्रि और

प्रिय भाषण-बैर का आपस में विरोध है। बलवान जल आदि, अग्नि आदि को नष्ट कर देते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप और पापों का आपस में विरोध है; इसलिए शुद्ध-चिद्रूप के सामने पाप जरा भी टिक नहीं सकते।।२९८।।

अब, पुनः चिद्रूप-ध्यान का फल बताते हैं—

वर्धंते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः।
तथा चिद्रूपसद्ध्यानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः।।९-२९९।।

ज्यों लगे तरुवर मेघ वर्षा से बड़ें त्यों धर्म भी।
चिद्रूप के सद्ध्यान से, नित बड़े हितकारक सभी।।२९९।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे, पूर्वं=पहले, जाता=उत्पन्न; **महीरुहाः**=वृक्ष; **मेघात्**=मेघ के जल से; **वर्धंते**=बड़ते हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **चिद्रूप-सत्-ध्यानात्**=चिद्रूप के यथार्थ ध्यान से; **अभ्युदय-प्रदः**=कल्याण प्रदान करनेवाला; **च**=और/मोक्ष-दायी; **धर्मः**=धर्म (बड़ता रहता है)।।२९९।।

अर्थ : जिस प्रकार पहले से उगे हुए वृक्ष, मेघ के जल से वृद्धि को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से धर्म भी वृद्धि को प्राप्त होता है और नाना प्रकार के कल्याणों को प्रदान करता है।

भावार्थ : धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के सिवाय वह कभी, किसी काल में भी दूसरे पदार्थों में नहीं रह सकता; किन्तु कर्मों के प्रबल पर्दा के पड़ जाने से उसका स्वरूप कुछ ढ़क जाता है, धर्माचरण करने में मनुष्यों के परिणाम नहीं लगते; परन्तु जिस प्रकार जमीन में पहले से ही उगे हुए वृक्ष, मेघ की सहायता से वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं और नाना प्रकार के फलों को प्रदान करते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान के द्वारा कर्मों के नष्ट हो जाने से धर्म भी वृद्धि को प्राप्त हो जाता है और उससे जीवों को अनेक प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है।।२९९।।

अब, पुनः इसे पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **यथा बलाहक-वृष्टेर्जायंते हरितांकुराः।**
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः, शुद्धचिद्रूपचिंतनात्।।१०-३००।।

ज्यों मेघ वर्षा से उगें, नित हरे अंकुर त्यों सदा।
मैं शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि से धरम हो मुक्तिदा।।३००।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **बलाहक-वृष्टेः**=मेघ-वर्षा से; **हरित+अंकुराः**=हरे अंकुर; **जायंते**=उत्पन्न हो जाते हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनात्**=शुद्ध-चिद्रूप के चिंतन से; **मुक्ति-प्रदः**=मोक्ष देनेवाला; **धर्मः**=धर्म; प्रगट होता है।।३००।।

अर्थ : जिस प्रकार मेघ से भूमि के अन्दर हरे-हरे अंकुर उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से मुक्ति प्रदान करनेवाला धर्म भी उत्पन्न होता है; अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से अनुपम धर्म की प्राप्ति होती है और उसकी सहायता से जीव मोक्ष-सुख का अनुभव करते हैं।।३००।।

अब, मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता को स्पष्ट करते हैं-

उपजाति: **व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने, निवासमंतर्बहिः संगमोचनम्।**
मौनं क्षमातापनयोगधारणं, चिच्चिंतयामा* कलयन् शिवं श्रयेत्।।११-३०१।।

व्रत पठन तप निर्जन निवासी, सब परिग्रह छोड़ता।
आतापनादि योग धारे, क्षमा मौनादि सदा।।
मैं शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि से सुध्याता आत्म का।
चिन्मय सुथिर निष्काम वह, नित मोक्ष वैभव ले सदा।।३०१।।

अन्वयार्थ : चित्-चिंतया=चिद्रूप के चिंतन के साथ; **व्रतानि**=व्रतों का पालन; **शास्त्राणि**=शास्त्रों का स्वाध्याय; **तपांसि**=तपश्चर्या; **निर्जने**=निर्जन स्थान में; **निवासं**=निवास; **अंतर्बहिः**=अंतरंग और बहिरंग; **संग-मोचनं**=परिग्रह का त्याग; **मौनं**=मौन; **क्षमा+आतापन-योग-धारणं**=क्षमा और आतापन-योग का धारण; **अमा**=ये सभी; **कलयन्**=करता हुआ; **शिवं**=मोक्ष को; **श्रयेत्**=प्राप्त करता है।।३०१।

अर्थ : जो विद्वान पुरुष शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन के साथ व्रतों का आचरण करता है; शास्त्रों का स्वाध्याय, तप का आराधन, निर्जन वन में निवास, बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग; मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है, उसे ही मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

* वाकलयन् - इति पाठः।

भावार्थ : व्रतों का आचरण, शास्त्रों का स्वाध्याय, तप का आराधन, निर्जन वन में निवास, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग को चाहे कितना भी धारण करो; जब तक उनके साथ-साथ शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन नहीं होगा; तब तक उनसे कभी भी मोक्ष-सुख प्राप्त नहीं होगा; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को चाहिए कि वे व्रत आदि के आचरण के साथ शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन अवश्य करें।।३०१।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग का लाभ बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूपके रक्तः, शरीरादि-पराङ्मुखः।**
राज्यं कुर्वन्न बन्धेत, कर्मणा भरतो यथा।।१२-३०२।।

निज शुद्ध चिद्रूपी निरत, तन आदि में ममता-रहित।
वह राज्य करते भी नहीं बाँधें करम ज्यों थे भरत।।३०२।।

अन्वयार्थ : शरीर+आदि-पराङ्मुखः=शरीर आदि से ममत्व नहीं करनेवाला; **शुद्ध-चिद्रूपके**=शुद्ध-चिद्रूप में; **रक्तः**=अनुरक्त (प्राणी); **राज्यं**=राज्य; **कुर्वन्**=करता हुआ (भी); **कर्मणा**=कर्म से; **बंधेत न**=बँधता नहीं है; **यथा**=जैसे; **भरतः**=भरत (चक्रवर्ती)।।३०२।।

अर्थ : जो पुरुष शरीर, स्त्री, पुत्र आदि से ममत्व छोड़कर शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग करनेवाला है, वह राज्य करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता; जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत।

भावार्थ : भगवान ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती राजा भरत छह खण्ड पृथ्वी के शासक थे। बत्तीस हजार मुकुट-बद्ध राजा उनके सेवक, छ्यानवें हजार आज्ञा-कारिणी रानियाँ और भी हाथी, घोड़ा आदि लाखों करोड़ों थे; तथापि शुद्ध-चिद्रूप के सिवाय अन्य किसी में उनका थोड़ा भी अनुराग नहीं था। वे सदा सबसे पराङ्मुख रहते थे, इसलिए जिस समय वे परिग्रह से सर्वथा ममत्व-रहित हो तपोवन गए, उस समय मुनिराज होते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया और समस्त कर्मों का नाश कर वे मोक्ष-शिला पर जा विराजे। भरत चक्रवर्ती के समान जो मनुष्य, शरीर आदि से ममत्व न कर शुद्ध-चिद्रूप में प्रेम करता है, वह राज्य का भोग करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता और मोक्ष-सुख का अनुभव करता है।।३०२।।

अब, इसे ही अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **स्मरन् स्व-शुद्धचिद्रूपं, कुर्यात्कार्य-शतान्यपि।**
तथापि न हि बध्येत धीमानशुभ-कर्मणा।।१३-३०३।।

निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण, करता अनेकों कार्य भी।
पर नहीं बँधता अशुभ कर्मों से विरक्त सदा सुधी।।३०३।।

अन्वयार्थ : स्व-शुद्ध-चिद्रूपं=अपने शुद्ध-चिद्रूप का; **स्मरन्**=स्मरण करता हुआ; **धीमान्**=बुद्धिमान; **शतानि+अपि**=सैकड़ों भी; **कार्य**=कार्य; **कुर्यात्**=करे; **तथापि**=तो भी; **अशुभ-कर्मणा**=अशुभ कर्म से; **हि**=वास्तव में; **बध्यते न**=बँधता नहीं है।।३०३।।

अर्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुष यदि सैकड़ों भी अन्य कार्य करे; तथापि उसके आत्मा के साथ किसी प्रकार के अशुभ-कर्म का बन्ध नहीं होता।

भावार्थ : बन्ध के होने में कारण ममत्व है। सैकड़ों कार्य करने पर भी यदि पर-पदार्थों में किसी प्रकार की ममता नहीं हो तो कदापि बन्ध नहीं हो सकता।।३०३।।

अब, इसका ही पुन: फल दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **रोगेण पीडितो देही, यष्टिमुष्ट्यादिताडित:।**
बद्धो रज्वादिभिर्दु:खी, न चिद्रूपं निजं स्मरन्।।१४-३०४।।

हो रोग पीड़ित लकड़ी मुट्ठी आदि से ताड़ित वदन।
हो बँधा रस्सी आदि से, पर दुखी नहिं चिद् स्मरण।।३०४।।

अन्वयार्थ : रोगेण=रोग से; **पीड़ित:**=पीड़ित; **यष्टि-मुष्टि+आदि-ताड़ित:**=लाठी, मुट्ठी/मुक्के आदि से पीटा गया; **रज्जु+आदिभि:**=रस्सी आदि से; **बद्ध:**=बँधा; **देही**=प्राणी; **निजं**=अपने; **चिद्रूपं**=चिद्रूप का; **स्मरन्**=स्मरण करता हुआ; **दु:खी**=दुखी; **न**=नहीं होता है।।३०४।।

अर्थ : जो मनुष्य स्व-शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करनेवाला है, चाहे वह कैसे भी रोग से पीड़ित क्यों न हो; लाठी, मुक्कों से ताड़ित और रस्सी आदि से भी बँधा हुआ क्यों न

हो; उसे जरा भी क्लेश नहीं होता; अर्थात् वह यह जानकर कि ये सारी व्याधियाँ शरीर में होती हैं, मेरे शुद्ध-चिद्रूप में नहीं और शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न है - रंच-मात्र भी दु:ख का अनुभव नहीं करता।।३०४।।

अब, इसे ही पुनः दृढ़ करते हैं—

अनुष्टुप् : **बुभुक्षया च शीतेन, वातेन च पिपासया।**
आतपेन भवेन्नार्तो, निजचिद्रूपचिंतनात्।।१५-३०५।।

बहु भूख प्यास पवन बहुत गर्मी सुशीतादि नहीं।
दे सकें दुख चिद्रूप निज के चिन्तनादि से सुखी।।३०५।।

अन्वयार्थ : निज-चिद्रूप-चिंतनात्=अपने चिद्रूप के चिंतन से; (प्राणी) **बुभुक्षया**=भूख से; **शीतेन**=ठंड से; **वातेन**=वायु से; **पिपासया**=प्यास से; **च**=और; **आतपेन**=आतप/गर्मी से; **आर्तः**=दुखी; **न**=नहीं; **भवेत्**=होता है।।३०५।।

अर्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से मनुष्य को भूख, ठण्ड, पवन, प्यास और आताप की भी बाधा नहीं होती। (भूख आदि की बाधा होने पर भी वह आनन्द ही मानता है)।।३०५।।

अब, इसे ही अन्य प्रकार से पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **हर्षो न जायते स्तुत्या, विषादो न स्वनिंदया।**
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोंऽगिनः।।१६-३०६।।

निज स्तुति से हर्ष नहीं, विषाद निन्दा से नहीं।
निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण, करता रहे माध्यस्थ्य ही।।३०६।।

अन्वयार्थ : स्वकीयं=अपने; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप का; **अन्वहं**=प्रतिदिन; **स्मरतः**=स्मरण करनेवाले; **अंगिनः**=प्राणी को; **स्तुत्या**=स्तुति से; **हर्षः**=हर्ष; **न**=नहीं; **स्व-निंदया**=अपनी निन्दा से; **विषादः**=खेद; **न**=नहीं; **जायते**=उत्पन्न होता है।।३०६।।

अर्थ : जो प्रतिदिन स्वकीय शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है, उसे दूसरे मनुष्यों से अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहीं होता और निन्दा सुनकर किसी प्रकार का विषाद नहीं होता; निन्दा, स्तुति - दोनों दशा में वह मध्यस्थरूप से रहता है।।३०६।।

अनुष्टुप् : **राग-द्वेषौ न जायेते, पर-द्रव्ये गतागते।**
शुभाशुभेंऽगिनः शुद्ध-चिद्रूपासक्त-चेतसः।।१७-३०७।।

पर द्रव्य मिलने बिछुड़ने, शुभ अशुभ में नहिं हों कभी।
राग द्वेष निज चिद्रूप-रत, आतम सुथिर मध्यस्थ ही।।३०७।।

अन्वयार्थ : शुभ+अशुभे=शुभ/हितकारी-अशुभ/अहितकारी; **गत+आगते**=गए-आए/बिछुड़े-मिले; **पर-द्रव्ये**=अन्य पदार्थ में; **शुद्ध-चिद्रूप+आसक्त-चेतसः**=शुद्ध-चिद्रूप में संतुष्ट चित्तवाले; **अंगिन**=प्राणी के; **राग-द्वेषौ**=राग और द्वेष; **जायेते न**=उत्पन्न नहीं होते हैं।।३०७।।

अर्थ : जिस मनुष्य का चित्त शुद्ध-चिद्रूप में आसक्त है; वह स्त्री, पुत्र आदि पर-द्रव्य के चले जाने पर द्वेष नहीं करता और उनकी प्राप्ति में अनुरक्त नहीं होता तथा अच्छी-बुरी बातों के प्राप्त हो जाने पर भी उसे किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं होता।।३०७।।

अब, इसे ही अन्य शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **न संपदि प्रमोदः स्यात्, शोको नापदि धीमताम्।**
आहो-स्वित्सर्वदात्मीय-शुद्ध-चिद्रूप-चेतसाम्।।१८-३०८।।

नहिं सम्पदा में हर्ष, शोक नहीं विपत्ती में कभी।
निज शुद्ध चिद्रूप में मगन मन, सुधी को नित साम्य ही।।३०८।।

अन्वयार्थ : आहोस्वित्=आश्चर्य है कि; **सर्वदा+आत्मीय-शुद्ध-चिद्रूप-चेतसां**=सदा अपने शुद्ध-चिद्रूप में मन/उपयोग लगानेवाले; **धीमतां**=बुद्धिमानों को; **संपदि**=संपत्ति में; **प्रमोदः**=हर्ष; **न**=नहीं; **स्यात्**=होता है; **आपदि**=विपत्ति में; **शोकः**=विषाद; **न**=नहीं (होता है)।।३०८।।

अर्थ : सदा निज शुद्ध-चिद्रूप में मन लगानेवाले बुद्धिमान को संपत्ति के प्राप्त हो जाने पर हर्ष और विपत्ति के आने पर विषाद नहीं होता है। वे सम्पत्ति और विपत्ति को समानरूप से मानते हैं।।३०८।।

अब, दो पद्यों द्वारा अप्रतिहत भाव से आत्माराधना की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **स्वकीयं शुद्ध-चिद्रूपं, ये न मुंचंति सर्वदा।**
गच्छंतोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि।।१९-३०९।।

तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्ध-चिद्रूप-चिंतने।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न।।२०-३१०।।युग्मं।।

निज शुद्ध चिद्रूप को नहीं, जो छोड़ते हैं कभी भी।
वे अन्य भव जाएं तथापि, दृढ़ाभ्यास तजें नहीं।।३०९।।

यों जान शुद्ध चिद्रूप, चिन्तन का सदा अभ्यास कर।
जिससे भयंकर दु:ख या मरणादि में भी सुरक्षित।।३१०।।

अन्वयार्थ : **ये**=जो; **स्वकीयं**=अपने; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप को; **सर्वदा**=कभी भी; **न**=नहीं; **मुंचति**=छोड़ते हैं; **ते**=वे; **अन्य-लोकं**=पर-भव में; **गच्छंता**=जाते हुए; **अपि**=भी; **हि**=वास्तव में; **सम्यक्-अभ्यासत:**=यथार्थ अभ्यास से; **न**=च्युत नहीं होते हैं; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतने**=शुद्ध-चिद्रूप के चिंतन में; **तथा**=उसी प्रकार का; **अभ्यासं**=अभ्यास; **सदा**=निरंतर; **कुरु**=करो; **यथा**=जिस प्रकार; **संक्लेशे**=संक्लेश में; **च**=और; **मरणे**=मरण में; **अपि**=भी; **तत्-विनाशं**=उसका विनाश; **न**=नहीं; **एति**=होता है।।३०९-३१०।।

अर्थ : जो महानुभाव आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का कभी त्याग नहीं करते; वे यदि अन्य भव में भी चले जाएँ तो भी उनके शुद्ध-चिद्रूप का अभ्यास नहीं छूटता। पहले भव में जैसी उनकी शुद्धरूप में लीनता रहती है, वैसी ही बनी रहती है; इसलिए हे आत्मन! तुम शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान का इस रूप से सदा अभ्यास करो; जिससे कि भयंकर दु:ख और मरण के प्राप्त हो जाने पर भी उसका विनाश न हो; वह ज्यों का त्यों बना रहे।।३०९-३१०।।

अब, दो पद्यों द्वारा ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **वदन्नन्यैर्हसन् गच्छन्, पाठ्यन्नागमं पठन्।**
आसनं शयनं कुर्वन्, शोचनं रोदनं भयम्।।२१-३११।।
भोजनं क्रोधलोभादि-कुर्वन् कर्मवशात् सुधी:।
न मुंचति क्षणार्धं *स शुद्धचिद्रूपचिंतनम्।।२२-३१२।।युग्मं।।

वे बोलते हँसते जिनागम, पढ़ाते पढ़ते हुए।
चलते शयन करते ठहरते, शोक रोदन भय करें।।३११।।

* स्व - इति पाठ:।

भोजन कषायादि कर्म-वश करें शुद्ध चिद्रूप का।
चिन्तन नहीं छोड़ें कभी, वे सुधी ध्याते निज सदा।।३१२।।

अन्वयार्थ : स:=वह; **सुधी:**=सम्यग्ज्ञानी; **कर्म-वशात्**=कर्म के वश; **अन्यै:**=अन्यों से; **वदन्**=बोलता हुआ; **हसन्**=हसता हुआ; **गच्छन्**=चलता हुआ; **आगमं**=आगम को; **पाठयन्**=पढ़ाता हुआ; **पठन्**=पढ़ता हुआ; **आसनं**=आसन/बैठना; **शयनं**=सोना; **कुर्वन्**=करता हुआ; **शोचनं**=शोक; **रोदनं**=रुदन; **भयं**=भय; **भोजनं**=भोजन; **क्रोध-लोभ+आदिं**=क्रोध, लोभ आदि को; **कुर्वन्**=करता हुआ; **क्षण+अर्धं**=आधे क्षण को (भी); **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनं**=शुद्ध-चिद्रूप का चिंतन; **न**=नहीं; **मुंचति**=छोड़ता है।।३११-३१२।।

अर्थ : जो पुरुष बुद्धिमान हैं, यथार्थ में शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप के जानकार हैं; वे कर्मों के फन्द में फँसकर बोलते, हँसते, चलते, आगम को पढ़ाते, पढ़ते, बैठते, सोते, शोक करते, रोते, डरते, खाते, पीते और क्रोध, लोभ आदि को भी करते हुए क्षण भर के लिए भी शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप से विचलित नहीं होते; वे प्रति-क्षण शुद्ध-चिद्रूप का ही चिन्तन करते रहते हैं।।३११-३१२।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा रचित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है'' - इस बात को बतलानेवाला २९१ से ३१२ पर्यंत २२ पद्यों-युक्त चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१४।।

पन्द्रहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए पर-द्रव्यों के त्याग का उपदेश

अब, आत्माराधना-हेतु त्याग की प्रेरणा देते हैं—

स्रग्धरा : **गृहं राज्यं मित्रं जनक-जननीं भ्रातृ-पुत्रं कलत्रं,**
सुवर्णं रत्नं वा पुरं जनपदं वाहनं भूषणं वै।
खसौख्यं क्रोधाद्यं वसनमशनं चित्तवाक्कायकर्म-
त्रिधा मुंचेत् प्राज्ञः शुभमपि निजं शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै।।१-३१३।।

घर राज्य मित्र स्वर्ण माता, पिता सुत भ्राता तिया।
भूषण नगर जनपद सवारी, वस्त्र भोजन रत्न या।।
इंद्रियज सुख क्रोधादि तन, मन वचन तीनों कर्म भी।
अनुकूल भी तजते सुधी, पाने स्वयं चिद्रूप ही।।३१३।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूप-लब्ध्यै=शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए; **प्राज्ञः**=बुद्धिमान; **गृहं**=घर; **राज्यं**=राज्य; **मित्रं**=मित्र; **जनकं**=पिता; **जननीं**=माता; **भ्रातृ**=भाई; **पुत्रं**=बेटा; **कलत्रं**=पत्नी; **सुवर्णं**=सोना; **रत्नं**=रत्न; **वा**=अथवा; **पुरं**=नगर; **जनपदं**=जनपद; **वाहनं**=सवारी; **भूषणं**=आभूषण; **ख-सौख्यं**=इन्द्रिय-सुख; **क्रोध+आद्यं**=क्रोध आदि; **वसनं**=वस्त्र; **अशनं**=भोजन; **निजं**=अपने; **शुभं**=शुभ को; **अपि**=भी; **चित्त-वाक्-काय-कर्म-त्रिधा**=मन, वचन, काय के कर्मरूप तीनों प्रकार से; **मुंचेत्**=छोड़ दे।।३१३।।

अर्थ : बुद्धिमान मनुष्यों को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति करने के लिए शुभ होने पर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण, इंद्रिय-जन्य सुख, क्रोध, वस्त्र और भोजन आदि को मन, वचन और काय से सर्वथा त्याग देना चाहिए।

भावार्थ : यद्यपि संसार में घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वर्ण, रत्न, पुर, नगर, सवारी, इंद्रिय-जन्य सुख आदि से भी काम चलता है और शुभ भी है; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में बाधक हैं। जब तक इनकी ओर ध्यान रहता है, तब तक कदापि शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए घर, राज्य आदि का सर्वथा त्याग कर दें।।३१३।।

अब, मोह का फल बताते हैं—

शिखरिणी : **सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तक-धने,**
पुरादौ मंत्रादौ यशसि पठने राज्यकदने।
गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये,
कुधर्मे वांछा स्यात् सुरतरुमुखे मोहवशतः।।२-३१४।।

हो मोह-वश से सुत सुता, माता तिया तन घर नगर।
हैं ग्राम पुस्तक मन्त्र यश, गज सवारी इंद्रिय विषय।।
भोजन पठन गो मित्र स्वर्ग, कुधर्म सुरतरु राज्य में।
युद्धादि में वांछा सदा, निज भूल दोषी लोक में।।३१४।।

अन्वयार्थ : मोह-वशतः=मोह की अधीनता से; **सुत+आदौ**=पुत्र आदि में; **भार्या+आदौ**=पत्नी आदि में; **वपुषि**=शरीर में; **सदने**=घर में; **पुस्तक-धने**=पुस्तक, धन में; **पुर+आदौ**=नगर आदि में; **मंत्र+आदौ**=मंत्र आदि में; **यशसि**=कीर्ति में; **पठने**=पढ़ने में; **राज्य-कदने**=राज्य, युद्ध में; **गो+आदौ**=गाय आदि में; **भक्त+आदौ**= भोजन आदि में; **सुहृदि**=मित्र में; **दिवि**=स्वर्ग में; **वाहे**=वाहन में; **ख-विषये**=इन्द्रिय-विषय में; **कुधर्मे**=कुधर्म में; **सुरतरुमुखे**=कल्पवृक्ष आदि में; **वांछा**=कामना; **स्यात्**=होती है।।३१४।।

अर्थ : इस दीन जीव की मोह के वश से पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मंत्र, कीर्ति, ग्रन्थों का अभ्यास, राज्य, युद्ध, गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इंद्रियों के विषय, कुधर्म और कल्पवृक्ष आदि में वांछा होती है।

भावार्थ : जब तक इस जीव के मोह का उदय रहता है; तब तक यह पुत्र, पुत्री,

स्त्री, शरीर आदि पर-पदार्थों को अपनाता रहता है और उनके फंदे में फँसकर आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप को सर्वथा भुला देता है; परन्तु मोह का नाश होते ही इसे अपने-पराये का ज्ञान हो जाता है; इसलिए उस समय, पुत्र, धन आदि पदार्थों की ओर यह झाँककर भी नहीं देखता।।३१४।।

अब, आत्म-हित-हेतु स्वयं को संबोधित करते हैं—

स्रग्धरा : **किं पर्यायैर्विभावैस्तव हि चिदचितां व्यञ्जनार्थाभिधानै:,**
राग-द्वेषाग्नि-बीजैर्जगति परिचितै: कारणै: संसृतेश्च।
मत्वैवं त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मंक्षु तेषां,
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचलतयांतर्दृशा संविधेहि।।३-३१५।।

चेतन अचेतन सभी व्यंजन, अर्थ पर्यायें कहीं।
विकृतमई राग द्वेष हेतु, सुचिर परिचित हैं सभी।।
संसार हेतु मान तज, अति शीघ्र चिन्तन आदि भी।
चिद्रूप अपने द्रव्य में, अन्तर्दृशी रह अचल ही।।३१५।।

अन्वयार्थ : राग-द्वेष+आग्नि-बीजै:=राग और द्वेष की प्रगटता की बीज; **च**=और; **संसृते:**=संसार की; **परिचितै:**=परिचित; **कारणै:**=कारणभूत; **चित्-अचितां**=चेतन और अचेतन की; **व्यंजन-अर्थ+अभिधानै:**=व्यंजन और अर्थ नामक; **विभावै:**=विभाव पर्यायों से; **चिदात्मन्**=हे चित् स्वरूपी आत्मा; **हि**=वास्तव में; **जगति**=जगत में; **तव**=तेरा; **किं**=क्या (प्रयोजन है); **एवं**=ऐसा; **मत्वा**=मानकर, (उन्हें) **परिहर**=छोड़ो; **तेषां**=उनका; **सततं**=निरंतर का; **चिंतनं**=चिंतन; **मंक्षु**=छोड़ो; **स्वे**=अपने; **शुद्धे**=शुद्ध; **चिति**=चैतन्य; **द्रव्ये**=द्रव्य में; **अचलतया**=निश्चलता पूर्ण; **अन्तर्दृशा**=अन्तर्दृष्टि से; **स्थितिं**=स्थिति को; **संविधेहि**=भली-भाँति करो।।३१५।।

अर्थ : हे चिदात्मन्! संसार में चेतन और अचेतन की जो अर्थ और व्यंजन पर्याय मालूम पड़ रही हैं, वे सब स्वभाव नहीं हैं; विभाव हैं, निन्दित हैं, राग-द्वेष आदि की और संसार की कारण हैं - ऐसा भले प्रकार निश्चय कर तुम इनका विचार करना छोड़ दो और आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप को अपनी अन्तर्दृष्टि से भले प्रकार पहिचान कर उसी में निश्चलरूप से स्थिति करो।

भावार्थ : यदि कोई अपना है तो शुद्ध-चिद्रूप ही है। शुद्ध-चिद्रूप से भिन्न कोई पदार्थ अपना नहीं है। राग-द्वेष, मतिज्ञान और नर-नारक आदि पर्यायों को अपने मानना भूल है; क्योंकि ये विभाव-पर्यायें हैं; स्वभाव नहीं; महा-निन्दित हैं। इनको अपनाने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और संसार में भ्रमण करना पड़ता है; इसलिए जो जीव निराकुलतामय सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे शरीर आदि पर्यायों का चिन्तन करना छोड़ दें और आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में प्रेम करें।।३१५।।

अब, तीव्र मोह का फल बताते हैं—

स्रग्धरा : **स्वर्णैरत्नैर्गृहैः स्त्रीसुतरथशिबिकाश्वेभभृत्यैरसंख्यै-**
र्भूषा-वस्त्रैः स्रगाद्यै-र्जनपद-नगरैश्चामरैः सिंह-पीठैः।
छत्रै-रस्त्रै-र्विचित्रै-र्वरतर-शयनै-र्भाजनै-र्भोजनैश्च,
लब्धैः पांडित्यमुख्यैर्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात्।।४-३१६।।

पाण्डित्य भोजन स्वर्ण रत्न, नगर चँवर सिंहासन।
घर सुत तिया रथ पालकी, हय भृत्य भूषण छत्र शयन।।
सब गाय माला वस्त्र अस्त्र, सुदेश आदि से सतत।
व्याकुल है तीव्र मोह से, फिर भी फसे इनमें सतत।।३१६।।

अन्वयार्थ : तीव्र-मोहात्=तीव्र मोह से; **पुरुषः**=यह प्राणी; **स्वर्णैः**=सुवर्ण से; **रत्नैः**=रत्नों से; **गृहैः**=घर से; **स्त्री-सुत-रथ-शिविका+अश्व+इभ-भृत्यैः**=पत्नी, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, सेवकों से; **असंख्यैः**=अनेक प्रकार के; **भूषा-वस्त्रैः**=आभूषण या वेश-भूषा, वस्त्रों से; **स्रग्+आद्यैः**=माला आदि से; **जनपद-नगरैः**=जनपद, नगरों से; **चामरैः**=चँवरों से; **सिंह-पीठैः**=सिंहासनों से; **छत्रैः**=छत्रों से; **अस्त्रैः**=अस्त्रों से; **विचित्रैः**=अनेक प्रकार की; **वर-तर-शयनैः**=श्रेष्ठतर शैयाओं से; **भाजनैः**=बर्तनों से; **च**=और; **भोजनैः**=भोजनों से; **लब्धैः**=प्राप्त हुए; **पाण्डित्य-मुख्यैः**=पाण्डित्य आदि से; **व्याकुलः**=व्याकुल; **न**=नहीं; **भवति**=होता है।।३१६।।

अर्थ : यह पुरुष मोह की तीव्रता से आकुलता के कारण-स्वरूप भी स्वर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन, विद्वत्ता आदि से व्याकुल नहीं होता।

भावार्थ : जहाँ चित्त को आकुलता नहीं रहती, वहीं शान्ति मिलती है। स्वर्ण, रत्न, घर, स्त्री आदि पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति में चित्त सदा व्याकुल बना रहता है; इसलिए उनको अपनाने से आत्मा निराकुल नहीं हो सकता; परन्तु यह जीव मोह की तीव्रता से ऐसा मूढ़ हो रहा है कि स्वर्ण, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों को अपनाने से अनन्त कष्ट भोगने पर भी यह जरा भी कष्ट नहीं मानता; उनसे रत्तीभर भी इसका चित्त व्याकुल नहीं होता।।३१६।।

अब, अज्ञानी की विपरीत मान्यता का निरूपण करते हैं—

स्रग्धरा : **रैगोभार्याः सुताश्वा गृहवसनरथाः क्षेत्रदासीभशिष्याः,**
कर्पूराभूषणाद्यापण-वन-शिविका बन्धु-मित्रायुधाद्याः।
मंचा वाप्यादि-भृत्यातप-हरण-खगाः सूर्यपात्रासनाद्याः,
दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमतिः सौख्यहेतून् किलैतान्।।५-३१७।।

धन गाय स्त्री सुता घोड़ा, घर कपूर दुकान वन।
गज वस्त्र रथ खेत शिष्य भाजन, पलंग भूषण बन्धु खग।।
नित छत्र बावड़ी भृत्य रवि, शस्त्रादि आसन पालकी।
दासी इत्यादि दुःख हेतु, हेतु सुख अज्ञ भा यही।।३१७।।

अन्वयार्थ : रै-गो-भार्याः=धन, गाय, पत्नी; **सुता+अश्वाः**=पुत्री, घोड़े; **गृह-वसन-रथाः**=घर, वसन/वस्त्र, रथ; **क्षेत्र-दासी+इभ-शिष्याः**=क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य; **कर्पूर+आभूषण+आदि+आपण-वन-शिविका**=कपूर, आभूषण आदि, वाजार, वन, पालकी; **बंधु-मित्र+आयुध+आद्याः**=बंधु, मित्र, शस्त्र आदि; **मंचा**=मंच अथवा पलंग; **वापी+आदि-भृत्य+आतप-हरण-खगाः**=बावड़ी आदि, सेवक, छत्र, पक्षी; **सूर्य-पात्र+आसन+आद्याः**= सूर्य, पात्र/बर्तन, आसन आदि; **अमी**=ये; **दुःखानां**=दुःखों के; **हेतवः**=कारण हैं; **विमतिः**=अज्ञानी; **एतान्**=इन; **हेतून्**=कारणों को; **किल**=वास्तव में; **सौख्य**=सुख; **कलयति**=मानता है।।३१७।।

अर्थ : देखो! इस बुद्धि-शून्य जीव की समझदारी! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री, अश्व, घर, वस्त्र, रथ, क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, कपूर, आभूषण, दुकान, वन, पालकी, बन्धु, मित्र, आयुध, मांच (पलंग) बावड़ी, भृत्य, छत्र, पक्षी, सूर्य, भाजन, आसन आदि पदार्थ

दु:ख के कारण हैं; जिन्हें अपनाने से जरा भी सुख नहीं मिलता है; उन्हें यह सुख के कारण मानता है। अपने मान रात-दिन उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता रहता है।।३१७।।

अब, हित-कारी मार्ग-दर्शन देते हैं —

अनुष्टुप् : **हंस! स्मरसि द्रव्याणि, पराणि प्रत्यहं यथा।**
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्ति: किं ते न हस्तगा।।६-३१८।।

हे आत्मन! ज्यों प्रति समय, पर द्रव्य याद करे सभी।
त्यों करे शुद्ध चिद्रूप चिन्तन, ध्यान तो फिर मुक्ति ही।।३१८।।

अन्वयार्थ : हंस!=हे आत्मा; **यथा**=जैसे; **प्रत्यहं**=प्रतिदिन; **पराणि**=अन्य; **द्रव्याणि**=द्रव्यों का; **स्मरसि**=स्मरण करते हो; **तथा**=उस प्रकार; **चेत्**=यदि; **शुद्ध-चिद्रूपं**=शुद्ध-चिद्रूप का (स्मरण करोगे, तो); **किं**=क्या; **मुक्ति:**=मोक्ष; **ते**=तुम्हारे; **हस्तगा-न**=हाथ में आया हुआ/प्रगट हुआ नहीं है।।३१८।।

अर्थ : हे आत्मन्! जिस प्रकार प्रतिदिन तुम पर-द्रव्यों का स्मरण करते हो; स्त्री, पुत्र आदि को अपना मान उन्हीं की चिन्ता में मग्न रहते हो; उसी प्रकार यदि तुम शुद्ध-चिद्रूप का भी स्मरण करो, उसी के ध्यान और चिन्तन में अपना समय व्यतीत करो तो क्या तुम्हारे लिए मोक्ष समीप न हो जाए? अर्थात् तुम बहुत शीघ्र ही मोक्ष-सुख का अनुभव करने लग जाओगे।।३१८।।

अब, उसे ही पुन: स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **लोकस्य चात्मनो यत्नं, रंजनाय करोति यत्।**
तच्चेन्निराकुलत्वाय, तर्हि दूरे न तत्पदम्।।७-३१९।।

ज्यों स्वयं पर के मनोरंजन, हेतु यत्न करें सदा।
त्यों निराकुलता हेतु, यत्न करो तो सौख्य मिले सदा।।३१९।।

अन्वयार्थ : लोकस्य=लोक को; **च**=और; **आत्मन:**=स्वयं को; **रंजनाय**=प्रसन्न रखने के लिए; **यत्**=जो/जितना; **यत्नं**=प्रयत्न; **करोति**=करता है; **तत्**=वह/उतना; **चेत्**=यदि; **निराकुलत्वाय**=निराकुलता के लिए (करे); **तर्हि**=तो; **तत्पदं**=वह/मोक्ष-पद; **दूरे**=दूर; **न**=नहीं है।।३१९।।

अर्थ : जिस प्रकार यह जीव अपने और लोक को रंजायमान करने के लिए प्रतिदिन उपाय करता रहता है; उसी प्रकार यदि निराकुलतामय मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए उपाय करे तो वह मोक्ष-स्थान उसके लिए जरा भी दूर न रहे; बहुत जल्दी प्राप्त हो जाए।।३१९।।

अब, इसे ही सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **रंजते परिणामः स्याद्, विभावो हि चिदात्मनि।**
निराकुले स्वभावः स्यात्, तं विना नास्ति सत्सुखम्।।८-३२०।।

नित मनोरंजन भाव विकृत, भाव दुखमय जानना।
निज निराकुल चिद्रूप भाव, सुखद उसी से सुख सदा।।३२०।।

अन्वयार्थ : रंजने=प्रसन्न रखने में (लगा); **परिणामः**=परिणाम; **हि**=वास्तव में; **विभावः**=विभाव/विकार; **स्यात्**=है; **निराकुले**=निराकुल; **चित्+आत्मनि**=चिदात्मा में (लगा परिणाम) **स्वभावः**=स्वभाव; **स्यात्**=है; **तं विना**=उसके अभाव में; **सत्सुखं**=यथार्थ सुख; **नास्ति**=नहीं है।।३२०।।

अर्थ : अपने और पर को रंजायमान करनेवाले चिदात्मा में जो जीव का परिणाम लगता है, वह तो विभाव-परिणाम ही है और निराकुल शुद्ध-चिद्रूप में जो लगता है, वह स्वभाव-परिणाम है तथा इस परिणाम से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है; उसके विना कदापि सच्चा सुख नहीं मिल सकता।।३२०।।

अब, संसार मात्र का त्याग करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **संयोग-विप्रयोगौ च, राग-द्वेषौ सुखासुखे।**
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं, दृश्येते तद् भवं त्यज।।९-३२१।।

नित यहाँ पर भव में भी दिखते, राग द्वेष मिलन गलन।
सुख दुःख आदि सदा ही, यों मान भव तज भज स्वयं।।३२१।।

अन्वयार्थ : तत्-भवे=उस भव में; **अत्र भवे**=इस भव में; **नित्यं**=सदा; **संयोग-विप्रयोगौ**=संयोग-वियोग; **राग-द्वेषौ**=राग-द्वेष; **च**=और; **सुख-असुखे**=सुख-दुःख; **दृश्येते**=देखे जाते हैं; (अतः) **तत् भवं**=उस संसार को (ही); **त्यज**=छोड़ दो।।३२१।।

अर्थ : क्या तो यह-भव और क्या पर-भव? दोनों भवों में जीव को संयोग,

वियोग, राग-द्वेष और सुख-दु:ख का सामना करना पड़ता है; इसलिए हे आत्मन्! तुम इस संसार का त्याग कर दो।

भावार्थ : इष्ट स्त्री-पुत्र आदि से मिलाप होना, संयोग है और उनसे जुदाई का नाम, वियोग है। पर-पदार्थों से प्रेम करना, राग और बैर रखना, द्वेष है। इष्ट-पदार्थों के सम्बन्ध से आत्मा में कुछ शान्ति होना, सुख और अशान्ति का होना, दु:ख है।

ये सब बातें इस-भव और पर-भव - दोनों भवों में प्रत्यक्ष देखने में आती हैं। इनके सम्बन्ध से सदा परिणामों में विकलता बनी रहती है; इसलिए हे आत्मन्! यदि तुम निराकुलतामय सुख का अनुभव करना चाहते हो तो तुम उसके मूल कारण संसार का ही सर्वथा त्याग कर दो; मोक्ष-स्थान को अपना घर बना लो।।३२१।।

अब, पुन: इसी मार्ग-दर्शन को अन्य शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **शास्त्राद् गुरो: सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मन:।**
तस्यावलम्बनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिम्।।१०-३२२।।

नित शास्त्र गुरु साधर्मि आदि से निजातम ज्ञान कर।
फिर अन्य संगति छोड़, इसका आश्रय ले मग्न रह।।३२२।।

अन्वयार्थ : शास्त्रात्=शास्त्र से; **गुरो:**=गुरु से; **च**=और; **सधर्मात्**=साधर्मी से; **आत्मन:**=आत्मा के; **ज्ञानं**=ज्ञान को; **उत्पाद्य**=उत्पन्न कर; **अन्य-संगतिं**=अन्य की संगति को; **मुंच**=छोड़ दो; **तस्य**=उसका; **अवलंबनं**=आश्रय; **कृत्वा**=करके; **तिष्ठ**=स्थित रहो।।३२२।।

अर्थ : शास्त्र, सद्गुरु और साधर्मी भाइयों से अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहिचानकर उसी (आत्मा) का अवलम्बन करो; उसी के स्वरूप का मनन, ध्यान और चिन्तवन करो; पर-पदार्थों का संसर्ग करना छोड़ दो; उन्हें अपने मत मानो।।३२२।।

अब, सहेतुक शोक-त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **अवश्यं च परद्रव्यं, नश्यत्येव न संशय:।**
तद्विनाशे विधातव्यो, न शोको धीमता क्वचित्।।११-३२३।।

पर द्रव्य योग मिटे नियम से, यहाँ संशय है नहीं।
उस नाश में नहिं शोक करते, साम्य रखते नित सुधी।।३२३।।

अन्वयार्थ : पर-द्रव्यं=अन्य द्रव्य; **अवश्यं च**=सुनिश्चित ही; **नश्यति+एव**=नष्ट ही होता है; (इसमें) **संशयः**=सन्देह; **न**=नहीं है; (अतः) **धीमता**=बुद्धिमान को; **क्वचित्**=कहीं भी; **तत्+विनाशे**=उसके नष्ट होने पर; **शोकः**=दुःख; **न**=नहीं; **विधातव्यः**=करना चाहिए।।३२३।।

अर्थ : जो पर-द्रव्य हैं, उनका नाश अवश्य होता है। कोई भी उनके नाश को नहीं रोक सकता; इसलिए जो पुरुष बुद्धिमान हैं; स्व-द्रव्य और पर-द्रव्य के स्वरूप के भले प्रकार जानकार हैं; उन्हें चाहिए कि वे उनके नष्ट होने पर कभी किसी प्रकार का शोक न करें।।३२३।।

अब, राग को व्यर्थ सिद्ध करते हैं —

अनुष्टप् : **त्यक्त्वा मां चिदचित्संगा, यास्यंत्येव न संशयः।**
तानहं वा च यास्यामि, तत्प्रीतिरिति मे वृथा ।।१२-३२४।।

चेतन अचेतन सब परिग्रह, मुझे छोड़ें नियम से।
या मैं इन्हें तज चला जाऊँ, व्यर्थ इनसे प्रीति है।।३२४।।

अन्वयार्थ : चित्+अचित्-संगा=चेतन और अचेतन परिग्रह; **मां**=मुझे; **त्यक्त्वा**=छोड़कर; **यास्यंति**=चले जाएंगे; **वा**=अथवा; **अहं च**=मैं भी; **तान्**=उन्हें (छोड़कर); **यास्यामि**=चला जाऊँगा; (इसमें) **संशयः**=सन्देह; **न**=नहीं है; **इति**=अतः; **तत्**=उनमें; **मे**=मेरी; **प्रीतिः**=प्रीति; **वृथा**=व्यर्थ है।।३२४।।

अर्थ : ये चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह अवश्य मुझे छोड़ देंगे और मैं भी सदा काल इनका संग नहीं दे सकता; मुझे भी ये अवश्य छोड़ देने पड़ेंगे; इसलिए मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है।

भावार्थ : स्त्री, पुत्र आदि चेतन; स्वर्ण, रत्न आदि अचेतन परिग्रह यदि सदा काल मेरे साथ रहें और मैं सदा काल इनके साथ रहूँ, तब तो इनके साथ मेरा प्रेम करना ठीक है; परन्तु मेरा तो इनके साथ जितने दिनों का सम्बन्ध है, उतने दिनों का है; अवधि के पूर्ण हो

जाने पर न मैं अधिक काल तक इनके साथ रह सकता हूँ और न ये ही मेरे साथ रह सकते हैं; इसलिए मेरा इन्हें अपनाना, इनके साथ प्रेम करना, निष्प्रयोजन है।।३२४।।

अब, तत्त्वावलम्बी की प्रवृत्ति बताते हैं—

अनुष्टुप् : **पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं, परद्रव्यस्य मे भवेत्।**
तद्धेयं किं न हेयानि, तानि तत्त्वावलंबिनः।।१३-३२५।।

परद्रव्य का जो ज्ञान शास्त्रों से मुझे है हेय वह।
निज तत्त्व अवलम्बी को पर सब हेय जानो ही नियत।।३२५।।

अन्वयार्थ : मे=मुझ; **तत्त्वावलंबिनः**=तत्त्वावलम्बी को; **पुस्तकैः**=पुस्तकों के द्वारा; **पर-द्रव्यस्य**=पर-द्रव्य का; **यत्**=जो; **परिज्ञानं**=विशेष ज्ञान; **भवेत्**=हुआ है; **तत्**=वह; **हेयं**=त्याग करने-योग्य है; (तब फिर) **तानि**=वे/पर-पदार्थ; **हेयानि**=हेय; **किं न**=क्यों नहीं होंगे।।३२५।।

अर्थ : मैं अब तत्त्वावलम्बी हो गया हूँ; अपने और पराए का मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है; इसलिए शास्त्रों से उत्पन्न हुआ पर-द्रव्यों का ज्ञान भी जब मेरे लिए हेय/त्यागने-योग्य है; तब उन पर-द्रव्यों के ग्रहण का त्याग तो अवश्य ही होना चाहिए; उनकी ओर झाँककर भी मुझे नहीं देखना चाहिए।

भावार्थ : यद्यपि आत्म-स्वरूप को जानने के लिए शास्त्र और गुरु आदि के उपदेश से पर-द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान करना पड़ता है; परन्तु जिसकी दृष्टि सर्वथा शुद्ध-चिद्रूप की ओर झुक गई है, जो तत्त्वावलम्बी हो गया है, उसके लिए जब पुस्तकों से होता पर-द्रव्य का ज्ञान भी हेय/त्यागने-योग्य है (क्योंकि वह शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में बाधक है); तब उसे पर-द्रव्यों का तो सर्वथा त्याग कर ही देना चाहिए; क्योंकि वे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में बलवान बाधक हैं। पर-द्रव्यों के अपनाने से तो शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।।३२५।।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के विना कृत-कृत्य दशा नहीं होती है; अब ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

स्रग्धरा : **स्वर्णै-र्रत्नैः कलत्रैः सुत-गृह-वसनै-र्भूषणं राज्यखार्थै-**
र्गोहस्त्यश्वैश्च पद्गैः रथ-वर-शिविका-मित्र-मिष्टान्न-पानैः।

चिंतारत्नैर्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-
चिद्रूपाप्तिं विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदा क्वापि कोऽपि।।१४-३२६।।

सुत घर वसन भूषण तिया, गो गज सुवर्ण राज हय।
सेना पदाति पालकी रथ, रत्न मित्र ख-विषय।।
उत्कृष्ट भोग मिष्ठान्न भोजन, पान चिन्तामणि रतन।
सुरतरु सुरधेनु विविध, निधिआँ सु वस्तु अनगिनत।।
इत्यादि बहु-विध भोग्य कोई, कहिं कभी नहिं तृप्ति-कर।
निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति से, होते सभी नित कृत्य-कृत।।३२६।।

अन्वयार्थ : **हि**=वास्तव में; **शुद्ध-चिद्रूप+आप्तिं विना**=शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के अभाव में; **कः+अपि**=कोई भी; **अंगी**=प्राणी; **कदा**=कभी भी; **क्व+अपि**=कहीं भी; **स्वर्णैः**=सुवर्ण से; **रत्नैः**=रत्नों द्वारा; **कलत्रैः**=स्त्रियों से; **सुत-गृह-वसनैः**=पुत्र, घर, वस्त्रों से; **भूषणैः**=आभूषणों से; **राज्य-ख+अर्थैः**=राज्य, इन्द्रियों के विषयों से; **गो-हस्ति+अश्वैः**= गाय, हाथी, घोड़ों द्वारा; **च**=और; **पदगैः**=पदाति सेना द्वारा; **रथ-वर-शिविका-मित्र-मिष्ट+अन्न-पानैः**=रथ, सर्वोत्तम पालकी, मित्र, मधुर भोजन-पान द्वारा; **चिंतारत्नैः**=चिंतामणि से; **निधानैः**=भण्डारों से; **सुरतरु-निवहैः**=कल्प-वृक्ष के समूहों से; **कामधेन्वा**=काम-धेनु से; **कृत-कृत्यः**=कृत-कृत्य/तृप्त; **न**=नहीं; **भवति**=हो सकता है।।३२६।।

अर्थ : कोई भी प्राणी क्यों न हो जब तक उसे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती; तब तक चाहे उसके पास स्वर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर, वस्त्र, भूषण, राज्य, इंद्रियों के उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदाति-सेना, रथ, पालकी, मित्र, महा-मिष्ट अन्न-पान, चिन्तामणि रत्न, खजाने, कल्प-वृक्ष, काम-धेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों; उनसे वह कहीं, किसी काल में भी कृत-कृत्य नहीं हो सकता।

भावार्थ : स्वर्ण, रत्न, हाथी, घोड़े आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं; सदा काल विद्यमान नहीं रह सकते और पर हैं; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप शाश्वत है, कभी भी इसका नाश नहीं हो सकता और निज है; इसलिए स्वर्ण आदि पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य कृत-कृत्य नहीं हो सकता है। संसार में उसे बहुत से कार्य करने के लिए बाकी रह जाते हैं;

किन्तु जिस समय शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है, उस समय कोई काम करने के लिए बाकी नहीं रहता। शुद्ध-चिद्रूप का स्वामी जीव सदा काल निराकुलतामय शाश्वत सुख का अनुभव करता रहता है।।३२६।।

अब, मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **परद्रव्यासनाभ्यासं, कुर्वन् योगी निरंतरम्।**
कर्मांगादिपरद्रव्यं, मुक्त्वा क्षिप्रं शिवी भवेत्।।१५-३२७।।

पर द्रव्य तजने का सतत, अभ्यास करता योगि ही।
तन कर्म सब पर द्रव्य तज, शिव सौख्य पाता शीघ्र ही।।३२७।।

अन्वयार्थ : निरंतरं=सतत; पर-द्रव्य-त्यजन+अभ्यासं=अन्य द्रव्यों के त्याग का अभ्यास; कुर्वन्=करता हुआ; योगी=योगी/साधक; क्षिप्रं=शीघ्र ही; कर्म+अंग+आदि-पर-द्रव्यं=कर्म, शरीर आदि अन्य द्रव्य को; मुक्त्वा=छोड़कर; शिवी=मुक्त; भवेत्=हो जाता है।।३२७।।

अर्थ : निरन्तर पर-द्रव्यों के त्याग का चिन्तन करनेवाला योगी शीघ्र ही कर्म और शरीर आदि पर-द्रव्यों से रहित हो जाता है और परमात्मा बन मोक्ष-सुख का अनुभव करने लगता है।।३२७।।

अब, बंध और मोक्ष के कारण का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **कारणं कर्मबन्धस्य, परद्रव्यस्य चिंतनम्।**
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य, तन्मोक्षस्यैव केवलम्।।१६-३२८।।

पर द्रव्य चिन्तन से बँधें, नित कर्म निज चिद्रूप के।
नित ध्यान से है मोक्ष, सब ही छूट जाते दुःख से।।३२८।।

अन्वयार्थ : पर-द्रव्यस्य=पर-द्रव्य का; **चिंतनं**=चिन्तन; **कर्म-बंधस्य**=कर्म-बंध का; **कारणं**=कारण (है); **विशुद्धस्य**=विशुद्ध; **स्व-द्रव्यस्य**=अपने द्रव्य का; **तत्**=वह/चिंतन; **केवलं**=एक-मात्र; **मोक्षस्य+एव**=मोक्ष का ही (कारण है)।।३२८।।

अर्थ : स्त्री, पुत्र आदि पर-द्रव्यों के चिन्तन से केवल कर्म-बन्ध होता है और स्व-

द्रव्य, विशुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से केवल मोक्ष-सुख ही प्राप्त होता है; संसार में भटकना नहीं पड़ता।।३२८।।

अब, इसे ही पुनः पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **प्रादुर्भवन्ति निःशेषा, गुणाः स्वाभाविकाश्चितः।**
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे पर-द्रव्य-वियोजनात्।।१७-३२९।।

पर द्रव्य तजने से प्रगट, परिपूर्ण स्वाभाविक सभी।
निज चेतना के गुण, मिटें सब दोष निश्चित शीघ्र ही।।३२९।।

अन्वयार्थ : सर्वे=समस्त; **पर-द्रव्य-वियोजनात्**=अन्य-द्रव्यों के पूर्णतया त्याग से; **अहो**=आश्चर्य है कि; **चितः**=चेतन के; **निश्शेषा**=सम्पूर्ण; **स्वाभाविकाः**=स्वाभाविक; **गुणाः**=गुण; **प्रादुर्भवंति**=प्रगट हो जाते हैं; (और) **दोषा**=दोष; **नश्यंति**=नष्ट हो जाते हैं।।३२९।।

अर्थ : समस्त पर-द्रव्यों के त्याग से, उन्हें न अपनाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण-केवलज्ञान आदि प्रगट होते हैं और दोषों का नाश होता है।।३२९।।

अब, मुक्ति को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **समस्त-कर्म-देहादि-परद्रव्य-विमोचनात्।**
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या, सा मुक्तिरिति कथ्यते।।१८-३३०।।

तन कर्म सब पर-द्रव्य, तजने से निजातम प्राप्ति।
परिपूर्ण शुद्ध दशामई, कहते उसे हैं मुक्ति ही।।३३०।।

अन्वयार्थ : समस्त-कर्म-देह+आदि-पर-द्रव्य-विमोचनात्=सभी कर्म, शरीर आदि पर-द्रव्यों के पूर्णतया त्याग से; **या**=जो; **शुद्ध-स्व+आत्मा+उपलब्धिः**=अपने शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है; **सा**=वह; **मुक्तिः**=मुक्ति है; **इति**=ऐसा; **कथ्यते**=कहा गया है।।३३०।।

अर्थ : कर्म और शरीर आदि पर-द्रव्यों के सर्वथा त्याग से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होती है और उसे ही यति-गण मोक्ष कहकर पुकारते हैं।

भावार्थ : समस्त कर्मों का नाश हो जाना, मोक्ष बतलाया है और वही विशुद्ध-चिद्रूप है; क्योंकि विशुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति समस्त कर्मों के नाश से होती है; इसलिए विशुद्ध-चिद्रूप और मोक्ष के नाम में भेद होने पर भी अर्थ में कुछ भी भेद नहीं है।।३३०।।

अब, पर-द्रव्य के त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुप् : **अतः स्व-शुद्ध-चिद्रूप-लब्धये तत्त्वविन्मुनिः।**
वपुषा मनसा वाचा, पर-द्रव्यं परित्यजेत्।।१९-३३१।।

यों अतः निज शुद्धात्म चिन्मय, प्राप्ति-हेतु तत्त्व-विद।
मुनि मन वचन तन सभी पर-द्रव्य छोड़ ध्याते स्वयं नित।।३३१।।

अन्वयार्थ : अतः=इसलिए; **तत्त्व-वित्-मुनिः**=तत्त्व-वेत्ता मुनि; **स्व-शुद्ध-चिद्रूप-लब्धये**=अपने शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए; **वपुषा**=शरीर से; **मनसा**=मन से; **वाचा**=वचन से; **पर-द्रव्यं**=अन्य-द्रव्य को; **परित्यजेत्**=भली-भाँति छोड़ दें।।३२१।।

अर्थ : इसलिए जो मुनिगण भले प्रकार तत्त्वों के जानकार हैं, स्व और पर का भेद पूर्णरूप से जानते हैं; वे विशुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए मन, वचन और काय से पर-द्रव्य का सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनमें जरा भी ममत्व नहीं करते।।३३१।।

अब, मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता का प्ररूपण करते हैं—

शालिनी : **दिक्चेलैको हस्त-पात्रो निरीहः, साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी।**
मौनी कर्मौघेभसिंहो विवेकी, सिद्ध्यै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽभिरक्तः।।२०-३३२।।

जो हैं दिगम्बर, हस्तपात्राहारि निर्वांछक सदा।
मौनी तपस्वी साम्यमय, कर्मौघ-गज को सिंह सदा।।
वे विवेकी नित शुद्ध चिद्रूप लीन अपने में निरत।
पाते सदा सिद्धि वही, ईश्वर सु स्वस्थमई सतत।।३३२।।

अन्वयार्थ : दिक्-चेल+एकः=दिशा रूप एक वस्त्रवाले/नग्न-दिगम्बर; **हस्त-पात्रः**=हाथ रूपी वर्तन में आहार लेनेवाले/कर-पात्री; **निः+ईहः**=सभी इच्छाओं से रहित; **साम्य+आरूढः**=समता का आश्रय लेनेवाले; **तत्त्व-वेदी**=तत्त्वों के जानकार; **तपस्वी**=तप करनेवाले; **मौनी**=मौनी; **कर्म+औघ+इभ-सिंहः**=कर्म-समूह रूपी हाथियों

को नष्ट करने के लिए सिंह-समान; **विवेकी**=भेद-विज्ञानी; **सिद्धयै**=मुक्ति के लिए; **स्व**=अपने; **चित्स्वरूपे**=चित्स्वरूप में; **अभिरक्तः**=अनुरक्त/स्थिर; **स्यात्**=रहें।।३३२।।

अर्थ : जो मुनि दिगम्बर, पाणि-पात्रवाले, समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित, समता के अवलम्बी, तत्त्वों के वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियों का विदारण करने में सिंह, विवेकी और शुद्ध-चिद्रूप में लीन हैं; वे ही परमात्म-पद प्राप्त करते हैं; वे ही ईश्वर कहे जाते हैं; अन्य नहीं।।३३२।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा रचित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए पर-द्रव्यों के त्याग'' का प्रतिपादन करनेवाला ३१३ से ३३२ पर्यंत २० पद्यों-युक्त पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१५।।

सोलहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिए निर्जन स्थान का उपदेश

निर्जन-स्थान किस-किस का साधन है; अब, इसका निरूपण करते हैं—

शार्दूलविक्रीड़ितः **सद्बुद्धेः पररंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च,**
ग्रन्थार्थ-ग्रहणस्य मानस-वचो-रोधस्य बाधा-हतेः।
रागादि-त्यजनस्य काव्यज-मतेश्चेतो विशुद्धेरपि,
हेतुः स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकम्।।१-३३३।।

सद्ज्ञान पर रंजन निराकुल, साम्य शास्त्रार्थ ग्रहण।
मन वचन रोध सुनष्ट बाधा, राग द्वेषादि त्यजन।।
हो काव्य में एकाग्र-धी, मन विशुद्धि स्वाधीन सुख।
निज ध्यान आदि के लिए, सब कहें निर्जन योग्य थल।।३३३।।

अन्वयार्थ : **अहो**=आश्चर्य है कि; **सत्-बुद्धेः**=अच्छी बुद्धि का; **पर-रंजन+आकुल-विधि-त्यागस्य**=अन्य को प्रसन्न करने की आकुलता के प्रसंग-त्याग का; **च**=और; **साम्यस्य**=समता का; **ग्रन्थ+अर्थ-ग्रहणस्य**=ग्रन्थों के अर्थ-ग्रहण का; **मानस-वचः-रोधस्य**=मन और वचन के निरोध का; **बाधा-हतेः**=विघ्नों के नाश का; **राग+आदि-त्यजनस्य**=राग आदि के त्याग का; **काव्य-ज-मतेः**=काव्य-उत्पन्न करनेवाली बुद्धि का; **चेतः**=मन की; **विशुद्धेः**=विशुद्धि का; **अपि**=भी; **स्व+उत्थ-सुखस्य**=आत्मा से उत्पन्न सुख का; **वा**=अथवा; **ध्यानस्य**=ध्यान का; **हेतुः**=साधन; **निर्जनं**=निर्जन/सुनसान; **स्थानकं**=स्थानक (है)।।३३३।।

अर्थ : उत्तम-ज्ञान, पर को रंजायमान करने में आकुलता का त्याग, समता, शास्त्रों के अर्थ का ग्रहण, मन और वचन का निरोध, बाधा-विघ्नों का नाश, राग-द्वेष आदि का

त्याग, काव्यों में बुद्धि का लगना, मन की निर्मलता, आत्मिक सुख का लाभ और ध्यान, निर्जन एकान्त स्थान का आश्रय करने से ही होता है।

भावार्थ : जब तक उत्तम-ज्ञान, समता, शास्त्र, ध्यान और उत्तम आत्मिक सुख आदि प्राप्त नहीं होते; तब तक किसी प्रकार से आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती और उनकी प्राप्ति एकान्त स्थान के आश्रय से ही होती है; इसलिए जो मनुष्य उत्तम-ज्ञान आदि के अभिलाषी हैं; उन्हें चाहिए कि वे पवित्र और एकान्त स्थान का आश्रय अवश्य करें।।३३३।।

अब, शिवार्थी के लिए जन-सम्पर्क व्यर्थ है; ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

अनुष्टुप् : **पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति, केनचिन्मे प्रयोजनम्।**
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्तिना वा शिवार्थिनः।।२-३३४।।

अति निकटवर्ती मित्र शत्रु, मध्यगत से नहिं मुझे।
कुछ प्रयोजन मैं मोक्ष इच्छुक, नहिं सहायक ये मुझे।।३३४।।

अन्वयार्थ : मे=मुझ; **शिव+अर्थिनः**=मोक्ष-इच्छुक के लिए; **पार्श्ववर्ती+अंगिना** =निकटवर्ती प्राणिओं से; **मित्रेण**=मित्र से; **शत्रुणा**=शत्रु से; **वा**=अथवा; **मध्यवर्तिना**= मध्यस्थ से; **केनचित्**=किसी भी प्रकार का; **प्रयोजनं**=प्रयोजन; **नास्ति**=नहीं है।।३३४।।

अर्थ : मैं शिवार्थी हूँ, अपने आत्मा को निराकुलतामय सुख का आस्वाद कराना चाहता हूँ; इसलिए मुझे शत्रु, मित्र और मध्यस्थ - किसी भी पास में रहनेवाले जीव से कोई प्रयोजन नहीं है; अर्थात् पास में रहनेवाले जीव, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ - सब मेरे कल्याण के बाधक हैं।।३३४।।

जन-सम्पर्क आकुलता-वृद्धि का कारण है; इसे अब, सोदाहरण स्पष्ट करते हैं —

स्रग्धरा : **इन्द्रोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतबलं वर्धते मेघ-वृष्टे-**
र्मोहानां कर्म-बन्धो गद इव पुरुषस्यामभुक्तेरवश्यम्।
नाना-वृत्ताक्षराणामवनि-वरतले छंदसां प्रस्तरश्च,
दुःखौघागो विकल्पास्रववचनकुलं पार्श्ववर्त्यंगिनां हि।।३-३३५।।

ज्यों चन्द्र से सागर सरित जल मेघ वर्षा से करम।
बन्धन विकारों से, अपक्वाहार से रोगादि सब।।

बहु विविध छन्दों अक्षरों से काव्य कोश सदा बड़ें।
त्यों निकटवर्ती जनों से, बहु दुख वचन चिन्ता बड़ें।।३३५।।

अन्वयार्थ : इव=समान/जैसे; **इंदो:**=चन्द्रमा की; **वृद्धौ**=वृद्धि से; **समुद्र:**=सागर; **मेघ-वृष्टे:**=मेघ-वर्षा से; **सरित्-अमृत-बलं**=नदी का जल; **वर्धते**=बड़ता है; **मोहानां**=मोह से; **कर्म-बंध:**=कर्मों का बन्ध; **आम-भुक्ते:**=कच्चे भोजन से; **पुरुषस्य**=प्राणी का; **गद**=रोग; **च**=और; **अवनिवरतले**=पृथ्वी पर सुशोभित; **नाना-वृत्त+अक्षराणां** =अनेक छंदों के अक्षरों मय; **छंदसां**=छन्दों का; **अवश्यं**=नियम से; **प्रस्तर:**=विस्तार; (होता है; उसी प्रकार) **हि**=वास्तव में; **पार्श्ववर्ती+अंगिनां**=निकटवर्ती प्राणिओं का (सम्पर्क); **दु:ख+औघ+आग:**= दु:खों का समूह, दोष; **विकल्प+आस्रव-वचन-कुलं**=विकल्पों के आने में कारणभूत वचन-समूह को बड़ाता है।।३३५।।

अर्थ : जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्बन्ध से समुद्र, वर्षा से नदी का जल, मोह के सम्बन्ध से कर्म-बन्ध, कच्चे भोजन से पुरुषों के रोग और नाना प्रकार के छन्द के अक्षरों से शोभित छन्दों के सम्बन्ध से प्रस्तार वृद्धित होते हैं; उसी प्रकार पार्श्ववर्ती (नजदीकवर्ती) जीवों के सम्बन्ध से नाना प्रकार के दु:ख और विकल्पमय वचनों की वृद्धि होती है।

भावार्थ : जिस प्रकार समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा, नदी के जल की बड़वारी में मेघ, कर्म-बन्ध में मोह, रोग की वृद्धि में अपक्व भोजन और छन्दों की रचना में प्रस्तार कारण हैं; उसी प्रकार पार्श्ववर्ती जीवों का सम्बन्ध, नाना प्रकार के दु:खों को देने और परिणामों को विकल्पमय करने में कारण है; इसलिए कल्याण के अभिलाषियों को वह सर्वथा वर्जनीय है।।३३५।।

अब, इसे ही पुन: अन्य उदाहरणों से पुष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **वृद्धिं यात्येधसो वन्हिर्वृद्धौ घर्मस्य वा तृषा।**
चिंता संगस्य रोगस्य पीडा दु:खादि-संगते:।।४-३३६।।

ज्यों अनल ईन्धन से तृषा बहु धूप से परिग्रहों से।
चिन्ता बड़े पीड़ा बिमारी से दुखादि संग से।।३३६।।

अन्वयार्थ : एधस:=ईंधन से; **वन्हि:**=अग्नि; **वृद्धिं**=वृद्धि को; **याति**=प्राप्त होती

है; **वा**=अथवा; **घर्मस्य**=धूप की; **वृद्धौ**=वृद्धि में; **तृषा**=प्यास; **संगस्य**=परिग्रह की (वृद्धि में); **चिंता**=सोच; **रोगस्य**=रोग की (वृद्धि में); **पीडा**=पीड़ा बड़ती है; (उसी प्रकार) **संगतेः**=(प्राणियों की) संगति से; **दुःख+आदि**=कष्ट आदि बड़ जाते हैं।।३३६।।

अर्थ : जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की, धूप से प्यास की, परिग्रह से चिन्ता की और रोग से पीड़ा की वृद्धि होती है; उसी प्रकार प्राणियों की संगति से पीड़ा और दुःख आदि सहन करने पड़ते हैं।।३३६।।

एकान्त-वास का औचित्य पुनः अब, अन्य प्रकार से प्ररूपित करते हैं —

शिखरिणी : **विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजंबालजलधि-**
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमता-जालसदृशः।
वरं स्थानं छेत्रीपविरविकरागस्ति जलदा-
गदज्वालाशस्त्रीसममतिभिदे तस्य विजनम्।।५-३३७।।

विकल्प होते जीव में, बेड़ी गिरी कीचड़ उदधि।
दावाग्नि आतप रोग हिम, बहु जाल सम अतएव ही।।
छैनी पवी रवि अगस्त्य नक्षत्र मेघ सु औषधि।
अग्नि छुरी सम नाश हेतु, विजन थल अति योग्य ही।।३३७।।

अन्वयार्थ : जीवे=जीव में; **विकल्पः**=विकल्प; **निगड-नग-जंबाल-जलधि-प्रदावाग्नि-आताप-प्रगद-हिमता-जाल-सदृशः**=बेड़ी, पर्वत, कीचड़, समुद्र, भयंकर दावाग्नि के संताप, महा-रोग, शीतलता और जाल के समान; **स्यात्**=होता है; **तस्य**=उसका; **अतिभिदे**=पूर्णतया विनाश करने के लिए; **छेत्री-पवि-रविकर-अगस्ति-जलद-आगद-ज्वाला-शस्त्री-समं**=छैनी, बज्र, सूर्य की किरणों, अगस्त्य (नक्षत्र), मेघ, औषधि, अग्नि और छुरी के समान; **विजनं-स्थानं**=निर्जन स्थान; **वरं**=श्रेष्ठ है।।३३७।।

अर्थ : जीवों के विकल्प, बेड़ी, पर्वत, कीचड़, समुद्र, दावाग्नि का संताप, रोग, शीतलता और जाल के समान होते हैं; इसलिए उनके नाश के लिए छैनी, बज्र, सूर्य, अगस्त्य-नक्षत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरी के समान निर्जन स्थान का ही आश्रय करना उचित है।

भावार्थ : जिस प्रकार बेड़ी को काटने में छैनी, पर्वत के खण्ड करने में बज्र, कीचड़ को सुखाने में सूर्य, समुद्र के जल को शुष्क करने में अगस्त्य ऋषि, वनाग्नि को बुझाने में मेघ, रोग का नाश करने में औषधि, शीतलता नष्ट करने में अग्नि और जाल को काटने में छुरी कारण है। विना छैनी आदि के बेड़ी आदि का फन्द कट नहीं सकता; उसी प्रकार विकल्पों का नाश करने में निर्जन स्थान कारण है। निर्जन स्थान का आश्रय किए विना विकल्प कभी नहीं हट सकते।।३३७।।

अब, विविक्त शयनासन तप की श्रेष्ठता को स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुप् : **तपसां बाह्य-भूतानां, विविक्त-शयनासनम्।**
महत्तपो गुणोद्भूते राग-त्यागस्य हेतुतः।।६-३३८।।

सब बाह्य तप में है बड़ा, सु विविक्त शयनासन कहा।
इससे गुणों की प्रगटता, रागादि सब मिटते सदा।।३३८।।

अन्वयार्थ : गुण-उद्भूतेः=गुणों की प्रगटता में; **राग-त्यागस्य**=राग के त्याग का; **हेतुतः**=हेतु होने से; **बाह्य-भूतानां**=बहिरंग; **तपसां**=तपों में; **महत्-तपः**=महान तप; **विविक्त-शयन+आसनं**=विविक्त-शैयासन है।।३३८।।

अर्थ : बाह्य तपों में विविक्त-शयनासन (एकान्त स्थान में सोना और बैठना) तप को महान तप बतलाया है; क्योंकि इसके आराधन से आत्मा में गुणों की प्रगटता होती है और मोह का नाश होता है।

भावार्थ : अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शयनासन और काय-क्लेश के भेद से बाह्य तप छह प्रकार का है; परन्तु उन सबमें उत्तम और महान तप, विविक्त-शयनासन ही है; क्योंकि इसके आराधन से आत्मा में नाना प्रकार के गुणों की प्रकटता और समस्त मोह की नास्ति होती है।।३३८।।

अब, मूर्छा को परिभाषित करते हुए उसका कार्य बताते हैं —

शालिनी : **काचिच्चिंता संगतिः केनचिच्च, रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा।**
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां, मूर्छा ज्ञेया ध्यानविध्वंसिनी च।।७-३३९।।

हो किसी की चिन्ता किसी की संगति रोगादि से।
पीड़ा अति निद्रा प्रगट हों कषायें क्रोधादि ये।।
हैं ये सभी मोहातिवर्धक, मूर्छा जानों यही।
यह ध्यान की विध्वंसिनी, इससे सदा बचते सुधी।।३३९।।

अन्वयार्थ : काचित्-चिंता=कोई/किसी की चिंता; **केनचित्**=किसी के साथ; **संगतिः**=संपर्क; **रोग+आदिभ्यः**=रोग आदि से; **वेदना**=कष्ट; **तीव्र-निद्रा**=अत्यधिक, गहरी नींद; **क्रोध-मान+आदिकानां**=क्रोध, मान आदि की; **प्रादुर्भूतिः**=उत्पत्ति; **मूर्छा**=मूर्छा है; **च**=और; (वह) **ध्यान-विध्वंसिनी**=ध्यान को नष्ट करनेवाली; **ज्ञेया**=जानना चाहिए।।३३९।।

अर्थ : स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ता, प्राणियों के साथ संगति, रोग आदि से वेदना, तीव्र निद्रा और क्रोध, मान आदि कषायों की उत्पत्ति होना, मूच्र्छा है और इस मूच्र्छा से ध्यान का सर्वथा नाश होता है।

भावार्थ : स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं - इस प्रकार के परिणाम का नाम मूच्र्छा है; इसलिए इससे मनुष्य को नाना प्रकार की चिन्ताएँ, प्राणियों के साथ संगति, रोग आदि से तीव्र वेदना, अधिक निद्रा, क्रोध, मान, माया आदि कषायों की उत्पत्ति होती है तथा ध्यान का नाश होता है। मूर्च्छित मनुष्य किसी प्रकार का ध्यान नहीं कर सकता।।३३९।।

अब, मुक्ति-हेतु ध्यान के कारणों का प्ररूपण करते हैं—

शालिनी : **संग-त्यागो निर्जन-स्थानकं च, तत्त्व-ज्ञानं सर्वचिंता-विमुक्तिः।**
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां, मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः।।८-३४०।।

सब संग तज एकान्त थल, तत्त्वज्ञ सब चिन्ता रहित।
निर्बाधता मन वचन तन वश, मुक्ति हेतु ध्यान नित।।३४०।।

अन्वयार्थ : मुनीनां=मुनियों की; **मुक्त्यै**=मुक्ति के लिए; **संग-त्यागः**=परिग्रह का त्याग; **निर्जन-स्थानकं**=निर्जन-स्थान; **तत्त्व-ज्ञानं**=तत्त्व-ज्ञान; **सर्व-चिंता-विमुक्तिः**=सभी चिंताओं से रहितता; **निर्बाधत्वं**=निर्विघ्नता; **च**=और; **योग-रोधः**=योग को वश में रखना; **अमी**=ये; **ध्याने**=ध्यान में; **हेतवः**=कारण; **निरुक्ताः**=कहे गए हैं।।३४०।।

अर्थ : बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग, एकान्त स्थान, तत्त्वों का ज्ञान, समस्त प्रकार की चिन्ताओं से रहितपना, किसी प्रकार की बाधा का न होना और मन, वचन तथा काय को वश करना - ये ध्यान के कारण हैं। इनका आश्रय करने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।।३४०।।

अब, विकल्पों को नष्ट करने का बाह्य उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **विकल्प-परिहाराय, संगं मुञ्चंति धी-धनाः।**
संगतिं च जनैः सार्धं, कार्यं किंचित् स्मरंति न।।९-३४१।।

सब विकल्पों से मुक्त होने, संग छोड़ें धीधनी।
जन संगति कुछ कार्य आदि, नहीं सोचें निज रती।।३४१।।

अन्वयार्थ : विकल्प-परिहाराय=विकल्पों को समाप्त करने के लिए; **धीधनाः**= बुद्धिमान; **संग**=परिग्रह को; **जनैः**=प्राणियों के; **सार्धं**=साथ; **संगतिं**=सम्पर्क को; **मुंचंति**= छोड़ देते हैं; **च**=और; **किंचित्**=कुछ/किसी भी; **कार्यं**=कार्य का; **स्मरन्ति न**=स्मरण नहीं करते हैं।।३४१।।

अर्थ : जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, स्व और पर के स्वरूप के जानकार होकर अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं; वे संसार के कारण-स्वरूप विकल्पों का नाश करने के लिए बाह्य-अभ्यन्तर - दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं; दूसरे मनुष्यों की संगति और किसी कार्य का चिन्तन भी नहीं करते हैं।।३४१।।

अब, विकल्पों की दुःखमयता का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयंति यथांगिनः।**
विकल्पाश्च तथात्मानं तेषु सत्सु कथं सुखम्।।१०-३४२।।

ज्यों एक साथ अनेक बिच्छु, तन सदा पीड़ित करें।
त्यों विकल्पों से आतमा, है दुखी सुख नहिं स्वप्न में।।३४२।।

अन्वयार्थ : यथा=जैसे; **युगपत्-स्पृष्टाः**=एक साथ लगे हुए; **वृश्चिका**=विच्छु; **अंगिनः**=प्राणी को; **पीडयन्ति**=पीड़ित करते हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **विकल्पाः**=विकल्प;

आत्मानं=आत्मा को; (कष्ट देते हैं) **च**=और/तब फिर; **तेषु सत्सु**=उनके रहते; **सुखं**=सुख; **कथं**=कैसे हो सकता है?।।३४२।।

अर्थ : जिस प्रकार शरीर पर एक साथ लगे हुए अनेक बिच्छु प्राणी को काटते और दु:खित बनाते हैं; उसी प्रकार अनेक प्रकार के विकल्प भी आत्मा को बुरी तरह दुखाते हैं; जरा भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देते; इसलिए उन विकल्पों की मौजूदगी में आत्मा को कैसे सुख हो सकता है? विकल्पों के जाल में फँसकर यह जीव रत्ती भर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता।।३४२।।

अब, सुखी होने का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **बाह्य संगति-संगस्य, त्यागे चेन्मे परं सुखम्।**
अन्त: संगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकम्।।११-३४३।।

जब बाह्य संगति संग तजने से बहुत सुख है मुझे।
तब भीतरी संग संगति तज दें तो उत्तम सुख मुझे।।३४३।।

अन्वयार्थ : चेत्=जब; **मे**=मुझे; **बाह्य-संगति-संगस्य**=बाह्य सम्पर्क और परिग्रह के; **त्यागे**=त्याग में; **परं**=(लौकिक दृष्टि से) उत्कृष्ट; **सुखं**=सुख (हुआ है); (तब) **अंत: संगति-संगस्य**=अन्तरंग सम्पर्क और परिग्रह के (त्याग में); **तत:+अधिकं** =उससे अधिक (सुख); **किं**=क्या/कैसे; **न**=नहीं होगा।।३४३।।

अर्थ : जब मुझे बाह्य संगति के त्याग से ही परम सुख की प्राप्ति होती है, तब अन्तरंग संगति के त्याग से तो और भी अधिक सुख मिलेगा।

भावार्थ : जब मुझे स्त्री, पुत्र आदि बाह्य पदार्थों की संगति के त्याग से ही परम सुख प्राप्त होता है, तब राग-द्वेष आदि अन्तरंग पदार्थों की संगति के त्याग से तो उससे भी अधिक सुख मिलेगा।।३४३।।

अब, अज्ञानी और ज्ञानी की मान्यता को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **बाह्य-संगति-संगेन, सुखं मन्येत मूढ-धी:।**
तत्त्यागेन सुधी: शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-हेतुना।।१२-३४४।।

नित बाह्य संगति संग से, सुख मानते हैं अज्ञ ही।
सब छोड़ शुद्ध चिद्रूप, निज का ध्यान सुख मानें सुधी।।३४४।।

अन्वयार्थ : मूढधी:=अज्ञानी; **बाह्य-संगति-संगेन**=बहिरंग संपर्क और परिग्रह से; **सुखं**=सुख; **मन्येत**=मानता है; (और) **सुधी:**=सम्यग्ज्ञानी; **तत्**=उनके; **शुद्ध-चिद्रूप-ध्यान-हेतुना**=शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान के कारणभूत; **त्यागेन**=त्याग से (सुख मानता है)।।३४४।।

अर्थ : जो पुरुष मुग्ध हैं, अपना-पराया जरा भी भेद नहीं जानते; वे बाह्य पदार्थों की संगति से अपने को सुखी मानते हैं; परन्तु जो बुद्धिमान हैं, तत्त्वों के भले प्रकार वेत्ता हैं, वे यह जानकर कि संगति का त्याग ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में कारण है, उसके त्याग से ही शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान हो सकता है; बाह्य पदार्थों का सहवास न करने से ही अपने को सुखी मानते हैं।।३४४।।

अब, मुमुक्षु-हेतु कुछ मार्ग-दर्शन देते हैं —

आर्या : **अवमौदर्यात्साध्यं, विविक्त-शैयासनाद्विशेषेण।**
अध्ययनं सध्यानं मुमुक्षुमुख्या: परं तप: कुर्यु:।।१३-३४५।।

मोक्षार्थी नित करें, ऊनोदर, विविक्त शयनासनों।
से साध्य अध्ययन ध्यान आदि आत्म साधक बहु तपों।।३४५।।

अन्वयार्थ : अवमौदर्य=ऊनोदर; (और) **विविक्त-शैया+आसनात्**=विविक्त शैयासन द्वारा; **विशेषेण**=विशेषरूप से; **साध्यं**=सिद्ध होनेवाले; **अध्ययनं**=अध्ययन; (और) **सध्यानं**=यथार्थ ध्यानरूप; **परं तप:**=श्रेष्ठ तप को; **मुमुक्षु-मुख्या:**=प्रधान मुमुक्षु; **कुर्यु:**=करें।।३४५।।

अर्थ : जो पुरुष मुमुक्षुओं में मुख्य हैं; बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि वे अवमौदर्य और विविक्त-शैयासन की सहायता से निष्पन्न ध्यान के साथ अध्ययन, स्वाध्यायरूप परम तप का अवश्य आराधन करें।

भावार्थ : ध्यान और स्वाध्याय तप तभी सिद्ध हो सकते हैं, जब अवमौदर्य (थोड़ा

आहार करना) और विविक्त-शैयासन तपों का विशेषरूप से आश्रय किया जाए; क्योंकि जो मनुष्य गरिष्ठ या भर-पेट भोजन करेगा और जन-समुदाय में रहेगा, वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नहीं कर सकता; इसलिए उत्तम पुरुषों को स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिए; आलस्य न दबा बैठे, इस कारण बहुत कम आहार और एकान्त स्थान का आश्रय करना चाहिए।।३४५।।

अब, एकान्त स्थान में रहनेवाले आत्माराधकों का गुण-गान करते हैं—

अनुष्टुप् : **ते वन्द्याः गुणिनस्ते च, ते धन्यास्ते विदांवराः।**
वसंति निर्जने स्थाने, ये सदा शुद्ध-चिद्रताः।।१४-३४६।।

निज शुद्ध चिद्रूप में निरत, जो इसी हेतु एकान्त में।
रहते गुणी वे धन्य, विद्वत् शिरोमणि आत्मस्थ हैं।।३४६।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रताः=शुद्ध चिद्रूप में अनुरक्त; **ये**=जो; **सदा**=निरन्तर; **निर्जने-स्थाने**=एकान्त स्थान में; **वसंति**=रहते हैं; **ते**=वे; **वंद्याः**=वन्दनीय हैं; **ते**=वे; **गुणिनः**=गुणी हैं; **ते**=वे; **धन्याः**=धन्य हैं; **च**=और; **ते**=वे; **विदां-वराः**=विद्वानों में श्रेष्ठ हैं।।३४६।।

अर्थ : जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप में अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्ति के लिए निर्जन स्थान में निवास करते हैं; संसार में वे ही वन्दनीक, सत्कार के योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानों के शिरोमणि हैं; अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हीं का आदर-सत्कार करते हैं और उन्हें ही गुणी, धन्य और विद्वानों में उत्तम मानते हैं।।३४६।।

अब, पुनः ज्ञानियों की प्रवृत्ति बताते हैं—

अनुष्टुप् : **निर्जनं सुखदं स्थानं, ध्यानाध्ययन-साधनम्।**
राग-द्वेष-विमोहानां, शातनं सेवते सुधीः।।१५-३४७।।

है राग द्वेष विमोह नाशक, ध्यान अध्ययन सहायक।
निर्जन सुखद स्थान का, आश्रय करें नित सुधी जन।।३४७।।

अन्वयार्थ : सुधीः=ज्ञानी; **सुखदं**=सुख-दायक; **ध्यान-अध्ययन-साधनं**=ध्यान

और अध्ययन के साधनभूत; **राग-द्वेष-विमोहानां**=राग, द्वेष और विशिष्ट मोह को; **शातनं**=नष्ट करनेवाले; **निर्जनं-स्थानं**=एकान्त स्थान का; **सेवते**=सेवन/उपयोग करते हैं।।३४७।।

अर्थ : यह निर्जन स्थान अनेक प्रकार के सुख प्रदान करनेवाला है, ध्यान और अध्ययन का कारण है; राग, द्वेष और मोह का नाश करनेवाला है; इसलिए बुद्धिमान पुरुष अवश्य इसका आश्रय करते हैं।।३४७।।

एकान्त स्थान ही वास्तविक अमृत है; अब, ऐसा निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **सुधाया लक्षणं लोका, वदन्ति बहुधा मुधा।**
बाधा-जंतु-जनैर्मुक्तं, स्थानमेव सतां सुधा।।१६-३४८।।

बहु अज्ञ कहते सुधा के, लक्षण अनेकों पर सदा।
है जन्तु जन बाधा रहित, स्थान आतम को सुधा।।३४८।।

अन्वयार्थ : लोका=जगत-जन; **सुधाया**=अमृत के; **बहुधा**=अनेकों; **लक्षणं**=स्वरूप; **वदन्ति**=कहते हैं; (परन्तु वह) **मुधा**=व्यर्थ है; **सतां**=सज्जन का; **सुधा**=अमृत; **बाधा-जंतु-जनैः**=विघ्न, कीट, मनुष्यों से; **मुक्तं**=रहित; **स्थानं+एव**=स्थान ही है।।३४८।।

अर्थ : लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकार से बतलाते हैं; परन्तु वह ठीक नहीं, मिथ्या है; क्योंकि जहाँ पर किसी प्रकार की बाधा, डाँस, मच्छर आदि जीव और जन-समुदाय न हो ऐसे एकान्त-स्थान का नाम ही वास्तव में सुधा है।

भावार्थ : जो सुख देनेवाला हो, वही सुधा (अमृत) है। शुद्ध-चिद्रूप के अभिलाषियों को समस्त प्रकार के उपद्रवों से रहित एकान्त-स्थान सुख का देनेवाला है; इसलिए उनके लिए वही अमृत है और लोक-कथित अमृत, अमृत नहीं है।।३४८।।

अब, आत्माराधना के योग्य स्थानों का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **भूमि-गृहे समुद्रादि-तटे पितृ-वने वने।**
गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये।।१७-३४९।।

नित भूमि गृह सागर तटादि, वन गुफादि मसान में।
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतु, सुधी रहते आत्म में।।३४९।।

अन्वयार्थ : प्राज्ञः=बुद्धिमान; **शुद्ध-चित्-ध्यान-सिद्धये**=शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की सिद्धि के लिए; **भूमिगृहे**=तलघर, सुरंग में; **समुद्र+आदि-तटे**=समुद्र आदि के किनारे; **पितृ-वने**=श्मशान में; **वने**=जंगल में; **गुहा+आदौ**=गुफा आदि में; **वसति**=रहता है।।३४९।।

अर्थ : जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, हित-अहित के जानकार हैं; वे शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की सिद्धि के लिए जमीन के भीतरी घरों/तलघरों में, सुरंगों में; समुद्र, नदी आदि के तटों पर; श्मसान भूमियों में और वन, गुफा आदि निर्जन स्थानों में निवास करते हैं।।३४९।।

अनुष्टुप् : **विविक्तस्थानकाभावात्, योगिनां जनसंगमः।**
तेषा-मालोकनेनैव, वचसा स्मरणेन च।।१८-३५०।।

जायते मनसः स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः।
तेभ्यः क्लेशो भवेत्तस्मान्नाशं याति विशुद्धता।।१९-३५१।।

तया विना न जायेत, शुद्धचिद्रूपचिंतनम्।
विना तेन न मुक्तिः स्यात्, परमाखिलकर्मणाम्।।२०-३५२।।

तस्माद्विवि*क्तसुस्थानं, ज्ञेयं संक्लेशनाशनम्।
मुमुक्षुयोगिनां मुक्तेः, कारणं भववारणम्।।२१-३५३।।चतुष्कलं।।

एकान्त स्थल नहीं हो तो, योगि संकट सम रहें।
जन संघ उनको देखने, वचनादि से स्मरण से।।३५०।।

मन हुआ चंचल हों उसी से दोष रागादि सभी।
उससे क्लेश विनष्ट उससे, विशुद्धि संचित सभी।।३५१।।

उसके विना निजरूप चिन्तन, नहीं हो सकता कभी।
तब नहीं मुक्ति नहीं है सब कर्म का क्षय भी कभी।।३५२।।

विविक्त स्थल समझ यह संक्लेश का नाशक सदा।
भव निवारक नित मोक्ष कारक, मुमुक्षु निज योगि का।।३५३।।

* मुक्त - इति पाठः।

अन्वयार्थ : विविक्त-स्थानक+अभावात्=एकांत स्थान का अभाव होने से; **योगिनां**=योगिओं का; **जन-संगमः**=जन-सम्पर्क होता है; **तेषां**=उन्हें; **आलोकनेन+एव**=देखने से ही; **वचसा**=वचन से; **च**=और; **स्मरणेन**=स्मरण से; **मनसः**=मन में; **स्पंदः**=चंचलता; **जायते**=उत्पन्न होती है; **ततः**=उससे; **अखिलाः**=सभी; **राग+आदयः**=राग आदि (होते हैं); **तेभ्यः**=उनसे; **क्लेशः**=क्लेश; **भवेत्**=होता है; **तस्मात्**=उससे; **विशुद्धता**=विशिष्ट शुद्धता; **नाशं याति**=नष्ट हो जाती है; **तया**=उसके; **विना**=अभाव में; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनं**=शुद्ध-चिद्रूप का चिंतन; **न-जायेत**=उत्पन्न नहीं होता है; **तेन विना**=उसके अभाव में; **अखिलं-कर्मणां**=सभी कर्मों का; **परम**=उत्कृष्ट; **मुक्तिः**=मोक्ष; **न स्यात्**=नहीं होता है; **तस्मात्**=इसलिए; **विविक्त-सुस्थानं**=एकान्त स्थान को; **संक्लेश-नाशनं**=संक्लेश-नाशक; **मुमुक्षु-योगिनां**=मुमुक्षु योगिओं की; **मुक्तेः कारणं**=मुक्ति का साधन; **भव-वारणं**=संसार को समाप्त करनेवाला; **ज्ञेयं**=जानना चाहिए।।३५०-३५३।।

अर्थ : एकान्त स्थान के अभाव से योगियों को जनों के संघ में रहना पड़ता है; इसलिए उनके देखने, वचन सुनने और स्मरण करने से उनका मन चंचल हो उठता है। मन की चंचलता से विशुद्धि का नाश होता है और विशुद्धि के विना शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन नहीं हो सकता। उसका चिन्तन किए विना समस्त कर्मों के नाश से होनेवाला मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता; इसलिए मोक्षाभिलाषी योगियों को चाहिए कि वे एकान्त स्थान को समस्त दुःखों का दूर करनेवाला, मोक्ष का कारण और संसार का नाश करनेवाला जान, अवश्य उसका आश्रय करें।।३५०-३५३।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण-निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति के लिये निर्जन स्थान का आश्रय'' बतलानेवाला ३३३ से ३५३ पर्यंत २१ पद्यों-युक्त सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१६।।

सत्रहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप में प्रेम-वर्धन का उपदेश

अतीन्द्रिय सुख के परीक्षक और अनुरागी कम हैं; अब, ऐसा निरूपण करते हैं —

शार्दूलविक्रीड़ित : **मुक्ता-विद्रुम-रत्न-धातु-रस-भू-वस्त्रान्नरुग्भूरुहां-**
स्त्रीभाश्वाहि-गवां नृदेव-विदुषां पक्षांबुगानामपि।
प्राय: संति परीक्षका: भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो,
दृश्यंते खभवे रताश्च बहव: सौख्ये च नातींद्रिये।।१-३५४।।

भू मुक्ता विद्रुम रत्न धातु, रस वसन भोजन तिया।
तरु गाय हय गज रोग अहि, नर सुर पयोचर विज्ञता।।
इत्यादि के बहु परीक्षक, इंद्रिय सुखों में रत अधिक।
पर निराकुल सुख परीक्षक, अनुरक्त इसमें बहुत कम।।३५४।।

अन्वयार्थ : **भुवि**=पृथ्वी पर; **मुक्ता-विद्रुम-रत्न-धातु-रस-भू-वस्त्र+अन्न-रुग्-भूरुहां**=मोती, मूँगा, रत्न, धातु, रस, भू/पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष के; **स्त्री+इभ+अश्व+अहि-गवां**=स्त्री, हाथी, घोड़ा, सर्प, गाय के; **नृ-देव-विदुषां**=मनुष्य, देव, विद्वान के; **पक्ष+अम्बु-गानां**=पक्षी, जलचर के; **अपि**=भी; **परीक्षका:**=परीक्षक; **प्राय:**=बहुत; **संति**=हैं; **हा**=हाय/परन्तु; **सुखस्य**=(अतीन्द्रिय) सुख के (परीक्षक); **अति+अल्पका**=बहुत कम हैं; **यत:**=क्योंकि; **ख-भवे**=इन्द्रियों से उत्पन्न; **सौख्ये**=सुख में; **रता:**=आसक्त; **बहव:**=अनेकों; **दृश्यंते**=दिखाई देते हैं; **च**=और/परंतु; **अतीन्द्रिये**=अतीन्द्रिय (सुख में लीन); **न**=दिखाई नहीं देते हैं।।३५४।।

अर्थ : इस संसार में मोती, मूँगा, रत्न, धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष, स्त्री, हाथी, घोड़े, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी और जलचर जीवों की परीक्षा

करने वाले अनेक मनुष्य हैं। इंद्रियों से उत्पन्न हुए ऐंद्रियिक सुख में भी बहुत से अनुरक्त हैं; परन्तु निराकुलतामय सुख की परीक्षा और उसमें अनुराग करनेवाले बहुत ही थोड़े हैं।

भावार्थ : इस संसार में परीक्षा करनेवाले विद्वान पुरुषों की और सुख के अनुभव करनेवालों की कमी नहीं है; परन्तु वे यह नहीं समझते हैं कि हमें किस बात की परीक्षा और कैसे सुख का अनुभव करना चाहिए? बहुत से मनुष्य मोती, मूँगा, रत्न, स्वर्ण आदि धातु; उत्तमोत्तम रस, पृथ्वी, रोग, हाथी, अश्व आदि पदार्थों की परीक्षा में प्रवीण हैं। इंद्रिय-जन्य सुखों का भी पूर्णतया अनुभव करना जानते हैं; परन्तु उनकी उस प्रकार की परीक्षा और अनुभव कार्य-कारी नहीं; क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं। नित्य पदार्थ निराकुलतामय सुख है; इसलिए उसी की परीक्षा और अनुभव से कार्य और कल्याण हो सकता है।।३५४।।

अब, अतीन्द्रिय और इन्द्रिय सुख का स्वरूप बताते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित : **निर्द्रव्यं स्ववशं निजस्थमभयं नित्यं निरीहं शुभं,**
निर्द्वंद्वं निरुपद्रवं निरुपमं निर्बंध-मूहातिगम्।
उत्कृष्टं शिव-हेत्वदोष-ममलं यद्दुर्लभं केवलं,
स्वात्मोत्थं सुखमीदृशं च स्वभवं तस्माद्विरुद्धं भवेत्।।२-३५५।।

पर धनादि से रहित, स्व-वश आत्मीक अभय सदा।
निष्कांक्ष शुभ निर्द्वन्द्व, बाधा-रहित अनुपम श्रेष्ठता।।
निर्बन्ध तर्कादि अगोचर, अमल शिवकर दोष बिन।
दुर्लभ अति स्वात्मोत्थ सुख, अज्ञ मान्य सुख इससे विरुद्ध।।३५५।।

अन्वयार्थ : निः-द्रव्यं=पर-पदार्थों से रहित; **स्व-वशं**=स्वाधीन; **निजस्थं**=आत्मस्थ; **अभयं**=भय से रहित; **नित्यं**=स्थाई; **निः+ईहं**=इच्छाओं से रहित; **शुभं**=कल्याणमय; **निः-द्वंद्वं**=द्वंद्व से रहित; **निः+उपद्रवं**=बाधाओं से रहित; **निः+उपमं**=उपमा से रहित; **निः-बंधं**=बंध से रहित; **ऊहा+अतिगं**=तर्क से रहित; **उत्कृष्टं**=सर्वोत्तम; **शिव-हेतु**=मोक्ष का कारण; **अदोषं**=दोष-रहित; **अमलं**=मल-रहित; **केवलं**=मात्र; **यत्**=जो; **दुर्लभं**=दुर्लभ है; **ईदृशं**=ऐसा; **स्व+आत्मा+उत्थं**=अपने आत्मा से प्रगट हुआ; **सुखं**=सुख है; **च**=और; **ख-भवं**=इन्द्रियों से प्रगट (सुख); **तस्मात्**=उससे; **विरुद्ध**=विपरीत; **भवेत्**=है।।३५५।।

अर्थ : यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख, निर्द्रव्य है; पर-द्रव्यों के सम्पर्क से रहित है; स्वाधीन आत्मिक, भयों से रहित, नित्य, समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित, शुभ, निर्द्वन्द्व, सब प्रकार के उपद्रवों से रहित, अनुपम, कर्म-बन्धों से रहित, तर्क-वितर्क के अगोचर, उत्कृष्ट, कल्याण को करनेवाला, निर्दोष, निर्मल और दुर्लभ है; परन्तु इंद्रिय-जन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है।

[वह पर-द्रव्यों के सम्बन्ध से होता है, पराधीन, पर, नाना प्रकार के भयों को करनेवाला, विनाशीक अनेक प्रकार की इच्छा उत्पन्न करनेवाला, अशुभ, आकुलतामय, अनेक प्रकार के उपद्रवों को खड़ा करनेवाला, महा निन्दनीक, कर्म-बन्ध का कारण, महा निकृष्ट, दु:ख देनेवाला, अनेक प्रकार के दोष और मलों का भण्डार तथा सुलभ है;] (इसलिए सुखाभिलाषी जीवों को चाहिए कि निराकुलतामय सुख की प्राप्ति का उपाय करें।)।।३५५।।

अब, पुन: एकान्त स्थान में रहने-हेतु प्रेरित करते हैं—

शार्दूल-विक्रीड़ित :**वैराग्यं त्रिविधं *निचाय हृदये हित्वा च संगं त्रिधा,**
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयम्।
त्यक्त्वान्यै: सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके,
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये।।३-३५६।।

भव भोग तन विरति परिग्रह त्रिविध त्यागी जिनागम।
सद्गुरु आश्रय ले धरे निर्मल रतनत्रय अन्य सब।।
संगति सब रागादि तज, निर्बाध निर्जन सुथल में।
स्वात्मोत्थ सुख की प्राप्ति हेतु, रहे नित निज आत्म में।।३५६।।

अन्वयार्थ : स्व+आत्मा+उत्थ-सौख्य+आप्तये=अपने आत्मा से उत्पन्न सुख की प्राप्ति के लिए; **त्रिविधं**=तीन प्रकार के; **वैराग्यं**=वैराग्य को; **हृदये**=हृदय में; **निचाय**=धारण कर; **च**=और; **त्रिधा**=तीन प्रकार से; **संगं**=परिग्रह का; **हित्वा**=त्याग कर; **सत्-गुरुं**=यथार्थ गुरु; **च**=और; **आगमं**=शास्त्र का; **श्रित्वा**=आश्रय लेकर; **च**=

* विधाय - इति पाठः।

और; **विमलं**=पवित्र; **रत्नत्रयं**=रत्नत्रय को; **धृत्वा**=धारण कर; **अन्यैः सह**=दूसरों के साथ; **संगतिं**=सम्पर्क; **च**=और; **सकलं**=सभी; **राग+आदिकं**=राग आदि को; **त्यक्त्वा**= छोड़कर; **निरुपद्रवे**=बाधाओं से रहित; **अपि**=भी/और; **विजने**=निर्जन; **स्थानके**=स्थान में; **स्थातव्यं**=रहना चाहिए।।३५६।।

अर्थ : जो पुरुष आत्मिक शान्तिमय सुख के अभिलाषी हैं, उसे हस्तगत करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि वे संसार, शरीर और भोगों के त्यागरूप तीन प्रकार का वैराग्य धारण कर; चेतन, अचेतन और मिश्र तीनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर; सद्गुरु, निर्दोष शास्त्र, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय का आश्रय कर, दूसरे जीवों का सहवास और राग-द्वेष आदि का सर्वथा त्यागकर, सब उपद्रवों से रहित एकान्त स्थान में निवास करें।

भावार्थ : जब तक संसार, शरीर और भोगों से ममत्व न हटेगा; स्वर्ण, रत्न, क्रोध, मान, स्त्री, पुत्र, दासी, दास आदि परिग्रह का त्याग नहीं होगा; श्रेष्ठ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का आराधन नहीं किया जाएगा, अन्य मनुष्यों का सहवास और रागादि दूर न कर दिए जाएंगे और एकान्त स्थान में निवास नहीं किया जाएगा; तब तक निराकुलतामय सुख प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है, इसलिए जो मनुष्य इस सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान दें।।३५६।।

अब, यथार्थ सुख का निरूपण करते हैं—

आर्या : **खसुखं न सुखं नृणां, किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः।**
सुखमेव स्थितिरात्मनि, निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात्।।४-३५७।।

इंद्रिय सुख सुख नहीं बस, इच्छाग्नि वेदन निवारण।
निज निराकुल परिणति विशुद्धि से निज-स्थिति सौख्यमय।।३५७।।

अन्वयार्थ : ख-सुख=इन्द्रिय-जन्य सुख; **सुखं**=सुख; **न**=नहीं है; **किंतु**=वरन्; **नृणां**=मनुष्यों की; **अभिलाषा+अग्नि-वेदना-प्रतीकारः**=इच्छारूपी अग्नि की वेदना का प्रतीकार है; **निराकुलत्वात्**=निराकुलता के कारण; **विशुद्ध-परिणामात्**=विशुद्ध-परिणाम के कारण; **आत्मनि**=आत्मा में; **स्थितिः**=स्थिरता; **सुखं+एव**=सुख ही है।।३५७।।

अर्थ : इन्द्रिय-जन्य सुख, सुख नहीं है; किन्तु मनुष्यों की अभिलाषारूप अग्नि-जन्य वेदनाओं को नष्ट करने का उपाय है और जो अपने चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में स्थिति का होना है, वह निराकुलतारूप और विशुद्ध परिणाम-स्वरूप होने से सुख ही है।

भावार्थ : जिस सुख से हमारी अभिलाषा और वेदनाएं नष्ट हों, वही वास्तव में सुख है। इन्द्रिय-जन्य सुख, सुख नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह परिणाम में दु:ख देनेवाला है और अभिलाषा तथा वेदनाओं का उत्पादक है; इसलिए उस अनुपम सुख को प्राप्त करने के लिए निराकुलता और विशुद्ध परिणामों से अपने आत्मा में स्थिति करनी चाहिए।।३५७।।

तात्त्विक-सुख किन-किन से प्राप्त नहीं होता है; इसे अब, सहेतुक सिद्ध करते हैं —

स्रग्धरा : **नो द्रव्यात्कीर्तित: स्याच्छुभखविषयत: सौधतूर्यत्रिकाद्वा,**
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्यादृतुभ्य:।
राज्यात्संराजमानात् बलवसनसुतात्सत्कलत्रात्सुगीतात्*,
भूषाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात्।।५-३५८।।

यह नहीं धन से कीर्ति से, इंद्रिय विषय शुभ भवन से।
तूर्यादि वाद्यों रूप इष्ट मिलन अनिष्ट वियोग से।।
अति श्रेष्ठ क्रीड़ा ऋतु राजा, राज्य मान सुसुत तिया।
उत्तम वसन सेना मधुर, संगीत भूषण तरु गिरा।।
पर्वत सवारी आदि उत्तम, श्रेष्ठ साधन से नहीं।
वे चित्त व्याकुलकर सभी, तात्त्विक निराकुल ही सुखी।।३५८।।

अन्वयार्थ : व्याकुलत्वात्=व्याकुलता होने के कारण; **द्रव्यात्**=द्रव्य से; **कीर्तित:**=कीर्ति से; **शुभ-ख-विषयत:**=इन्द्रिय के शुभ/अनुकूल विषय से; **वा**=अथवा; **सौध-तूर्य-त्रिकात्**=महल, तूर्य-त्रिक/तूर्य-वाद्य-संगीत से; **रूपात्**=रूप से; **इष्ट+आगमात्**=इष्ट के संयोग से; **वा**=अथवा; **तत्+इतर-विगमात्**=उससे विपरीत/अनिष्ट के वियोग से; **क्रीड़न+आद्यात्**=क्रीड़ाओं आदि से; **ऋतुभ्य:**=ऋतुओं से; **राज्यात्**=राज्य से; **संराजमानात्**=राजकीय सम्मान से; **बल-वसन-सुतात्**=सेना, वस्त्र, पुत्र से; **सत्**

* गानाद् - इति पाठ:।

कलत्रात्=सुशील स्त्री से; **सुगीतात्**=मधुर गीत से; **भूषात्**=आभूषण/वेश-भूषा से; **भूज+अग-यानात्**=वृक्ष, पर्वत, सवारी से; **इह**=इस; **जगति**=लोक में; **तात्त्विकं**=यथार्थ; **सुखं**=सुख; **नो**=नहीं; **स्यात्**=हो सकता है।।३५८।।

अर्थ : यह निराकुलतामय तात्त्विक सुख न द्रव्य से प्राप्त हो सकता है; न कीर्ति, इंद्रियों के शुभ विषय, उत्तम महल और गाजे-बाजों से मिल सकता है। उत्तम रूप, इष्ट पदार्थों का समागम, अनिष्टों का वियोग और उत्तमोत्तम क्रीड़ा आदि भी इसे प्राप्त नहीं करा सकते। छह ऋतु, राज्य, राजा की ओर से सम्मान, सेना, उत्तम वस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्ण-प्रिय गाना, भूषण, वृक्ष, पर्वत और सवारी आदि से भी प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि द्रव्य आदि के सम्बन्ध से चित्त व्याकुल रहता है और चित्त की व्याकुलता, निराकुलतामय सुख को रोकनेवाली होती है।

भावार्थ : चाहे मनुष्य कैसा भी द्रव्य-पात्र क्यों न हो जाए; कीर्ति, इन्द्रियों के विषय, महल, रूप, राज्य आदि पदार्थ भी उसके क्यों न यथेष्ट हो जाएं; परन्तु उनसे वह निराकुलतामय सुख का अनुभव नहीं कर सकता। सदा उसके परिणाम द्रव्य, कीर्ति आदि पदार्थों को जुटाने में ही व्यग्र रहते हैं।।३५८।।

मोही उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है; अब, यह बताते हैं—

शिखरिणी : **पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे,**
मठे दर्यां चैत्यौकसि सदसि रथादौ च भवने।
महा-दुर्गे स्वर्गे पथ-नभसि लता-वस्त्रभवने,
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक्।।६-३५९।।

पुर गाँव वन गिरि-शिखर सागर आदि तट मठ गुफा में।
रथ महल चैत्यालय सभा, स्वर्ग दुर्ग भू पथ तम्बु में।।
नभ लता मण्डप आदि स्थल, रहे मोही परसमय।
रत नहीं पाता सौख्य कण भी, मोह सब सुख विघातक।।३५९।।

अन्वयार्थ : पुरे=नगर में; **ग्रामे**=ग्राम में; **अटव्यां**=अटवी में; **नग-शिरसि**=पर्वत के शिखर पर; **नदी+ईश+आदि-सुतटे**=नदी, समुद्र आदि के रम्य तट पर; **मठे**=मठ में;

दर्यां=दरी/गुफा में; **चैत्य+ओकसि**=चैत्यालय में; **सदसि**=सभा में; **रथ+आदौ**=रथ आदि पर; **भवने**=भवन में; **महा-दुर्गे**=विशाल किले में; **स्वर्गे**=स्वर्ग में; **पथ-नभसि**=मार्ग, आकाश में; **च**=और; **लता-वस्त्र-भवने**=लता-भवन/लता-मण्डप, वस्त्र-भवन/तम्बू में; **स्थितः**=रहनेवाला; **पर-समय-रतः**=पर-पदार्थ में आसक्त; **मोही**=मोह-युक्त प्राणी; **सौख्य-लव-भाक्**=सुख का अंश मात्र भी प्राप्त; **न**=नहीं; **स्यात्**=कर पाता है।।३५९।।

अर्थ : जो मनुष्य मोह से मूढ़ और पर-समय में रत है, पर-पदार्थों को अपनानेवाला है; वह चाहे पुर, गाँव, वन, पर्वत के अग्र-भाग; समुद्र, नदी आदि के तट; मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लता-मण्डप, तम्बू आदि स्थानों में से किसी स्थान पर निवास करे; उसे निराकुलतामय सुख का कण तक प्राप्त नहीं हो सकता; अर्थात् मोह और पर-द्रव्यों का प्रेम निराकुलतामय सुख का बाधक है।।३५९।।

अब, इन्द्रिय-सुख की सुलभता बताते हैं—

स्रग्धरा : **निगोते गूथ-कीटे पशु-नृपति-गणे भारवाहे किराते,**
सरोगे मुक्त-रोगे धनवति विधने वाहनस्थे च पदगे।
युवादौ बालवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्
सदा वा सर्वदैवैतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वम्।।७-३६०।।

निगोद में मल कीट पशु राजा, श्रमिक भील निरोगी।
रोगी धनी निर्धन रथी, बाल वृद्ध यौवन पदाति।।
देवादि में इंद्रिय सुख, उससे नहीं कुछ प्रयोजन।
रहता सदा या नहिं रहे पर प्राप्त है बहु बार सब।।३६०।।

अन्वयार्थ : निगोते=निगोद में; **गूथ-कीटे**=विष्टा के कीड़े में; **पशु-नृपति-गणे**=पशु, राजा के समूह में; **भारवाहे**=भार-वहन करनेवाले में; **किराते**=भील में; **सरोगे**=रोग-युक्त में; **मुक्त-रोगे**=रोग-रहित में; **धनवति**=धनवान में; **विधने**=निर्धन में; **वाहनस्थे**=सवारी पर घूमनेवाले में; **पदगे**=पैदल चलनेवाले में; **युवा+आदौ**=युवा आदि में; **च**=और; **बाल-वृद्धे**=बालक, वृद्ध में; **यत्**=जो; **ख-सुखं**=इन्द्रिय-जन्य सुख; **भवति**=होता है; **हि**=वास्तव में; **तेन**=उससे; **किं**=क्या प्रयोजन है; **यतः**=क्यों कि;

तत्=वह; **कदाचित्**=कभी (होता है); **वा**=अथवा; **च**=और; **सदा**=सतत; **सर्वदा+एव**=निरन्तर ही (रहे, तो); **एतत्+अपि**=उससे भी; **किल**=क्या प्रयोजन; **यतः**=क्योंकि; **तत्**=वह; **अप्राप्त-पूर्वं**=पहले नहीं पाया-ऐसा; **न**=नहीं है।।३६०।।

अर्थ : निगोदिया जीव, विष्टा का कीड़ा, पशु, राजा, भार वहन करनेवाले, भील, रोगी, नीरोगी, धनवान, निर्धन, सवारी पर घूमनेवाले, पैदल चलनेवाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवों में जो इंद्रियों से उत्पन्न सुख कभी होते हैं या कदाचित् सदा देखने में आता हो; उससे क्या प्रयोजन? अथवा वह सर्वदा ही बना रहे, तब भी क्या प्रयोजन? क्योंकि वह पहले कभी भी नहीं प्राप्त हुआ ऐसा निराकुलतामय सुख नहीं है (अर्थात् इंद्रियों से उत्पन्न सुख विनाशीक है और सुलभरूप से कहीं न कहीं, कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है; परन्तु निराकुलतामय सुख नित्य, अविनाशी है और आत्मा को विना विशुद्ध किए कभी प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिए इन्द्रिय-सुख कैसा भी क्यों न हो, वह कभी निराकुलतामय सुख की तुलना नहीं कर सकता)।।३६०।।

अब, सिद्ध और संसारी के ज्ञान के अन्तर का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं, सिद्धानां भविनां भवेत्।**
आद्यानां निर्विकल्पं तु, परेषां सविकल्पकम्।।८-३६१।।

नित सिद्ध संसारी सभी के, ज्ञेय दर्शन ज्ञान है।
पर सिद्ध आकुलता रहित, संसारी साकुल दुखी हैं।।३६१।।

अन्वयार्थ : ज्ञेय+अवलोकनं=पदार्थों का अवलोकन करने वाला; **ज्ञानं**=ज्ञान; **सिद्धानां**=सिद्धों के; (और) **भविनां**=संसारिओं के; **भवेत्**=होता है; **तु**=परंतु; **आद्यानां**=पहले/सिद्धों के; (वह) **निर्विकल्पं**=विकल्प-रहित है; **परेषां**=दूसरे/संसारी छद्मस्थों के; **सविकल्पकं**=विकल्प-सहित है।।३६१।।

अर्थ : पदार्थों का देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान), सिद्ध और संसारी दोनों के होता है; परन्तु सिद्धों के वह निर्विकल्प, आकुलता-रहित और संसारी जीवों के सविकल्प, आकुलता-सहित होता है।।३६१।।

ज्ञान के इसी अन्तर को अब, और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः।**
कर्मबन्धोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे।।९-३६२।।

सविकल्प आकुलता सहित, है निराकुल निर्विकल्प ही।
सविकल्प दुख बन्धनमई, भिन्न ज्ञान सुख निर्बन्ध ही।।३६२।।

अन्वयार्थ : सविकल्पः=विकल्प-सहित ज्ञान; **व्याकुलः**=व्याकुल है; **निर्विकल्पः** =विकल्प-रहित ज्ञान; **निराकुलः**=आकुलता-रहित है; **च**=और; **आद्ये**=पहले/सविकल्प में; **कर्म-बंधः**=कर्म का बंध; **असुखं**=दुःख है; **परे**=दूसरे/निर्विकल्प में; **कर्म+अभावः** =कर्म का अभाव; **सुखं**=सुख है।।३६२।।

अर्थ : जिस ज्ञान की मौजूदगी में आकुलता हो, वह ज्ञान सविकल्पक और जिसमें आकुलता न हो, वह ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। उनमें सविकल्प ज्ञान के होने पर कर्मों का बन्ध और दुःख भोगना पड़ता है और निर्विकल्पक ज्ञान के होने पर कर्मों का अभाव और परम सुख प्राप्त होता है।।३६२।।

अब, अपनी इच्छा को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **बहून् वारान् मया भुक्तं, सविकल्पं सुखं ततः।**
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे, सुखेऽस्तीहा ततो मम।।१०-३६३।।

सविकल्प सुख बहुवार भोगा, अतः नव अद्भुत नहीं।
अब मात्र इच्छा निर्विकल्पक, निराकुल निज सौख्य की।।३६३।।

अन्वयार्थ : मया=मेरे द्वारा; **बहून् वारान्**=अनेकों बार; **सविकल्पं सुखं**=सविकल्प सुख को; **भुक्तं**=भोगा गया है; **ततः**=इस कारण; **तत्**=वह; **अपूर्वं**=पहले प्राप्त नहीं हुआ; **न**=नहीं है; **ततः**=इस कारण; **मम**=मेरी; **ईहा**=इच्छा; **निर्विकल्पे**=विकल्प-रहित; **सुखे**=सुख में; **अस्ति**=है।।३६३।।

अर्थ : आकुलता के भण्डार इस सविकल्पक सुख का मैंने बहुत बार अनुभव किया है। जिस गति में गया हूँ, वहाँ मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है; इसलिए वह मेरे लिए

अपूर्व नहीं है; परन्तु निराकुलतामय, निर्विकल्पक सुख मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ; इसलिए उसी की प्राप्ति के लिए मेरी अत्यन्त इच्छा है; वह कब मिले - इस आशा से मेरा चित्त सदा भटकता फिरता है।।३६३।।

राग से दु:ख और विराग से सुख होता है; अब, ऐसा निरूपित करते हैं —

अनुष्टुप् : **ज्ञेय-ज्ञानं सरागेण, चेतसा दु:खमंगिन:।**
निश्चयश्च विरागेण, चेतसा सुखमेव तत्।।११-३६४।।

हो सरागी मन जानता, जो ज्ञेय दुख हेतु हुए।
हो विरागी मन जानता, वह सौख्य सुख हेतु हुए।।३६४।।

अन्वयार्थ : अंगिन:=प्राणी के; **सरागेण**=राग-सहित; **चेतसा**=मन से; **ज्ञेय-ज्ञानं**=पदार्थ का ज्ञान; **दु:खं**=दु:ख का; **च**=और; **तत्**=वह (ज्ञान); **विरागेण**=राग-रहित; **चेतसा**=चित्त से; **सुखं+एव**=सुख का ही (कारण है); **निश्चय:**=ऐसा निश्चय है।।३६४।।

अर्थ : रागी, द्वेषी और मोही चित्त से पदार्थों का जो ज्ञान किया जाता है, वह दु:ख-स्वरूप है; उस ज्ञान से जीवों को दु:ख भोगना पड़ता है और वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह चित्त से पदार्थों का जो ज्ञान होता है; वह सुख-स्वरूप है; उस ज्ञान से सुख की प्राप्ति होती है।।३६४।।

अब, चिदात्मा की महिमा बताते हैं —

उपजाति : **रवे: सुधाया: सुर-पादपस्य, चिंतामणेरुत्तम-कामधेनो:।**
दिवो विदग्धस्य हरेरखर्वं, गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा।।१२-३६५।।

हरि सूर्य अमृत सुरतरु, चिन्तामणि सुरधेनु दिव।
विद्वान आदि का गर्व सब मिटा विजयी चिदातम।।३६५।।

अन्वयार्थ : भो=हे प्राणी!; **रवे:**=सूर्य के; **सुधाया:**=अमृत के; **सुर-पादपस्य**=कल्पवृक्ष के; **चिंतामणे:**=चिंतामणि के; **उत्तम-कामधेनो:**=श्रेष्ठ कामधेनु के; **दिव:**=स्वर्ग के; **विदग्धस्य**=विद्वान के; **हरे:**=विष्णु के; **अखर्वं**=अखण्ड; **गर्वं**=घमण्ड का; **हरन्**=हरण करता हुआ; **चिदात्मा**=यह चिदात्मा; **विजयी**=विजय-शील है।।३६५।।

अर्थ : हे आत्मन्! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णु के अखण्ड गर्व को देखते-देखते चूर करनेवाला है और विजय-शील है।

भावार्थ : यह चिदात्मा दीप्ति में सूर्य से भी बड़-चड़कर है, महा-दीप्तिमान है, आनन्द प्रदान करने में अमृत को भी जीतनेवाला है; कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु से भी अधिक, इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है। स्वर्ग से भी अधिक सुख देनेवाला, अपनी विद्वत्ता से विद्वान की विद्वत्ता जीतनेवाला और विष्णु से अधिक अखण्ड प्रताप का भण्डार है।।३६५।।

अब, शान्ति को प्राप्त करने के साधन का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते।**
तच्छांति-र्जायते शुद्ध-चिद्रूपे लयतोऽचला।।१३-३६६।।

चिन्ता है दुख है सौख्य शान्ति, यह प्रतीति हो स्वयं।
निज शुद्ध चिद्रूप में मगनता से प्रगट शान्ति अचल।।३६६।।

अन्वयार्थ : चिंता=सोच; **दुःखं**=दुःख है; **शांतिः**=शान्ति; **सुखं**=सुख है; **तस्याः**=उसकी; **एतत्**=इस प्रकार; **प्रतीयते**=प्रतीति होती है; **तत्**=वह; **अचला**=अविनाशी; **शांतिः**=शान्ति; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **लयतः**=लीनता से; **जायते**=प्रगट होती है।।३६६।।

अर्थ : जिस अचल शान्ति से संसार में यह मालूम होता है कि यह चिंता है, यह दुःख है, यह सुख और शान्ति है; वह (शान्ति) इसी शुद्ध-चिद्रूप में लीनता प्राप्त करने से होती है। शुद्ध-चिद्रूप में लीनता प्राप्त किए विना चिन्ता, दुःख आदि के अभाव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।।३६६।।

अब, शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के साधनों का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **मुंच सर्वाणि कार्याणि, संगं चान्यैश्च संगतिम्।**
भो भव्य! शुद्ध-चिद्रूप-लये वांछास्ति ते यदि।।१४-३६७।।

सब छोड़ लौकिक कार्य, परिग्रह अन्य संगति भी सभी।
हे भव्य! शुद्ध चिद्रूप में, दृढ़ लीनता चाहे यदि।।३६७।।

अन्वयार्थ : भो भव्य!=हे भव्य; **यदि ते**=यदि तुम्हारी; **शुद्ध-चिद्रूप-लये**=शुद्ध-चिद्रूप में लीनता की; **वांछा**=इच्छा; **अस्ति**=है; (तो) **सर्वाणि**=सभी; **कार्याणि**=कार्यों को; **संगं**=परिग्रह को; **च**=और; **अन्यैः**=दूसरों की; **संगतिं**=संगति को; **मुंच**=छोड़ दो।।३६७।।

अर्थ : हे भव्य! यदि तुम शुद्ध-चिद्रूप में लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो तुम सांसारिक समस्त कार्य, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह और दूसरों का सहवास सर्वथा छोड़ दो।।३६७।।

अन्य के त्याग में सुख होता है; इसे अब, तर्क से सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप् : **मुक्ते बाह्ये परद्रव्ये, स्यात्सुखं चेच्चितो महत्।**
सांप्रतं किं तदादोऽतः, कर्मादौ न महत्तरम्।।१५-३६८।।

हो रहित आतम बाह्य पर द्रव्यों से सुख होता अधिक।
यदि कर्म आदि सभी से, हो पूर्ण विरहित सुख अतुल।।३६८।।

अन्वयार्थ : सांप्रतं=इस समय; **चितः**=आत्मा को; **बाह्ये**=बहिरंग; **पर-द्रव्ये-मुक्तेः**=पर-पदार्थ से रहित होने पर; **चेत्**=यदि; **महत्**=महा; **सुखं**=सुख; **स्यात्**=हो जाता है; **तदा**=तब; **कर्म+आदौ**=कर्म आदि के अभाव में; **आदः+अतः**=वह उससे भी; **महत्तरं**=अधिक महान; **किं**=क्या/कैसे; **न**=नहीं होगा।।३६८।।

अर्थ : जब बाह्य पर-द्रव्यों से रहित हो जाने पर भी आत्मा को महान सुख मिलता है; तब कर्म आदि का नाश हो जाने पर तो उससे भी अधिक महान सुख प्राप्त होगा।।३६८।।

अब, दो पद्यों द्वारा यथार्थ सुख को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **इन्द्रियैश्च पदार्थानां, स्वरूपं जानतोऽगिनः।**
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत्।।१६-३६९।।
यो रागादि-विनिर्मुक्तः, पदार्था-नखिला-नपि।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखम्।।१७-३७०।।युग्मं।।

नित इंद्रियों से पर पदार्थों, भाव को जाने वहीं।
जो राग वह सुख द्वेष दुख, है महा भ्रान्ति जिन कही।।३६९।।

रागादि विरहित विज्ञ जो, सब वस्तुओं को जानते।
भी निराकुलतामय, वही सुख वास्तविक वे भोगते।।३७०।।

अन्वयार्थ : अंगिनः=प्राणी को; **इंद्रियैः**=इन्द्रियों के द्वारा; **पदार्थानां**=पदार्थों का; **स्वरूपं**=स्वरूप; **जानतः**=जानते हुए; **यः**=जो; **रागः**=राग (होता है); **तत्**=वह; **सुखं**=सुख; **च**=और; **द्वेषः**=(जो) द्वेष होता है; **तत्-दुःखं**=वह दुःख है; (ऐसा) **भ्रांतिजं**=भ्रान्ति से उत्पन्न; **भवेत्**=होता है; **राग+आदि-विनिर्मुक्तः**=रागादि से पूर्णतया रहित; **यः**=जो; **अखिलान्**=सभी; **पदार्थान्**=पदार्थों को; **जानन्+अपि**=जानते हुए भी; **यत्**=जो; **निराकुलत्वं**=आकुलता का अभाव है; **तस्य**=उसका; **तत्**=वह; **तात्त्विकं**= वास्तविक; **सुखं**=सुख है।।३६९-३७०।।

अर्थ : इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाननेवाले इस जीव का जो उनमें राग होता है, वह सुख और द्वेष होता है, वह दुःख है - ऐसा मानना नितान्त भ्रम है; किन्तु जो पुरुष राग, द्वेष आदि से रहित है, समस्त पदार्थों का जानकार है, उसके जो समस्त प्रकार की आकुलता का त्याग है, निराकुलता है, वही वास्तविक सुख है।

भावार्थ : यह जीव स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थों में कुछ राग होने से सुख और उनमें द्वेष हो जाने से दुःख मानता है; परन्तु वास्तव में वे दोनों ही (राग-द्वेष) दुःख-स्वरूप हैं; क्योंकि उनसे जीव के परिणाम आकुलतामय रहते हैं। जहाँ पर आकुलता न हो, वही वास्तविक सुख है और वह सुख राग, द्वेष आदि से रहित समस्त पदार्थों को जाननेवाले महान पुरुष के ही होता है।।३६९-३७०।।

इन्द्रिय-सुख को सुख मानना भ्रम है; अब, ऐसा निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **इन्द्राणां सार्वभौमानां, सर्वेषां भावनेशिनाम्।**
विकल्पसाधनैः खार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखं कुतः।।१८-३७१।।

तात्त्विकं च सुखं तेषां, ये मन्यंते ब्रुवंति च।
एवं तेषामहं मन्ये, महती भ्रांतिरुद्गता।।१९-३७२।।

नित इन्द्र चक्री भवन अधिपति, सब विकल्पों पूर्वक।
इंद्रिय विषय से आकुलित, तब कहो कैसे उन्हें सुख?।।३७१।।

उनके सुखों को वास्तविक, जो मानते कहते उन्हें।
मैं मानता अति महा भ्रान्ति, प्रगट मोहासक्त वे।।३७२।।

अन्वयार्थ : इन्द्राणां=इन्द्रों के; **सार्व-भौमानां**=चक्रवर्तियों के; **सर्वेषां**=सभी; **भावन+ईशिनां**=भवन-वासी इन्द्रों के; **विकल्प-साधनैः**=विकल्प-साधनमय; **ख+अर्थैः**=इन्द्रिय-विषयों द्वारा; **व्याकुलत्वात्**=विशिष्ट आकुलता होने के कारण; (उनमें) **सुखं**=सुख; **कुतः**=कैसा/कहाँ?; **च**=और; **ये**=जो; **तेषां**=उनके; **तात्त्विकं सुखं**=वास्तविक सुख; **मन्यंते**=मानते हैं; **च**=और; **ब्रुवंति**=कहते हैं; **तेषां**=उनके; **महती**=बहुत बड़ी; **भ्रान्तिः**=भ्रान्ति; **उद्गता**=प्रगट हुई है; **एवं**=ऐसा; **अहं**=मैं; **मन्ये**=मानता हूँ।।३७१-३७२।।

अर्थ : इन्द्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवों के स्वामियों को जितने इन्द्रियों के विषय होते हैं, वे विकल्पों से होते हैं। (अपने अर्थों को सिद्ध करने में उन्हें नाना प्रकार के विकल्प करने पड़ते हैं और) उन विकल्पों से सदा चित्त आकुलतामय रहता है; इसलिए वास्तविक सुख उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष, उनके सुख को वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुख की वास्तविक सुख में गणना करते हैं; मैं (ग्रन्थकार) समझता हूँ उनकी यह भारी भूल है। वह सुख कभी वास्तविक सुख नहीं हो सकता।।३७१-३७२।।

अब, निराकुल सुख पाने की पात्रता का वर्णन करते हैं—

वंशस्थ : **विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने, पदे स्थितानां सुखमत्र योगिनाम्।**
विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां, विदां यथा स्यान्न हि कस्यचित्तथा।।२०-३७३।।

रागादि तज निर्जन थलों में, सुथिर योगी विवेकी।
शुद्धात्म वेदी विज्ञ को, जो सुख किसी को नहिं कभी।।३७३।।

अन्वयार्थ : तु=वास्तव में; **रागादि-निजं**=अपने रागादि को; **विमुच्य**=छोड़कर; **अत्र**=यहाँ; **निर्जने**=एकान्त; **पदे**=स्थान में; **स्थितानां**=निवास करनेवाले; **विवेकिनां**=भेद-विज्ञानी; **शुद्ध-चित्+आत्म-चेतसां**=शुद्ध-चिद्रूप में अनुरक्त; **विदां**=विद्वान; **योगिनां**=

योगियों को; **यथा**=जैसा; **सुखं**=सुख; **स्यात्**=होता है; **हि**=वास्तव में; **तथा**=उस प्रकार का; **कस्यचित्**=किसी को भी; **न**=नहीं होता है।।३७३।।

अर्थ : इसलिए जो योगि-गण बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागकर निरुपद्रव एकान्त स्थान में निवास करते हैं; विवेकी, हित-अहित के जानकार हैं, शुद्ध-चिद्रूप में रत हैं और विद्वान हैं, उन्हें ही यह निराकुलतामय सुख प्राप्त होता है; उनसे अन्य किसी भी मनुष्य को नहीं।।३७३।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण-निर्मित तत्त्वज्ञान-तरंगिणी में ''शुद्ध-चिद्रूप में प्रेम बड़े'' इस कारण वास्तविक सुख का प्रतिपादन करनेवाला ३५४ से ३७३ पर्यंत २० पद्यों-युक्त सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१७।।

अठारहवाँ अध्याय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का क्रम

अब, शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का क्रम दिखाते हैं —

स्रग्धरा : **श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणमपि दृढं चेतसा यो विधाय,**
कृत्वांतः स्थैर्यबुद्ध्या परमनुभवनं तल्लयं याति योगी।
तस्य स्यात्कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्नभव्यस्य नूनम्।।१-३७४।।

'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' श्रवण, श्रद्धान कर मन वचन से।
सुदृढ़ ग्रहण कर अन्तरंग, पूर्ण स्थिर बुद्धि से।।
उत्कृष्ट अनुभव पूर्वक, इसमें मगन हो योगि जो।
उन निकट भवि के कर्म-क्षय, पश्चात् शिव पद प्राप्त हो।।
इस भाँति क्रमशः अन्तरोन्मुखी विधि से निराकुल।
स्वाधीन सौख्यमई दशा, प्रगटे सुनिश्चित मान यह।।३७४।।

अन्वयार्थ : यः=जो; **योगी**=साधक; **अहं**=मैं; **शुद्ध-चिद्रूपः**=शुद्ध-चिद्रूप हूँ; (ऐसा) **श्रुत्वा**=सुनकर; **श्रद्धाय**=श्रद्धान कर; **वाचा**=वचन से; **अपि**=भी; **ग्रहणं**=ग्रहण (कर); **चेतसा**=मन द्वारा; **दृढं**=दृढ़ता पूर्वक; **विधाय**=धारण कर; **अंतः**=अंतरंग/उपयोग को; **स्थैर्य**=स्थिर; **कृत्वा**=कर; **बुद्ध्या**=बुद्धि से; **परं**=अन्य को; **अनुभवनं**=जान; **तत्**=उस/शुद्ध-चिद्रूप में; **लयं याति**=लीन हो जाता है; **तस्य**=उस; **आसन्न-भव्यस्य**=निकट भव्य के; **नूनं**=नियम से; **इह**=यहाँ; **क्रमेण**=क्रम से; **कर्म-नाशः**=कर्मों का नाश; **च**=और; **तत्+अनु**=उसके बाद; **शिव-पदं**=मोक्ष पद; **स्व-भवं**=स्वयं से उत्पन्न हुआ; **सौख्य**=सुख (प्राप्त हो जाता है)।।३७४।।

अर्थ : जो योगी 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा भले प्रकार श्रवण और श्रद्धान कर, वचन और मन से उसे ही दृढ़रूप से धारण कर, अन्तरंग को स्थिरकर और उसे सर्व से पर/सर्वोत्तम जानकर उसका (शुद्ध-चिद्रूप का) अनुभव और उसमें अनुराग करता है; वह आसन्न भव्य, बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी, क्रम से समस्त कर्मों का नाश कर अतिशय विशुद्ध मोक्ष-मार्ग और निराकुलतामय आत्मिक सुख का लाभ प्राप्त करता है।

भावार्थ : 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसा श्रद्धान और ज्ञान किए विना शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग नहीं हो सकता; अनुराग के विना उसका अनुभव, अनुभव न करने से कर्मों का नाश, कर्मों का नाश न होने से मोक्ष की प्राप्ति और मोक्ष की प्राप्ति न होने से शान्तिमय सुख कदापि नहीं मिल सकता।।३७४।।

अब, दो पद्यों द्वारा उपदेश का क्रम बताते हैं—

अनुष्टुप् : **गृहिभ्यां दीयते शिक्षा, पूर्वं षट्कर्म-पालने।**
व्रतांगी-करणे पश्चात्संयम-ग्रहणे ततः।।२-३७५।।
यतिभ्यो दीयते शिक्षा, पूर्वं संयम-पालने।
चिद्रूप-चिंतने पश्चा-दय-मुक्तो बुधैः क्रमः।।३-३७६।।युग्मं।।

पहले गृही को षट् करम, पालन की शिक्षा दें पुनः।
व्रत ग्रहण उसके बाद, संयम ग्रहण में प्रवर्तना।।३७५।।

पर यती को पहले सुसंयम, पालने की सीख दें।
पश्चात् चिद्रूप ध्यान की, ज्ञानी यही क्रम बताते।।३७६।।

अन्वयार्थ : गृहिभ्यः=गृहस्थों को; **शिक्षा**=उपदेश; **पूर्वं**=पहले; **षट्-कर्म-पालने**=षट् (आवश्यक) कर्म के पालन में; **पश्चात्**=उसके बाद; **व्रत+अंगी-करणे**=व्रतों को स्वीकार करने में; **ततः**=तत्पश्चात्; **संयम-ग्रहणे**=संयम को ग्रहण करने में; **दीयते**=देना चाहिए; **यतिभ्यः**=यतिओं के लिए; **शिक्षा**=उपदेश; **पूर्वं**=पहले; **संयम-पालने**=संयम के पालन में; **पश्चात्**=उसके बाद; **चिद्रूप-चिंतने**=चिद्रूप के चिन्तन में (लगे रहने का); **दीयते**=देना चाहिए; **बुधैः**=ज्ञानिओं द्वारा; **अयं**=यह; **क्रमः**=क्रम; **उक्तः**=कहा गया है।।३७५-३७६।।

अर्थ : जो मनुष्य गृहस्थ हैं, उन्हें पहले देव-पूजा आदि छह आवश्यक कर्मों को पालने की, पश्चात् व्रतों को धारण करने की और फिर संयम-ग्रहण करने की शिक्षा देनी चाहिए; परन्तु जो यति हैं, निर्ग्रन्थरूप धारण कर वन-वासी हो गए हैं, उन्हें सबसे पहले संयम पालने की और पीछे शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने की शिक्षा देनी चाहिए - यह क्रम ज्ञानियों ने कहा है।।३७५-३७६।।

मोक्ष-प्राप्ति किसे सरल है; अब, यह बताते हैं—

अनुष्टुप् : **संसारभीतितः पूर्वं, रुचिर्मुक्तिसुखे दृढ़ा।**
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोऽस्ति तत्।।४-३७७।।

संसार भय से भीत शिव सुख में रुचि दृढ़ हो प्रथम।
उत्पन्न यदि तो उसे पाने का उपाय सहज सुगम।।३७७।।

अन्वयार्थ : यदि=यदि; **संसार-भीतितः**=संसार से भय लगने से; **पूर्वं**=पहले; **मुक्ति-सुखे**=मोक्ष-सुख में; **रुचि**=प्रीति; **दृढ़ा**=दृढ़; **जायते**=हो जाती है; **तत्**=तब; **तत्-प्राप्तेः**=उसे प्राप्त करने का उपाय; **सुगमः**=सरल; **अस्ति**=है।।३७७।।

अर्थ : जिन मनुष्यों को संसार के भय से पूर्व ही मोक्ष-सुख की प्राप्ति में रुचि दृढ़ है, जल्दी संसार के दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं। उन्हें समझ लेना चाहिए कि मुक्ति की प्राप्ति का सुगम उपाय मिल गया, वे बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थ : जब तक मोक्ष पाने की हृदय में कामना नहीं होती, मोक्ष-सुख का अनुभव करने में प्रेम नहीं होता; तब तक कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और उसमें प्रेम करने से तो वह शीघ्र ही मिल जाता है। जिनकी रुचि, संसार से भय-भीत होने के बाद मुक्ति-सुख में होती है; यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं; तथापि जो संसार के भय से पूर्व ही मोक्ष-सुख में प्रेम करनेवाले हैं; वे सुगमता से बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं। अधिक काल तक उन्हें संसार में नहीं भटकना पड़ता।।३७७।।

कर्माभाव और तात्त्विक सुख युगपत् होता है; अब, यह व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **युगपज्जायते कर्म-मोचनं तात्त्विकं सुखम्।**
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः।।५-३७८।।

हो निर्विकल्पक सुयोगी के, निजातम में लीनता।
से प्रगट युगपत् कर्म क्षय, वास्तविक सुख यों जानना।।३७८।।

अन्वयार्थ : निर्विकल्पस्य=विकल्प-रहित; **योगिनः**=साधक के; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **लयात्**=लीन होने से; **युगपत्**=एक साथ; **कर्म-मोचनं**=कर्मों का अभाव; **च**=और; **तात्त्विकं सुखं**=वास्तविक सुख; **जायते**=प्रगट हो जाता है।।३७८।।

अर्थ : जो योगी निर्विकल्पक हैं, समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित हैं और शुद्ध-चिद्रूप में लीन हैं; उन्हें एक साथ समस्त कर्मों का नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप में लीनता होने से एक साथ समस्त कर्मों का नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है; इसलिए योगियों को चाहिए कि समस्त प्रकार के विकल्पों को छोड़कर शुद्ध-चिद्रूप में ही अनुराग करें।।३७८।।

अब, दो पद्यों द्वारा योग के आठ अंगों के अभ्यास-हेतु प्रेरित करते हैं —

अनुष्टुप् : **अष्टावंगानि योगस्य, यमो नियम-आसनम्।**
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा।।६-३७९।।
ध्यानश्चैव समाधिश्च, विज्ञायैतानि शास्त्रतः।
सदैवाभ्यसनीयानि, भदन्तेन शिवार्थिना।।७-३८०।।युग्मं।।

हैं योग के अष्टांग , यम व नियम आसन प्राणायाम।
तथा प्रत्याहार मन में, धारणा अरु ध्यानमय।।
अरु समाधि, शास्त्र से, नित समझ भवि मोक्षार्थि को।
अभ्यास करना चाहिए, यदि चाहते चिद्रूप को।।३७९-३८०।।

अन्वयार्थ : यमः=यम; **नियमः**=नियम; **आसनं**=आसन; **प्राणायामः**=प्राणायाम; **प्रत्याहारः**=प्रत्याहार; **मनसि धारणा**=मन में धारणा; **ध्यानः**=ध्यान; **च**=और; **समाधिः**=समाधि; **योगस्य**=योग के; **एतानि**=इन; **अष्टौ**=आठ; **अंगानि**=अंगों को; **शास्त्रतः**=शास्त्र से; **विज्ञाय**=जानकर; **शिव+अर्थिना**=मोक्ष के इच्छुक; **भदंतेन**=मुनि द्वारा; **सदा+एव**=निरंतर ही; **अभ्यसनीयानि**=अभ्यास के योग्य है।।३७९-३८०।।

अर्थ : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि - ये आठ अंग, योग के हैं। इन्हीं के द्वारा योग की सिद्धि होती है; इसलिए जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं, समस्त कर्मों से अपने आत्मा को मुक्त करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि शास्त्र से इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें।।३७९-३८०।।

अब, भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष के उपाय का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **भावान्मुक्तो भवेच्छुद्ध-चिद्रूपोऽह-मिति स्मृतेः।**
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते।।८-३८१।।

'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' सदा, इस ध्यान से भाव मोक्ष हो।
तो नियम से क्रमशः इसी से, द्रव्य मुक्ति हो हि हो।।३८१।।

अन्वयार्थ : शुद्ध-चिद्रूपः=शुद्ध-चिद्रूप; **अहं**=मैं (हूँ); **इति**=इस प्रकार के; **स्मृतेः**=स्मरण से; **यदि+आत्मा**=यदि जीव; **भावात्**=भाव से; **मुक्तः**=मुक्त; **भवेत्**=हो जाता है; (तब फिर) **सः**=वह; **क्रमतः**=क्रम से; **द्रव्यात्**=द्रव्य से (मुक्त); **कथं**=कैसे; **न**=नहीं; **विधीयते**=होगा।।३८१।।

अर्थ : यह आत्मा 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसा स्मरण करते ही जब भाव-मुक्त हो जाता है, तब क्रम से द्रव्य-मुक्त तो अवश्य ही होगा।

भावार्थ : शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण में जब इतनी सामर्थ्य है कि उस स्मरण मात्र से ही भाव-संसार से छूटकर भाव-मोक्ष प्राप्त करता है; तब यह पर-द्रव्य, संसार का सम्बन्ध तो इस आत्मा से अवश्य ही दूर कर देगा। शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करने से कभी भी द्रव्य और भाव संसार का सम्बन्ध नहीं रह सकता।।३८१।।

अब, मोक्ष और बंध के कारण का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप्: **क्षणे क्षणे विमुच्येत, शुद्ध-चिद्रूप-चिंतया।**
तदन्यचिंतया नूनं, बध्येतैव न संशयः।।९-३८२।।

निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, प्रतिक्षण करम खिरते रहें।
संशय नहीं वे अन्य चिन्ता से सदा बँधते रहें।।३८२।।

अन्वयार्थ : नूनं=निश्चित ही; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतया**=शुद्ध-चिद्रूप के चिंतन से; **क्षणे-क्षणे**=क्षण-क्षण में; **विमुच्येत**=(कर्मों से) छूटता जाता है; **तत्+अन्य-चिंतया**= उससे भिन्न के चिंतन से; **बध्येत+एव**=बँधता ही जाता है; **न-संशयः**=(इसमें) संशय नहीं है।।३८२।।

अर्थ : यदि शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन किया जाएगा तो प्रति-क्षण कर्मों से मुक्ति होती चली जाएगी और यदि पर-पदार्थों का चिन्तन होगा तो प्रति-समय कर्म-बन्ध होता रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।।३८२।।

अब, मरण का नियम बताते हैं—

अनुष्टुप् : **सयोग-क्षीण-मिश्रेषु, गुणस्थानेषु नो मृतिः।**
अन्यत्र मरणं प्रोक्तं, शेष-त्रि-क्षपकैर्विना।।१०-३८३।।

केवलि सयोगी क्षीणमोही, मिश्र त्रय क्षय-श्रेणी के।
गुणस्थान में मृत्यु नहीं, शेषान्य में वह हो सके।।३८३।।

अन्वयार्थ : सयोग-क्षीण-मिश्रेषु=सयोग-केवली, क्षीण-मोह, मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्व; **गुणस्थानेषु**=गुणस्थानों में; **मृतिः**=मरण; **नो**=नहीं है; **त्रि-क्षपकैः**=आठवाँ; नवमाँ, दशवाँ - इन तीन क्षपक-श्रेणीवालों के; **विना**=विना; **शेष-अन्यत्र**=शेष अन्य में; **मरणं**=मरण; **प्रोक्तं**=कहा गया है।।३८३।।

अर्थ : सयोग-केवली, क्षीण-मोह, मिश्र और क्षपक-गुणस्थान आठवें, नवमें और दशवें में मरण नहीं होता; परन्तु इनसे भिन्न गुणस्थानों में मरण होता है।।३८३।।

किसमें मरण कर कहाँ जाते हैं; अब, इसे स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **मिथ्यात्वेऽविरते मृत्वा जीवा यांति चतुर्गतीः।**
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादि-गति-त्रयम्।।११-३८४।।

मिथ्यात्व अविरति में मरण, तो चार गति में जा सके।
सासन मरण में नरक विन, बस तीन गति में जा सके।।३८४।।

अन्वयार्थ : मिथ्यात्वे=मिथ्यात्व में; **अविरते**=अविरत सम्यक्त्व में; **मृत्वा**=मरण

कर; **जीवा**=प्राणी; **चतुः गतीः**=चारों गतिओं में; **यांति**=जाते हैं; **सासादने**=सासादन में (मरण कर); **श्वभ्रं विना**=नरक को छोड़कर; **तिर्यक्+आदि-गति-त्रयं**=तिर्यंच आदि तीन गति में (जाते हैं)।।३८४।।

अर्थ : जो जीव मिथ्यात्व और अविरत-सम्यक्त्व (जिसने सम्यक्त्व होने से पहले आयु-बन्ध कर लिया हो) गुणस्थान में मरते हैं; वे मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नरक - चारों गतियों में और सासादन गुणस्थान में मरनेवाले नरक-गति में न जाकर शेष तिर्यञ्च आदि तीन गतियों में जाते हैं।।३८४।।

अब, शेष रही इसी व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यांति शिवालयम्।**
मृत्वा देवगतिं यांति शेषेषु सप्तसु ध्रुवम्।।१२-३८५।।

है अयोगी में मरण निश्चित, नित शिवालय प्राप्त हो।
यदि शेष सातों में मरण तो, देव गति ही प्राप्त हो।।३८५।।

अन्वयार्थ : अयोगे=अयोग-केवली में; **मरणं कृत्वा**=मरण कर; **भव्या**=भव्य; **शिव+आलयं**=मोक्ष को; **यांति**=जाते हैं; **शेषेषु**=शेष रहे; **सप्तसु**=सात में; **मृत्वा**=मरण कर; **ध्रुवं**=नियम से; **देवगतिं**=देव-गति में; **यांति**=जाते हैं।।३८५।।

अर्थ : अयोग-केवली नामक चौदहवें गुणस्थान से मरनेवाले जीव, मोक्ष जाते हैं और शेष सात गुणस्थानों से मरनेवाले, देव होते हैं।।३८५।।

अब, इस समय की आत्माराधना का फल चार पद्यों द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शुद्ध-चिद्रूप-सद्ध्यानं, कृत्वा यांत्यधुना दिवम्।**
तत्रेन्द्रिय-सुखं भुक्त्वा, श्रुत्वा वाणीं जिनागताम्।।१३-३८६।।
जिनालयेषु सर्वेषु, गत्वा कृत्वार्चनादिकम्।
ततो लब्ध्वा नरत्वं च, रत्नत्रय-विभूषणम्।।१४-३८७।।
शुद्ध-चिद्रूप-सद्ध्यान-बलात्कृत्वा विधि-क्षयम्।
सिद्ध-स्थानं परिप्राप्य, त्रैलोक्य-शिखरे क्षणात्।।१५-३८८।।

साक्षाच्च शुद्ध-चिद्रूपा, भूत्वात्यंत-निराकुलाः।
तिष्ठंत्यनंतकालं ते, गुणाष्टक-समन्विताः।।१६-३८९।।चतुष्कलं।।

हैं अभी भी निज शुद्ध चिद्रूप, ध्यान कर पाते सुरग।
वे वहाँ इंद्रिय सौख्य भोगें, सुनें वाणी जिनागत।।३८६।।

सब जिनालय में जा करें, जिन पूजनादि वहाँ से।
आ नरपना पा सत् रतनत्रय से सुशोभित नियम से।।३८७।।

निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान बल से, कर करम क्षय सिद्ध पद।
पा इक समय में ऋजुगति से, जा त्रिलोक शिखर अचल।।३८८।।

साक्षात् शुद्ध चिद्रूप हो, नित निराकुल गुण आठ से।
मण्डित अनन्तों गुणमई, रहते अनन्तों काल ये।।३८९।।

अन्वयार्थ : **अधुना**=इस समय; **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यानं**=शुद्ध-चिद्रूप का यथार्थ ध्यान; **कृत्वा**=कर; **दिवं**=स्वर्ग में; **यांति**=जाते हैं; **तत्र**=वहाँ; **इंद्रिय-सुखं**=इन्द्रिय सुख को; **भुक्त्वा**=भोगकर; **जिन+आगतां**=जिनेन्द्र भगवान की; **वाणीं**=वाणी को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **सर्वेषु**=सभी; **जिन+आलयेषु**=जिन-मन्दिरों में; **गत्वा**=जाकर; **अर्चना+आदिकं**=पूजन आदि; **कृत्वा**=कर; **ततः**=उससे; **नरत्वं**=मनुष्यपना; **च**=और; **रत्नत्रय-विभूषणं**=रत्नत्रयरूप आभूषण को; **लब्ध्वा**=प्राप्त कर; **शुद्ध-चिद्रूप-सत्-ध्यान-बलात्**=शुद्ध-चिद्रूप के यथार्थ ध्यान के बल से; **विधि-क्षयं**=कर्मों का क्षय; **कृत्वा**=कर; **क्षणात्**=क्षण भर में; **त्रैलोक्य-शिखरे**=तीन लोक के शिखर पर; **सिद्ध-स्थानं**=सिद्ध-स्थान को; **परिप्राप्य**=प्राप्त कर; **च**=और; **साक्षात्**=प्रगटरूप में; **शुद्ध-चिद्रूपा**=शुद्ध-चिद्रूप; **अत्यंत-निराकुलाः**=अत्यंत-निराकुल; **गुण+अष्टक-समन्विताः**=आठ गुणों से संपन्न; **भूत्वा**=होकर; **ते**=वे; **अनंत-कालं**=अनन्त काल पर्यन्त; **तिष्ठंति**=स्थित रहते हैं।।३८६-३८९।।

अर्थ : इस समय भी जो जीव शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करनेवाले हैं, वे मरकर स्वर्ग जाते हैं और वहाँ भले प्रकार इन्द्रिय-जन्य सुखों को भोगकर, भगवान जिनेन्द्र के मुख से जिनवाणी श्रवण कर, समस्त जिन-मन्दिरों में जा और उनकी पूजन आदि कर, मनुष्य-भव

व सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से समस्त कर्मों का क्षयकर सिद्ध-स्थान को प्राप्त होकर तीन लोक के शिखर पर जा विराजते हैं तथा वहाँ पर साक्षात् शुद्ध-चिद्रूप होकर अत्यन्त निराकुल और केवल-दर्शन, केवल-ज्ञान, अव्याबाध-सुख आदि आठों गुणों से भूषित हो अनन्त काल पर्यन्त निवास करते हैं।।३८६-३८९।।

अब, सोदाहरण आत्माराधना-हेतु उत्साहित करते हैं—

अनुष्टुप् : **क्रमतः क्रमतो याति, कीटिका शुकवत्फलम्।**
नगस्थं स्वस्थितं ना च, शुद्धचिद्रूप-चिंतनम्।।१७-३९०।।

ज्यों कीट क्रम क्रम से तरु पर, चड़ भखे फल कीरवत्।
त्यों आत्म-स्थित शुद्ध-चिद्रूप, ध्यान कर सकता सतत।।३९०।।

अन्वयार्थ : (जैसे) **क्रमतः-क्रमतः**=क्रम-क्रम से; **याति**=चलती हुई; **कीटिका**=कीड़ी/चींटी; **शुकवत्**=तोते के समान; **नगस्थं**=पेड़ पर स्थित/लगे; **फलं**=फल का (सेवन कर लेती है); **च**=और/उसी प्रकार; **ना**=मनुष्य; **स्व-स्थितं**=स्वयं में स्थित; **शुद्ध-चिद्रूप-चिंतनं**=शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन (कर लेता है)।।३९०।।

अर्थ : जिस प्रकार कीड़ी (चींटी) क्रम-क्रम से धीरे-धीरे वृक्ष के ऊपर चड़कर शुक के समान फल का आस्वादन करती है; उसी प्रकार यह मनुष्य भी क्रम-क्रम से शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करता है।

भावार्थ : जिस प्रकार कीड़ी एकदम तोते के समान फल के पास जाकर उसका आस्वादन नहीं कर सकती; किन्तु पृथ्वी से वृक्ष के मूल-भाग पर चड़कर धीरे-धीरे फल के पास पहुँचती है और पीछे उसके रस का स्वाद लेती है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन भी कोई मनुष्य एक साथ नहीं कर सकता; किन्तु क्रम-क्रम से पर-द्रव्यों से अपनी ममता दूर करता हुआ, उसका चिन्तन कर सकता है।।३९०।।

अब, क्रमागत ध्यान और अक्रमागत ध्यान को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **गुर्वादीनां च वाक्यानि, श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः।**
कृत्वाभ्यासं यदा याति, तद्धि ध्यानं क्रमागतम्।।१८-३९१।।

जिनेशागम-निर्यास-मात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः।
विनाभ्यासं यदा याति, तद्ध्यानं चाक्रमागतम्।।१९-३९२।।युग्मं।।

सद्गुरु आदि के वचन, सुन विविध शास्त्रों का सदा।
अभ्यास कर जब प्राप्त हो, तब ध्यान क्रमशः हो वहाँ।।३९१।।

नित जो जिनागम सार को, गुरु वचन से सुन प्राप्त हो।
अभ्यास बिन जब ध्यान, तो वह अक्रमागत जान लो।।३९२।।

अन्वयार्थ : गुरु+आदीनां=गुरु आदि के; **वाक्यानि**=वाक्यों को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **अनेकशः**=अनेकों; **शास्त्राणि**=शास्त्रों का; **अभ्यासं**=अभ्यास; **कृत्वा**=कर; **यदा**=जब; **याति**=जाता है; (ध्यान होता है, तब) **हि**=वास्तव में; **तत्**=वह; **क्रम+आगतं**=क्रमागत; **ध्यानं**=ध्यान है; **च**=और; **जिन+ईश+आगम-निर्यास-मात्रं**=जिनेन्द्र भगवान द्वारा निरूपित आगम के तात्पर्य मात्र को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **गुरोः वचः**=गुरु के वचनों के; **अभ्यासं विना**=अभ्यास के विना; **यदा**=जब; **याति**=जाता है; (ध्यान होता है, तब) **तत्**=वह; **अक्रम+आगतं**=अक्रमागत; **ध्यानं**=ध्यान है।।३९१-३९२।।

अर्थ : जो पुरुष, गुरु आदि के वचनों को भले प्रकार श्रवण कर और शास्त्रों का भले प्रकार अभ्यास कर शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करता है, उसके क्रम से शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन, क्रमागत ध्यान कहा जाता है; किन्तु जो पुरुष भगवान जिनेन्द्र के शास्त्रों के तात्पर्य-मात्र को बतलानेवाले गुरु के वचनों को श्रवण कर अभ्यास नहीं करता, बारम्बार शास्त्रों का मनन-चिन्तन नहीं करता; उसके जो शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान होता है, वह अक्रमागत ध्यान कहा जाता है।।३९१-३९२।।

अब, ग्रन्थकार ग्रन्थ-निर्माण का कारण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **न लाभमानकीर्त्यर्थां*, कृता कृतिरियं मया।**
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे, प्रीतिः सैवात्र कारणम्।।२०-३९३।।

यह जो कृति की नहीं मैंने, लाभ मान यशार्थ भी।
है मात्र शुद्ध चिद्रूप में, प्रीति हुआ हेतु यही।।३९३।।

*र्थं - इति पाठः।

अन्वयार्थ : मया=मेरे द्वारा; **इयं**=यह; **कृतिः**=रचना; **लाभ-मान-कीर्ति+अर्था**= लाभ, मान, यश के लिए; **न**=नहीं; **कृता**=की गई है; **किंतु**=वरन्; **शुद्ध-चिद्रूपे**=शुद्ध-चिद्रूप में; **मे**=मेरी; **प्रीतिः**=विशिष्ट रुचि है; **अत्र**=इसमें; **सा+एव**=वह ही; **कारणं**=कारण है।।३९३।।

अर्थ : अन्त में ग्रन्थकार ग्रन्थ के निर्माण का कारण बतलाते हैं कि यह जो मैंने ग्रन्थ बनाया है, वह किसी प्रकार के लाभ, मान या कीर्ति की इच्छा से नहीं बनाया; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप में मेरा (जो) गाढ़ प्रेम है, इसी कारण इसका निर्माण हुआ है।।३९३।।

अब, ग्रन्थकार अपनी गुरु-परम्परा का परिचय देते हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित : **जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेऽग्रणी-**
स्तत्पट्टोदय-पर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानन्द-कृत्।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः।।२१-३९४।।

श्री मूल संघ में मुख्य, श्री सकलादि कीर्ति मुनि हुए।
उनके सुपट्टोदय गिरि पर, कीर्ति भुवनादि हुए।।
भव्याम्बुजों को रविवत्, आनन्दकर पदकंज में।
रत ज्ञानभूषण शिष्य कर्ता तत्त्वज्ञान-तरंगिणि के।।३९४।।

अन्वयार्थ : श्रीमूलसंघे=श्रीमूल संघ में; **अग्रणीः**=प्रमुख; **श्री-सकल+आदि-कीर्ति-मुनिपः**=श्री सकल-कीर्ति नामक आचार्य; **जातः**=हुए हैं; **तत्-पट्ट+उदय-पर्वते**=उनके पट्टरूपी उदयाचल पर; **भव्य+अंबुज+आनंद-कृत्-रविः**=भव्य रूपी कमलों को आनन्दित करनेवाले सूर्य के समान; **विख्यातः**=सुप्रसिद्ध; **भुवन+आदि-कीर्तिः**=भुवनकीर्ति; **अभूत्**=हुए; **तत्पाद-कंजे**=उनके चरण-कमलों में; **रतः**=आसक्त; **यः**=जो; **चित्-भूषणः**=ज्ञानभूषण है; **हि**=वास्तव में; **सः**=वह; **एतां**=इस; **तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणीं**=तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी का; **कृतवान्**=करनेवाला है।।३९४।।

अर्थ : मूल संघ के आचार्यों में अग्रणी, सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलादिकीर्ति हुए। उनके पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान भव्यरूपी कमलों को आनन्द प्रदान

करनेवाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनादिकीर्ति हुए। उन्हीं के चरण-कमलों का भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूँ, जिसने कि इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणी ग्रन्थ का निर्माण किया है।।३९४।।

अब, इसके अभ्यास का फल बताते हैं —

अनुष्टुप् : **क्रीडंति ये प्रविश्येनां, तत्त्वज्ञान-तरंगिणीम्।**
ते स्वर्गादिसुखं प्राप्य, सिद्ध्यंति तदनंतरम्।।२२-३९५।।

जो तत्त्वज्ञान-तरंगिणी के, विषय को स्वीकारते।
वे भोग देवादि सुखों को, सिद्ध होते नियम से।।३९५।।

अन्वयार्थ : ये=जो; **इमां**=इस; **तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणीं**=तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी/तत्त्व-ज्ञानरूपी नदी में; **प्रविश्य**=प्रवेश कर; **क्रीडंति**=क्रीड़ा/अवगाहन करते हैं; **ते**=वे; **स्वर्ग+आदि-सुखं**=स्वर्ग आदि के सुख को; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **तत्+अनंतरं**=उसके बाद; **सिद्ध्यंति**=मुक्त हो जाते हैं।।३९५।।

अर्थ : जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणी (तत्त्व-ज्ञानरूपी नदी) में प्रवेशकर क्रीड़ा (अवगाहन) करेंगे; वे स्वर्ग आदि के सुखों को भोगकर मोक्ष-सुख को प्राप्त होंगे। स्वर्ग-सुख को भोगने के बाद उन्हें अवश्य मोक्ष-सुख की प्राप्ति होगी।।३९५।।

अब, ग्रन्थ-निर्माण का काल निरूपित करते हैं —

अनुष्टुप् : **यदैव विक्रमातीताः, शतपंचदशाधिकाः।**
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः।।२३-३९६।।

जब पन्द्रह सौ साठ वर्ष, समाप्त विक्रम संवत्।
तब ज्ञानभूषण यति द्वारा, हुई है यह निर्मित।।३९६।।

अन्वयार्थ : यदा+एव=जब ही; **विक्रम+अतीताः**=विक्रम को गए हुए; **शत-पंच-दश+अधिकाः**=पन्द्रह सौ में अधिक; **षष्टिः**=साठ/१५६०; **संवत्सरा**=वर्ष; **जाता**=व्यतीत हो गए; **तदा**=तब; **इयं**=यह; **कृतिः**=रचना; **निर्मिता**=निर्मित हुई।।३९६।।

अर्थ : जिस समय विक्रम संवत् के पन्द्रह सौ साठ वर्ष (शक संवत् के चौदह सौ पच्चीस अथवा ख्रीष्ट संवत्/ईसवी सन् के पन्द्रह सौ तीन वर्ष) बीत चुके थे, उस समय इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणीरूपी कृति का निर्माण किया गया।।३९६।।

अब, ग्रन्थ के परिमाण का प्ररूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **ग्रन्थसंख्यात्र विज्ञेया, लेखकैः पाठकैः किल।**
षट्त्रिंशदधिका पंचशती श्रोतृ–जनै–रपि।।२४–३९७।।

बत्तीस अक्षरमय अनुष्टुप् छन्द के अनुसार है।
यह पाँच सौ छत्तीस संख्या, मात्र जानों ग्रन्थ है।।
कुल पद्य संख्या तीन सौ संतानवै अध्याय हैं।
कुल अठारह इस ग्रन्थ में, यह सभी जन ही जान लें।।३९७।।

अन्वयार्थ : लेखकैः=लेखक/प्रतिलिपीकार; **पाठकैः**=पढ़नेवालों; **श्रोतृ–जनैः**=सुननेवालों को; **अपि**=भी; **किल**=वास्तव में; **अत्र**=यहाँ; **ग्रंथ–संख्या**=ग्रन्थ की (श्लोक) संख्या; **षट्–त्रिंशत्+अधिका**=छत्तीस अधिक; **पंचशती**=पाँच सौ/५३६; जानना चाहिए।।३९७।।

अर्थ : इस ग्रन्थ की सब श्लोक संख्या पाँच सौ छत्तीस है; ऐसा लेखक, पाठक और श्रोताओं को समझ लेना चाहिए अर्थात् यह ग्रन्थ पाँच सौ छत्तीस श्लोकों में समाप्त हुआ है।।३९७।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण–विरचित तत्त्वज्ञान–तरंगिणी में ''शुद्ध–चिद्रूप की प्राप्ति का क्रम'' प्रतिपादन करनेवाला ३७४ से ३९७ पर्यंत २४ पद्यों–युक्त अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।।१८।।

संस्कृत पद्य वर्णानुक्रमणिका–विवरण

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
अ			
अछिन्नधारया भेद...	१७१	अनुष्टुप्	१२४
अतः स्वशुद्धचिद्रूप...	३३१	अनु०	२२४
अर्थान् यथास्थितान्...	३	अनु०	३
अधीत्य सर्वशास्त्राणि...	२९५	अनु०	२००
अधीतानि च शास्त्राणि...	११०	अनु०	८४
अधोलोकेन सर्वस्मिन्...	२३६	अनु०	१६३
अन्नाश्मागुरुनागफेन...	७४	शार्दूल	६१
अन्यदीया मदीयाश्च...	१८१	अनु०	१३०
अनिष्टान् खह्रदा...	४८	अनु०	४२
अनुभूत्या मया बुद्ध...	८३	अनु०	६८
अनुभूय मया ज्ञातं...	८१	अनु०	६६
अनंतानि कृतान्येव....	९६	अनु०	७७
अभव्ये शुद्ध–चिद्रूप...	५३	अनु०	४५
अमृतं च विशुद्धिः स्यात्...	२८३	अनु०	१९२
अयोगे मरणे कृत्वा...	३८५	अनु०	२६०
अवमौदर्यात् साध्यं...	३४५	आर्या	२३४
अवश्यं च परद्रव्यं...	३२३	अनु०	२१८
अविद्वानप्यहं विद्वान्...	२०५	अनु०	१४६
अशुद्धं कथ्यते स्वर्ण...	१४५	अनु०	१०७
अशुद्धं किल चिद्रूपं...	१३७	अनु०	१०२
अष्टधाचार–संयुक्तं....	२५६	अनु०	१७५
अष्टावंगानि योगस्य...	३७९	अनु०	२६१
अस्मिन्क्षेत्रेऽधुना...	२३९	अनु०	१६४
असावनेकरूपोऽपि...	१६	अनु०	१३
अहं भ्रांतः पूर्वं...	१९३	शिखरिणी	१३९
आ			
आजन्मयदनुभूतं...	६	आर्या	४
आत्मानं देहकर्माणि...	१७९	अनु०	१२८
आदेशोऽयं सद्गुरूणां...	२९०	शालिनी	१९५
आनंदो जायतेऽत्यंतः....	९१	अनु०	७२
आर्यखण्डभवा केचिद्...	२३८	अनु०	१६३
आरुह्य शुद्ध–चिद्रूप...	१४९	अनु०	१०९
इ			
इति हृत्कमले...	१२१	अनु०	९३
इंद्राणां सार्वभौमानां...	३७१	अनु०	२५२
इंद्रादीनां पदं...	९९	अनु०	७२
इंद्रियैश्च पदार्थानां...	३६९	अनु०	२५०
इन्दौर्वृद्धौ समुद्रः	३३५	स्रग्धरा	२२७
उ			
उत्तमं स्मरणं...	३४	अनु०	३२
उत्सर्पिण्यवसर्पण...	२४२	आर्या	१६५
उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं...	११७	स्रग्धरा	८९
उपायभूतमेवात्र...	६६	अनु०	५५
उपाया बहवः संति...	७०	अनु०	५७
ए			
एकेंद्रियादसंज्ञा...	२३३	अनु०	१६१
एकेंद्रियादिजीवेषु...	१०५	अनु०	८१
अं			
अंगस्यावयवैरंग...	६४	अनु०	५४
अंतश्चितः पुरः शुद्ध...	६९	अनु०	५६
अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे...	१९७	स्रग्धरा	१४१
क			
क्रमतः क्रमतो...	३९०	अनु०	२६२
क्रीडंति ये...	३९५	अनु०	२६५
क्व यांति कार्याणि...	२८	इंद्रवज्रा	२६
कथ्यते स्वर्णवत्...	१३	अनु०	१०
कर्मांगाखिलसंगे...	५६	अनु०	४७
कल्पेश–नागेश...	१९०	उपजाति	१३६
काचिच्चिंता...	३३९	शालिनी	२३०
कारणेन विना कार्यं...	१५२	अनु०	१९०
कारणं कर्मबंधस्य...	३२८	अनु०	२२२
किं करोमि क्व...	१८३	अनु०	१३१
किंचित्कदोत्तमं...	१२३	अनु०	९४
किं पर्यायैर्विभावैः....	३१५	स्रग्धरा	२१३
कीर्तिं वा पररंजनं...	१८९	शार्दूल–वि०	१३५
कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं...	२९२	स्रग्धरा	१९८

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
केचित्प्राप्य यशः...	१६४	शार्दूल–वि०	१२०
केचिद्राजादिवार्तां...	६१	स्रग्धरा	५१
कोऽसौ गुणोऽस्ति...	४०	वसंत–ति०	३५
ख			
खसुखं न सुखं....	३५७	आर्या	२४२
ग			
गृहिभ्यो दीयते...	३७५	अनु०	२५५
गृही यतिर्न...	२७९	अनु०	१८९
गृहं राज्यं मित्रं...	३१३	स्रग्धरा	२११
ग्रंथ–संख्यात्र...	३९७	अनु०	२६६
गणक–चिकित्सक...	२२६	आर्या	१५८
गुर्वादीनां च वाक्यानि...	३९१	अनु०	२६२
गौरश्वोऽजो गजो...	२११	अनु०	१४९
गौरश्वो गजो रा...	२१४	अनु०	१५०
च			
चक्रींद्रयोः सदसि...	५९	वसंत–ति०	४९
चलंति सन्मुनींद्राणां...	१३०	अनु०	९८
चित्तं निधाय...	२९३	अनु०	१९९
चिद्रूपच्छादको...	१७४	अनु०	१२५
चिद्रूपे केवले शुद्धे...	१२७	अनु०	९६
चिद्रूपेण च घाति...	३९	शार्दूल–वि०	३६
चिद्रूपे तारतम्येन...	१३८	अनु०	१०३
चिद्रूपोऽयमना...	१७	अनु०	१३
चिद्रूपोऽहं स मे...	१२६	अनु०	९६
चिद्रूपः केवलः शुद्धः...	६७	अनु०	५६
चिंतनं निरहंकारो...	२०८	अनु०	१४८
चिंताक्लेशकषाय...	१४०	शार्दूल–वि०	१०४
चिंता दुःखं...	३६६	अनु०	२४९
चेतनाचेतने...	१८४	अनु०	१३१
चंद्रार्कभ्रमवत्...	१२०	शार्दूल–वि०	९२
छ			
छेत्री सूचीक्रकच...	१५९	मंदाक्रांता	११५
ज			
जलद्यूतवन....	२२८	अनु०	१५९
जलाग्निरोग...	२३०	अनु०	१६०
जातः श्रीसकलादि...	३९४	शार्दूल–वि०	२६४
जानंति ग्रहिलं...	११६	शार्दूल–वि०	८८
जायते मनसः...	३५१	अनु०	२३७
जिनागमे प्रतीतिः...	१५४	अनु०	१११
जिनालयेषु सर्वेषु...	३८७	अनु०	२६०
जिनेशस्य स्नानात्...	४६	स्रग्धरा	४०
जिनेशागम...	३९२	अनु०	२६३
त			
त्यक्त्वा मां...	३२४	अनु०	२१९
तज्जये व्यवहारेण...	१८६	अनु०	१३२
तत्तस्य गतचिंता...	५७	अनु०	४७
तत्साधने सुखं...	७३	अनु०	६०
ततोऽपि दुर्लभो...	१६७	अनु०	१२१
तथा कुरु सदाभ्यासं...	३१०	अनु०	२०९
तथैव मिलितानां...	१७८	अनु०	१२७
तपस्विपात्रविद्वत्सु...	२४१	अनु०	१६५
तपसां बाह्यभूतानां...	३३८	अनु०	२३०
तया विना न...	३५२	अनु०	२३७
तस्मात् सैव...	२८७	अनु०	१९३
तस्माद्विविक्त...	३५३	अनु०	२३७
तात्त्विकं च सुखं...	३७२	अनु०	२५१
तावत्तिष्ठंति...	१६५	अनु०	१२१
तिष्ठंत्वेकत्र सर्वे...	४१	स्रग्धरा	३६
तीर्थतां भूपदैः....	४२	अनु०	३७
तीर्थेषूत्कृष्टतीर्थं....	२७	स्रग्धरा	२५
ते वंद्याः गुणिनः...	३४६	अनु०	२३५
तं चिद्रूपं निजात्मानं...	३३	अनु०	३१
तं स्मरन् लभते...	९२	अनु०	७३
द			
दृश्यंतेऽतीव....	१२२	अनु०	९३
दृश्यंते गंधना...	२४५	शार्दूल–वि०	१६७
दृश्यंते बहवो...	२३२	अनु०	१६१
दृष्टैः ज्ञातैः श्रुतैः...	१४	स्रग्धरा	११
द्रव्यादि पंचधा...	९८	अनु०	७७
द्रव्यं क्षेत्रं च....	७६	अनु०	६३
द्वादशांगं ततो....	३७	अनु०	३३
द्वाभ्यां दृग्भ्यां...	१५५	अनु०	१२२

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
दत्तो मानोपमानो...	१८२	अनु०	१३०
दर्शनज्ञानचारित्र...	२४९	अनु०	१७१
दिक्चेलैको हस्त...	३३२	शालिनी	२२४
दुर्गंधं मलभाजनं...	१८८	शार्दूल–वि०	१३४
दुर्गमा भोगभूः...	७२	अनु०	६०
दुर्लभोऽत्र जगत्...	१६६	अनु०	१२१
दुष्कराण्यपि...	११३	अनु०	८५
दूरभव्यस्य नो...	५४	अनु०	४५
देवं श्रुतं गुरुं...	४७	अनु०	४१
देशं राष्ट्रं पुराद्यं...	१६१	स्रग्धरा	११७
देहोऽहं कर्मरूपो....	२०४	अनु०	१४६
देहोऽहं मे स....	१८५	अनु०	१३२
ध			
ध्यानश्चैव...	३८०	अनु०	२५७
धर्मोद्धारविनाश....	१८७	शार्दूल–वि०	१३३
न			
नृस्त्रीतिर्यग्....	५८	स्रग्धरा	४८
न क्लेशो न धन...	७१	शार्दूलवि०	५९
न गुरुः शुद्ध...	१११	अनु०	८४
न चेतसा स्पर्शः...	१४२	उपजाति	१०६
न द्रव्येन न कालेन...	७७	अनु०	६४
न देहोऽहं न...	२०७	अनु०	१४८
न बद्धः परमार्थेन...	१९१	अनु०	१३७
न भक्तवृंदैर्न...	१४१	उपजाति	१०५
न यामि शुद्ध...	१३६	अनु०	१०२
नरलोकेऽपि ये...	२३६	अनु०	१६३
न लाभमान...	३९३	अनु०	२६३
न संपदि प्रमोदः...	३०८	अनु०	२०८
नात्मध्यानात्...	१६३	अनु०	११९
ना दुर्वर्णो विकर्णो...	३१	स्रग्धरा	२९
नास्रवो निर्ममत्वेन...	२२०	अनु०	१५३
नाहं किंचिन्न मे...	८०	अनु०	६६
निगोते गूथकीटे...	३६०	स्रग्धरा	२४५
निधानानां प्राप्तिः...	३०	स्रग्धरा	२८
निर्जनं सुखदं...	३४७	अनु०	२३५
निर्द्रव्यं स्ववश...	३५५	शार्दूल–वि०	२४०
निर्ममत्वाय न क्लेशो...	२१९	अनु०	१५३
निर्ममत्वे तपोऽपि...	२१८	अनु०	१५२
निर्ममत्वेन चिद्रूप...	२१२	अनु०	१५०
निर्ममत्वं परं तत्त्वं...	२१६	अनु०	१५१
निरंतरमहंकार...	२०३	अनु०	१४६
निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात्...	२५९	अनु०	१७७
निश्चयव्यवहारा...	२५०	अनु०	१७१
निश्चयं क्व....	१५६	अनु०	११३
निश्चलोंऽगी यदा...	१३५	अनु०	१०१
निश्चलः परिणामो...	१२८	अनु०	९७
नीहाराहारपानं....	२९१	अनु०	१९७
नो दृक्नोधीर्न...	९	स्रग्धरा	७
नो द्रव्यात्कीर्तितः...	३५८	स्रग्धरा	२४३
प			
प्रणम्य शुद्धचिद्रूप....	१	अनु०	१
प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति....	२३१	अनु०	१६०
प्रादुर्भवंति...	३२९	अनु०	२२३
प्रोद्यन्मोहाद् यथा...	८७	अनु०	७०
पठने गमने...	२७५	अनु०	१८७
पदस्थादिकम....	२९६	अनु०	२००
परद्रव्यं त्यज...	३२७	अनु०	२२२
परमात्मा परं ब्रम्ह...	७८	अनु०	६४
पश्यत्यवैति विश्वं...	२	आर्या	२
पापानि प्रलयं...	२९७	अनु०	२००
पार्श्ववर्त्यंगि...	३२४	अनु०	२१९
पुरे ग्रामेऽटव्यां...	३५९	शिखरिणी	२४४
पुस्तकैर्यत्परि....	३२५	अनु०	२२०
पूर्वं मया कृता...	९५	अनु०	७६
पूर्वं या विहिता...	११४	शार्दूल–वि०	८६
पंचमादिगुण...	२४४	अनु०	१६६
पंचाक्षसंज्ञि....	२३४	अनु०	१६१
ब			
बहिश्चितः पुरः...	६८	अनु०	५६
बहून् वारान्...	३६३	अनु०	२४७
बाह्यसंगतिसंगस्य...	३४३	अनु०	२३३
बाह्यसंगतिसंगेन....	३४४	अनु०	२३३

पद्य-वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
बाह्यांतः संग...	१२४	स्रग्धरा	९४
बाह्यांतरन्य-सं...	१४७	अनु०	१०८
बीजं मोक्षतरो...	२२	शार्दूल-वि०	२०
बुभुक्षया च...	३०५	अनु०	२०७
भ			
भवकूपे महा...	२००	अनु०	१४३
भावान्मुक्तो....	३८१	अनु०	२५८
भूमिगृहे....	३४९	अनु०	२३६
भेदविज्ञाननेत्रेण...	१७६	अनु०	१२६
भेदज्ञानबलात्...	१८०	अनु०	१२९
भेदज्ञानं प्रदीपो...	१७५	अनु०	१२६
भेदज्ञानं विना...	५५	अनु०	४६
भेदो विधीयते...	१६८	अनु०	१२२
भोजनं क्रोधलोभादि...	३१२	अनु०	२०९
म			
मृत्पिण्डेन विना...	२१	शार्दूल-वि०	१९
मग्ना ये शुद्ध...	४४	अनुष्टुप्	३८
मध्ये चतुर्गतीनां	१००	अनु०	७८
मध्ये श्रुताब्धेः...	७९	उपजाति	६५
ममत्वं ये प्रकु...	२०९	अनु०	१४८
ममेति चिंतनाद्...	२१५	अनु०	१५१
मया निःशेषशा....	१०१	अनु०	७९
महाव्रतधरा....	२४०	अनु०	१६४
मानुष्यं बहुशो....	१०३	अनु०	८०
मिथ्यात्वादिगुण....	२४३	अनु०	१६६
मिथ्यात्वेऽविरते...	३८४	अनु०	२५९
मिलितानेक...	१७७	अनु०	१२७
मुक्ताविद्रुम...	३५४	अनु०	२३९
मुक्ते बाह्ये....	३६८	अनु०	२५०
मुनीश्वरैस्तथा....	१३१	अनु०	९९
मुंच सर्वाणि....	३६७	अनु०	२४९
मुंचेत् समाश्रयेत्...	४९	अनु०	४२
मूलोत्तरगुणानां...	२६०	अनु०	१७७
मेरुः कल्पतरुः...	२९	शार्दूल-वि०	२७
मोह एव परं...	१९९	अनु०	१४३
मोहं तज्जात...	२०२	अनु०	१४५
मोक्षस्वर्गार्थि....	१३९	अनु०	१०३
य			
यतिभ्यो दीयते...	३७६	अनु०	२५५
यथाबलाहक...	३००	अनु०	२०३
यदि चिद्रूपेऽनुभवो...	२५८	आर्या	१७६
यदि चिद्रूपे शुद्धे....	२६८	आर्या	१८२
यदि शुद्धं चिद्रूपं...	२५४	आर्या	१७४
यदैव विक्रमा...	३९६	अनुष्टुप्	२६५
याता यांति च...	१५१	अनु०	११०
याता ये यांति...	२१७	अनु०	१५२
यावद्बाह्यान्त....	२८८	अनु०	१९४
यावन्मोहो बली....	१९६	अनु०	१४१
युक्तं तथान्य...	१४६	अनु०	१०७
युगपज्जायते...	३७८	अनु०	२५६
ये चैत्यालय...	२२५	शार्दूल-वि०	१५७
ये नरा निरहं...	२०६	अनु०	१४७
येनोपायेन सं....	२७०	अनु०	१८३
ये याता यांति यास्यंति, निर्वृत्तिं..	१३४	अनु०	१००
ये याता यांति यास्यंति, योगिनः..	३६	अनु०	३३
यो रागादि....	३७०	अनु०	२५०
र			
रत्नत्रयाद्विना...	२४८	अनु०	१७०
रत्नत्रयोप...	२४६	अनु०	१६९
रत्नत्रयं किल...	२६५	अनु०	१८०
रत्नत्रयं परं...	२६६	अनु०	१८०
रत्नानामौषधी....	९४	स्रग्धरा	७५
रम्यं वल्कल....	६०	शार्दूल-वि०	५०
रवेः सुधायाः....	३६५	उपेन्द्रवज्रा	२४८
रागद्वेषादयो....	२२२	अनु०	१५४
रागद्वेषादिजं...	९०	अनु०	७२
रागद्वेषौ न....	३०७	अनु०	२०८
रागाद्या न विधा...	१२५	अनु०	९५
रागादिलक्षणः....	२६९	अनु०	१८२
रागादिविक्रियां...	२७२	अनु०	१८४
राज्ञो ज्ञातेश्च...	२७४	स्रग्धरा	१८६
रेणूनां कर्मणः	३२	अनु०	३१

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
रैगोभार्याः	३१७	स्रग्धरा	२१५
रोगेण पीडितो...	३०४	अनु०	२०६
रंजने परिणामः....	३२०	अनु०	२१७
ल			
लब्धा वस्तु....	१७३	अनु०	१२५
लोकस्य चात्मनो	३१९	अनुष्टुप	२१६
लोकज्ञातिश्रुत....	१०७	मंदाक्रांता	८२
व			
वृद्धसेवाकृता...	१०२	अनु०	७९
वृद्धिं यात्येधसो...	३३६	अनु०	२२८
वृश्चिका युगपत्....	३४२	अनु०	२३२
व्यक्ताव्यक्त...	११५	अनु०	८७
व्यवहाराद्बहिः...	१५७	अनु०	११३
व्यवहारं विना....	१५४	अनु०	१११
व्यवहारं समा...	१४३	अनु०	१०६
व्याकुलः सवि....	३६२	अनु०	२४७
व्रतानि शास्त्राणि....	३०१	उपजाति	२०४
व्रतं शीलं श्रुतं....	२६	स्रग्धरा	२४
वदन्नन्यैर्हसन्...	३११	अनु०	२०९
वपुषां कर्मणां...	२७८	अनु०	१८९
वर्धते च यथा...	२९९	अनु०	२०३
वाचांगेन हृदा...	६२	अनु०	५३
वार्वाताग्न्य...	२९८	शार्दूल–वि०	२०२
विक्रियाभिर...	१५	अनु०	१२
विकल्प–जाल...	८२	अनु०	६७
विकल्प–परि...	३४१	अनु०	२३२
विकल्पः स्याज्जी...	३३७	शिखरिणी	२२९
विचार्येत्थमहं...	२२३	अनु०	१५५
विना रत्नत्रयं...	२४७	अनु०	१६९
विपर्यस्तो मोहा...	२७३	शिखरिणी	१८५
विमुच्य रागादि...	३७३	वंशस्थ	२५२
विमुच्य शुद्ध...	८८	अनु०	७१
विविक्तस्थानका...	३५०	अनु०	२३७
विशुद्धि–नाव...	२८९	अनु०	१९५
विशुद्धि–सेवना...	२८४	अनु०	१९२
विशुद्धेश्चित्...	२८५	अनु०	१९३
विशुद्धं वसनं...	२६८	अनु०	१८२
विशुद्धिः परमो...	२८६	अनु०	१९३
विशुद्धिः शुद्ध...	२८२	अनु०	१९१
विषयानुभवे...	८९	अनु०	७१
विस्फुरेन्मानसे...	८५	अनु०	६८
विहितो विविधो...	१०९	अनु०	८३
वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य...	२९४	अनु०	२००
श			
श्रद्धानं दर्शनं...	२५१	अनु०	१७२
श्रद्धानां पुस्तकानां...	१९२	स्रग्धरा	१३८
श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा...	३७४	स्रग्धरा	२५४
श्रुतमागमात्...	७	आर्या	५
शांताः पाण्डित्य...	२२४	स्रग्धरा	१५६
शापं वा कलयंति...	११९	शार्दूल–वि०	९१
शास्त्राद् गुरोः...	३२२	अनु०	२१८
शीतकाले नदी....	१०८	अनु०	८३
शुद्ध–चिद्रूपकस्यांशो...	२७६	अनु०	१८८
शुद्ध–चिद्रूपके रक्तः...	३०२	अनु०	२०५
शुद्ध–चिद्रूपके लब्धे...	२७७	अनु०	१८८
शुद्ध–चिद्रूपरूपो...	२०	स्रग्धरा	१७
शुद्ध–चिद्रूपसदृशं...	३५	अनु०	३२
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यान...	१५०	अनु०	११०
शुद्ध... ध्यानपर्वतारोह...	१४८	अनु०	१०९
शुद्ध... ध्यानबलात्...	३८८	अनु०	२६०
शुद्ध... ध्यानभानु...	५२	अनु०	४४
शुद्ध... ध्यानहेतु...	६३	अनु०	५३
शुद्ध... ध्यानाद्गुणाः	३८	अनु०	३४
शुद्ध... ध्यानादन्यत्...	२०१	अनु०	१४४
शुद्ध... ध्यानं कृत्वा...	३८६	अनु०	२६०
शुद्धचिद्रूप–संप्राप्तिर्दुर्गमा...	९३	अनु०	७३
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नया...	१५८	अनु०	११४
शुद्ध–चिद्रूपसंलीनाः...	२३५	अनु०	१६२
शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य...	४३	अनु०	३७
शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे....	२६३	अनु०	१७९

पद्य-वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
शुभाशुभानि कर्माणि न मे...	२१३	अनु०	१५०
शुभाशुभानि कर्माणि मम...	२१०	अनु०	१४९
शून्याशून्य...	१८	शालिनी	१४
शौचसंयमशीलानि...	१०४	अनु०	८०
स			
स्पर्शरसगंधवर्णैः....	४	आर्या	४
स्मृत्या दृष्टनगा...	७५	शार्दूल-वि०	६२
स्मृतिमेति यतो...	८४	अनु०	६८
स्मृतेः पर्याया...	११	स्रग्धरा	९
स्मरंति पर...	१९८	अनुष्टुप्	१४२
स्मरन् स्वशुद्ध...	३०३	अनु०	२०६
स्वकीये शुद्ध...	२५३	अनु०	१७३
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेद...	१६९	अनु०	१२३
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न...	३०९	अनु०	२०८
स्वर्णपाषाण...	१६०	स्रग्धरा	११६
स्वर्णैर्रत्नैः कलत्रैः...	३२६	स्रग्धरा	२२१
स्वर्णैर्रत्नैर्गृहैः...	३१६	स्रग्धरा	२१४
स्वल्पकार्यकृतौ...	५१	अनु०	४३
स्वशुद्धचिद्रूप....	२६७	उपजाति	१८१
स्वस्वरूपपरि....	२५७	अनु०	१७५
स्वात्मध्याना...	१६२	अनु०	११८
स्वाधीनं च सुखं...	१९५	अनु०	१४०
स्त्रीणां भर्ता...	११८	स्रग्धरा	९०
स कोऽपि परमा...	२४	अनु०	२३
सचेतने शुभे...	११२	अनु०	८५
सत्पूज्यानां...	२७१	मंदाक्रांता	१८३
सता वस्तूनि सर्वा...	२५२	अनु०	१७२
सद्दृष्टिर्ज्ञान...	२२१	अनु०	१५४
सद्बुद्धेः पर...	३३३	शार्दूल-वि०	२२६
सदा परिणति...	१२९	अनु०	९८
सप्तधातुमयं...	४५	अनु०	३९
सप्तानां धातूनां...	५	आर्या	४
समस्त-कर्म...	३३०	अनु०	२२३
सयोगक्षीणमिश्रे....	३८३	अनु०	२५९
सर्वेषामपि कार्या...	८६	अनु०	६९

पद्य-वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
साक्षाच्च शुद्ध...	३८९	अनु०	२६१
सिंहसर्पगजव्या...	२२९	अनु०	१५९
सुखे दुःखे महा...	१३२	अनु०	९९
सुतादौ भार्या...	३१४	शिखरिणी	२१२
सुधाया लक्षणं...	३४८	अनु०	२३६
सुरद्रुमानिधानानि....	९७	अनु०	७७
सुरूपबललावण्य...	२२७	अनु०	१५८
सौख्यं मोहजयो...	२५	शार्दूल-वि०	२३
संक्लेशस्य...	२८०	अनु०	१९०
संक्लेशे कर्मणां...	२८१	अनु०	१९०
संगत्यागो निर्जन...	३४०	शालिनी	२३१
संगं मुक्त्वा...	२६१	अनु०	१७८
संगं विमुच्य....	५०	अनु०	४३
संपर्कात् कर्मणो....	१४४	अनु०	१०७
संयोग-विप्रयोगौ...	३२१	अनु०	२१७
संवरो निर्जरा...	१७२	अनु०	१२४
संसार-भीतितः....	३७७	अनु०	२५६
ह			
हर्षो न जायते...	३०६	अनु०	२०७
हित्वा यः शुद्ध....	१९४	अनु०	१४०
हंस! स्मरसि....	३१८	अनु०	२१६
क्ष			
क्षणे क्षणे विमु....	३८२	अनु०	२५८
क्षयं नयति भेदज्ञः...	१७०	अनु०	१२३
क्षुत्तृट्रुग्वात....	२३	स्रग्धरा	२१
ज्ञ			
ज्ञप्त्या दृक्चिदिति...	१२	अनु०	१०
ज्ञप्त्या दृष्ट्या युतं....	२६२	अनु०	१७८
ज्ञात्वाष्टांगानि....	२५५	अनु०	१७४
ज्ञातं दृष्टं मया...	१०६	अनु०	८१
ज्ञेयज्ञानं सरागेण...	३६४	अनु०	२४८
ज्ञेयावलोकनं...	३६१	अनु०	२४६
ज्ञेये दृश्ये यथा...	६५	अनु०	५५
ज्ञेयो दृश्योऽपि	१०	आर्या	८
ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं	१९	स्रग्धरा	१५